त-शा

--सत्यव्रत
--चन्द्रावती

इन्टरमीजियेट के 'शिक्षा' के विद्यार्थियों के लिये निर्धारित पुस्तक

शिक्षा-शास्त्र

[सिद्धांत, विधि, विधान तथा इतिहास]

Theory & Practice of Education

EMBODYING PRINCIPLES, METHODS, ORGANISATION AND HISTORY OF EDUCATION IN INDIA.

भूमिका-लेखक

माननीय श्री सम्पूर्णानन्द जी

ग्रन्थ-लेखक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आचार्या चन्द्रावती लखनपाल

एम० ए०, बी० टी० (एम० पी०)

'विद्या-विहार', ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

[संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण]

१९५५]

Rs 8 - P 00.

[मूल्य आठ रुपया

प्रकाशक तथा ग्रन्थ मिलने का पता—
विजयकृष्ण लखनपाल
विद्या-विहार,
४-बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून ।

मुद्रक—
न्यू इंडिया प्रेस
कनॉट सर्कस
नई दिल्ली

संस्कृति पर सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ

२. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

पुस्तक पर कुछ सम्मतियाँ

१—'दैनिक हिन्दुस्तान' लिखता है—"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिये। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन् से टक्कर लेती है।

२—'नव-भारत-टाइम्स' लिखता है—लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।

३—'आर्य' लिखता है—इस ग्रन्थ के विषय में निस्संकोच कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों इसका स्थान साहित्य में बढ़ता जायगा।

पृष्ठ संख्या २७०, सजिल्द, मूल्य : चार रुपया

उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा एक हज़ार पारितोषिक-प्राप्त

३. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने इस पुस्तक को 'समाज-शास्त्र' की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर इस पर एक हजार पारितोषिक देकर लेखक को सम्मानित किया है। बी० ए० तथा एम० ए० के विद्यार्थियों के लिये 'समाज-शास्त्र' (Sociology) पर लिखी गई पुस्तकों में सरकार ने इस पुस्तक को सर्व-प्रथम स्थान दिया है।

पृष्ठ संख्या ५००, कपड़े की सुन्दर जिल्द, मूल्य : दस रुपया।

४. ब्रह्मचर्य-सन्देश

लखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नव-युवकों को 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषय पर, सरल-सुन्दर भाषा में जो कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गवासी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक रूप देने के लिये गुरुकुलों की स्थापना का विचार देश के सामने रखा था। ऐसे महा-पुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसीलिये लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तक के महत्व को देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक के चार संस्करण हो चुके हैं। पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतंत्र अनुवाद हो चुके हैं।

खंडवा का 'कर्मवीर'–पत्र लिखता है:—"इस विषय पर हिन्दी में सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।"

दिल्ली का 'अर्जुन' लिखता है:—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथ में यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की 'माधुरी' लिखती है:—"भाषा परिमार्जित और वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञान-वेत्ता सांसारिक तत्व-विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं, उन सब में यह बढ़िया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य साढ़े चार रुपया।

सेकसरिया-पुरस्कार-प्राप्त-ग्रन्थ

५. स्त्रियों की स्थिति

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल, एम. ए., बी. टी. (एम. पी.)

इस पुस्तक की लेखिका को इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर ५०० रुपये का सेकसरिया पारितोषिक देकर सम्मानित किया था। इस पुस्तक में स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नों पर बिल्कुल मौलिक ढंग से विचार किया गया है। पुस्तक की लेखन-शैली में एक प्रवाह है, विचार-धारा अखंड बह रही है, ऐसा प्रवाह और ऐसी अखंड विचार-धारा जो कम साहित्यिक पुस्तकों में देखने में आती है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को, और भाई अपनी बहन को भेंट दे, तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती।

सजिल्द पुस्तक का मूल्य : साढ़े तीन रुपया।

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त

६. शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम. ए., बी. टी., (एम. पी.)

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दी में सर्वोत्तम पुस्तक है। इस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अलाहाबाद ने १२०० रुपये का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया था। काशी-विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग कालेज के उस समय के प्रिन्सिपल, जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, रायबहादुर लज्जाशंकर झा ने इस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा था कि चन्द्रावती जी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की भारी सेवा तो की ही है, साथ ही ट्रेनिंग कालेज को तो वरतंतु के शिष्य के समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।

इस पुस्तक में ४० के लगभग चित्र दिये गये हैं। इन्टरमीजियेट के 'शिक्षा' तथा 'शिक्षा-मनोविज्ञान' के विषय को जितना इस पुस्तक में खोल कर समझाया गया है उतना अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। नार्मल स्कूलों के लिये भी इस ग्रन्थ से अच्छा कोई ग्रन्थ नहीं है। बी० टी० तक के छात्रों के लिये इस ग्रन्थ की उपयोगिता मान ली गई है।

पृष्ठ संख्या ५००, सजिल्द पुस्तक का दाम पांच रुपया।

७. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण

SOCIOLOGY AND CHILD-WELFARE

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

'समाज-शास्त्र' एक ऐसा विषय है जो दिनोंदिन बढ़ रहा है। अभी तक यह विषय बी० ए० तथा एम० ए० में पढ़ाया जाता था, अब इन्टरमीजियेट-कक्षाओं में भी इस विषय का समावेश कर दिया गया है। इन्टरमीजियेट की छात्राओं के लिए 'गृह-विज्ञान' (Home Science) नाम से जो विषय रखा गया है उसमें एक पर्चा 'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण' (Sociology and Child-Welfare) का है। इस विषय पर अभी तक कोई पुस्तक नहीं थी। अब १९५५ में श्री प्रो० सत्यव्रतजी ने इस सारे विषय को बड़े उत्तम ढंग से लिखा है। पुस्तक में कोर्स के सब विषयों का बड़ा रोचक तथा सरल वर्णन है। यह पुस्तक इन्टर के गृह-विज्ञान के एक पूरे पर्चे को लेकर लिखी गई है। बी० ए० तथा एम० ए० के 'समाज-मनोविज्ञान' (Social Psychology) के छात्रों के लिए भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। मूल्य ४)

उक्त सभी पुस्तकों के मंगाने का पता—

विजयकृष्ण लखनपाल

विद्या-विहार, ४ बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

भूमिका

[लेखक—श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी]

इस पुस्तक में 'शिक्षा-शास्त्र' से सम्बन्ध रखने वाले कई सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है। आज शिक्षा प्रसार बड़े वेग से हो रहा है। सहस्रों व्यक्ति छोटे-बड़े विद्यालयों में पढ़ाने का काम कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में स्वभावतः शिक्षण के व्यावहारिक अंगों को अधिक प्रधानता मिल जाती है। स्कूल का टाइम टेबल कैसे बनाया जाय, पाठ्य-क्रम क्या हो, किस विषय के पढ़ाने की सबसे सरल और वैज्ञानिक रीति क्या है, कमरे कैसे और कितने बड़े बनाये जाँय, अनुशासन कैसे रक्खा जाय, और रुपया कहाँ से लाया जाय—इन प्रश्नों के निबटारे में सारा समय चला जाता है, न सरकार और न शिक्षक को दूसरी बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिलता है। इन प्रश्नों को टाला भी नहीं जा सकता क्योंकि यदि इनका कुछ-न-कुछ उत्तर न हो, तो विद्यालय चल ही नहीं सकते।

परन्तु सैद्धान्तिक प्रश्नों को भी भुलाया नहीं जा सकता। कभी-न-कभी प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठता होगा—यह-सब क्यों? हम परीक्षा तो लेते हैं, पर क्या सचमुच परीक्षा से प्रतिभा का पता चलता है? एक व्यक्ति गणित में दूसरे डिवीयन

में उत्तीर्ण होता है, और दूसरा फ़ारसी में प्रथम डिवीयन में, तो क्या उसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि फ़ारसी लेने वाला छात्र अधिक मेधावी है ? यदि परीक्षा से प्रतिभा की परख नहीं होती, तो फिर वह किस चीज़ की परिचायक है ? हम विभिन्न विषय पढ़ाते तो हैं, पर क्यों ? पढ़ कर क्या होगा ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान बढ़ता है, तो उस ज्ञान से क्या लाभ जिसका परिणाम आये-दिन का महायुद्ध, भीषण-नरसंहार, निरन्तर अशान्ति हो ? क्या ज्ञान इसीलिए उपार्जित किया जाय कि मनुष्य अपना सामूहिक आत्मघात कर ले, या संस्कृति और सभ्यता का नाम मिटा दे ? यदि पढ़ने का उद्देश्य सफलता से जीवन निर्वाह है, तो सफलता किसे कहते हैं ? दूसरों की मुँह की रोटी छीन कर खा लेना ही सफलता है ? यदि यही बात है, तो इसके लिए विश्वविद्यालय और पाठशाला की क्या आवश्यकता है ? यह काम तो पोथी की अपेक्षा लाठी से अच्छा सध सकता है।

शिक्षा का दायित्व बहुत बड़ा है, परन्तु वह उस दायित्व को तभी पूरा कर सकता है जब अपने काम की तात्विक गहराई तक डूबा जाय। प्रस्तुत पुस्तक में न तो सब सैद्धान्तिक प्रश्नों का उत्थापन किया है, न सब का विवेचन, न सब शंकाओं के निराकरण का प्रयास किया गया है—इससे पुस्तक का कलेवर बहुत बढ़ जाता, परन्तु मुख्य-मुख्य प्रश्नों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। जो विचारशील हैं उनको इसमें दूसरे विचारकों के मतों का कुछ आभास मिलेगा, और अधिक मनन और अध्ययन के लिए प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

शिक्षा की समस्या स्वतंत्र समस्या नहीं है। उसको सुलझाने के पहिले हमको यह निश्चित करना होगा कि मानव-जीवन का पुरुषार्थ, परम-लक्ष्य क्या है। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक—हमारे सभी सवाल इससे सम्बद्ध हैं। कोई संगठन, कोई शिक्षा, कोई विधान, कोई व्यवस्था स्वयं साध्य नहीं हो सकती, वह साधन-मात्र हो सकती है। साध्य के स्थिर हो जाने के बाद ही साधन स्थिर हो सकता है। 'शिक्षा के उद्देश्य' पुस्तक का प्रथम अध्याय है। इन उद्देश्यों का समर्थन विख्यात शिक्षा-शास्त्रियों ने किया है, परन्तु शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्य से भिन्न नहीं हो सकते, अतः पुरुषार्थ का स्वरूप निरूपण करना होगा। भारतीय विद्वानों ने 'मोक्ष' को परम-पुरुषार्थ माना है, और उससे उतर कर 'धर्म' को। 'अर्थ और 'काम' तो कीट-पतंग के सामने भी अव्यक्त-रूप से रहते हैं। यदि यह बात मान ली जाय, तो फिर शिक्षा के सभी उपकरणों को तद्रूप करना होगा। यदि जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, और शिक्षा का लक्ष्य व्यक्ति को मोक्ष-साधन के योग्य बनाना है, तो फिर यह भी तय करना होगा कि बन्धन क्या है, बद्ध कौन है और कितना है, बन्ध कैसे ढीला किया जाय? यह विषय तो अध्यात्म-शास्त्र, वेदान्त का प्रतीत होता है, परन्तु अध्यात्म-शास्त्र तो सभी शास्त्रों का मूल है। हम किसी बाहरी उपाय से लोगों को योगी, ब्रह्मज्ञानी नहीं बना सकते, परन्तु ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं जिसमें जीवन-संघर्ष—'स्ट्रगल फौर एग्ज़िस्टेन्स'—की जगह सहयोग को दी जाय, और पदे-पदे 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' के अनुसार काम करना

पड़े। यदि बच्चे के अन्तःकरण पर आरम्भ से ही अभेद भावना बैठाने का यत्न किया जाय, तो समाज का स्वरूप बदल जाय। जो वस्तुतः भिन्न हों उनको अभिन्न बनाना शिक्षक की शक्ति के बाहर है, परन्तु अभिन्नों पर से भेद के परदे को हटाने का यत्न किया जा सकता है।

आज शिक्षक दूसरों का सेवक-मात्र है। उससे जो कहा जाता है वह पढ़ा देता है, परन्तु यदि वह मनुष्य-जीवन के पुरुषार्थ को पहिचाने, और अपने उद्योग को तदनुरूप बनावे. तो फिर वह समाज का निर्माता बन सकता है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक के पढ़ने वाले उन प्रश्नों पर मनन करेंगे जिनकी ओर इसमें संकेत किया गया है।

——सम्पूर्णानन्द

लेखकों के दो शब्द

अब तक भारत की शिक्षा अंग्रेज़ों के दृष्टिकोण से चलती रही। अंग्रेज़ों ने शिक्षा का उद्देश्य अपना राज चलाना रखा, भारतीयों को शिक्षित करना नहीं। अब स्थिति बदली हुई है। स्वराज्य प्राप्ति के बाद से शिक्षा के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि-कोण जागने लगा है। इस समय यह आवश्यक हो गया है कि शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ-जहाँ भी, जो-जो भी नवीन परीक्षण हो रहे हैं, उन सब से लाभ उठाकर भारत के भावी नागरिकों का निर्माण किया जाय ताकि इस राष्ट्र की नींव सुदृढ़ बने। इसी दृष्टि से 'शिक्षा-शास्त्र' ग्रन्थ का निर्माण किया गया है, और शिक्षा के सम्बन्ध में जो भी नये-नये सिद्धांत तथा परीक्षण हो रहे हैं उन सबका इसमें संक्षेप से वर्णन किया गया है।

भारत-सरकार के शिक्षा-विभाग की तरफ़ से सर राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में जो 'यूनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त हुआ था उसकी रिपोर्ट १९४९ में भारत-सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर दी गई थी। इसके बाद श्री मुदलियार की अध्यक्षता में 'सैकेंडरी एज्यूकेशन कमीशन' बना। उसकी रिपोर्ट भी भारत सरकार के सम्मुख आ गई। इन दोनों रिपोर्टों में अन्य सुधारों के साथ-साथ परीक्षाओं के सम्बन्ध में उन सुधारों पर विशेष बल दिया गया है जिनका हमने प्रस्तुत पुस्तक में उल्लेख किया है। भारत में परीक्षाएँ नौकरी प्राप्त करने का एक साधन बनी हुई हैं, इसलिए हर-एक व्यक्ति, भले ही वह उच्च-शिक्षा न प्राप्त कर सकता हो, रट कर, नकल करके, चोरी करके, या सिफ़ारिश कराकर डिग्री प्राप्त करना चाहता है। परीक्षाओं का ढंग भी ऐसा बना हुआ है कि मूर्ख-से-मूर्ख विद्यार्थी भी भाग्य के सहारे ऊपर चढ़ जाता है, और अच्छे-

से-अच्छा भाग्य की ठोकर खाकर लुढ़क जाता है। इसीलिए प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के स्थान में, जिसमें विद्यार्थियों से पोथे-के-पोथे लिखाये जाते हैं, 'पदार्थ-परीक्षा' (Objective tests) की दोनों रिपोर्टों में सिफारिश की गई है। इन प्रश्नों के बनाने में परीक्षक को अवश्य कठिनाई होती है, परन्तु १००-२०० प्रश्नों का उत्तर हाँ-ना या निशान लगाकर विद्यार्थी तीन घंटे के स्थान पर आधे घंटे में दे सकता है, परीक्षा-फल में भाग्य को कोई स्थान नहीं रहता। हमें प्रसन्नता है कि विद्यार्थियों के विषय में हमने जो कुछ लिखा है, 'यूनीवर्सिटी-कमीशन' तथा 'मुदलियार-रिपोर्ट' का भी ध्यान उधर गया है।

अब समय आ गया है जब कि भारतीय-शिक्षा को भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढालना आवश्यक हो गया है। हमारे बालक अब तक शेक्सपियर और मिल्टन के विषय में सब-कुछ जानते थे, कालिदास तथा भवभूति के विषय में कुछ नहीं जानते थे। यह अवस्था बदलनी होगी। भारतीय-शिक्षा की पृष्ठ-भूमि में भारतीयता को लाना होगा, हाँ, उसके साथ-साथ शिक्षा-जगत् में उठ रहे नवीन विचारों को भी अपनाना होगा। हमने यह समझते हुए कि स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के क्षेत्र में अवश्य उथल-पुथल मचेगी, पुराने तथा नये शिक्षा के सिद्धांतों की ढूंढ होगी, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के आश्रमों में क्या होता था, पैस्टेलोज़ी, फ्रिबल तथा मान्टीसरी क्या कहते हैं—यह सब जानने की उत्सुकता उत्पन्न होगी—इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। हमें आशा है कि यह ग्रन्थ शिक्षा-जगत् में, विशेषकर इस समय जबकि हम जो-कुछ चाहें उसे लेने और जो-कुछ चाहें उसे छोड़ने में स्वतन्त्र हैं, अपना एक विशेष स्थान रखेगा।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार
—चन्द्रावती लखनपाल

विषय-सूची

विधान (ORGANISATION)

इतिहास (HISTORY OF EDUCATION)

चित्र-सूची

इस नवीन संस्करण में जगह-जगह जो चित्र दिये गये हैं उनकी सूची निम्न प्रकार है :—

१

'शिक्षा' तथा 'अध्ययन'

(EDUCATION AND INSTRUCTION)

'शिक्षा' मनुष्य का प्रगतिशील तथा सर्वांगपूर्ण विकास है—

'शिक्षा' एक विस्तृत शब्द है। शिक्षा को मनोविज्ञान के साथ जोड़नेवाले स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पैस्टेलौज़ी का कथन था कि शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के 'प्रगतिशील' और 'सर्वांगपूर्ण' विकास का नाम है। जब से बालक उत्पन्न होता है तब से जीवन की अन्तिम घड़ियों तक वह कुछ सीखता ही रहता है। बालक घर में अपने साथ के दूसरे बालकों से सीखता है, माता-पिता से सीखता है, स्कूल में अध्यापकों से सीखता है, पढ़ना-लिखना समाप्त कर चुकने के बाद समाज में जहाँ रहता है वहाँ भी सीखता ही रहता है। जन्म-भर वह सीखता है। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का 'प्रगतिशील विकास' है। जिसके विकास में प्रगति नहीं है, जो जहाँ-का-तहाँ खड़ा है, वह शिक्षा से लाभ लेना छोड़ देता है। 'प्रगति' के साथ

पैस्टेलौज़ी
(१७४६-१८२७)

शिक्षा का 'सर्वांगपूर्ण' होना भी आवश्यक है। एक व्यक्ति पढ़ने-लिखने में दिन-रात रमा रहता है, उसे आटे-दाल के भाव का कुछ पता नहीं होता, दूसरा आटे-दाल की ही चर्चा करता है, उसे पढ़ने-लिखने की किसी बात का ज्ञान नहीं होता। दोनों की शिक्षा एकाँगी शिक्षा है, सर्वांगपूर्ण नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है कि जीवन भर कुछ-न-कुछ सीखता रहे, कहीं अटक न जाय, आगे-ही-आगे बढ़ता रहे, परन्तु आगे बढ़ने के साथ-साथ चारों तरफ़ भी देखता रहे, अपने को सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न करे।

शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पहलू—

इसी दृष्टि से 'शिक्षा' एक ऐसी 'प्रक्रिया' (Process) का नाम है जो जीवन भर चलती रहती है। शिक्षा का प्रारम्भ बचपन से होता है, इसकी समाप्ति मृत्यु से होती है। इस सम्पूर्ण जीवन में मनुष्य का विकास दो बातों पर निर्भर रहता है—उसका अपना 'व्यक्तित्व' और 'समाज'। बालक कैसा है, उसके पैतृक-संस्कार कैसे हैं, उसके अन्दर क्या-क्या शक्तियाँ हैं, क्या-क्या भावनाएं हैं? इन शक्तियों और भावनाओं को समझ कर उसके विकास में सहायता देना शिक्षक का काम है। यह बालक के विकास का 'मनोवैज्ञानिक-पहलू' (Hereditary or Psychological side) है। इसके अतिरिक्त उसके विकास पर उसकी परिस्थिति का भी बड़ा भारी असर पड़ता है। किन साथियों के सम्पर्क में वह आता है, साथी अच्छे हैं, या बुरे हैं, उसके चारों तरफ़ का समाज कैसा है? इन परिस्थितियों का बालक के विकास पर कम प्रभाव नहीं पड़ता। बालक के विकास का यह 'सामाजिक-पहलू' (Environmental or Sociological side) है।

बालक का मानसिक-विकास पढ़ने-लिखने से होता है—इसमें

सन्देह नहीं और इसीलिए साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि विषय पढ़ाये जाते हैं। परन्तु किताबी पढ़ाई के अलावा उसका बहुत-कुछ विकास समाज द्वारा होता है। बालक का यह सम्पूर्ण 'मानसिक' तथा 'सामाजिक' विकास जिस प्रक्रिया में से गुज़रता है उसी को 'शिक्षा' (Education) कहते हैं। क्योंकि बालक बड़ा होने पर भी 'मानसिक' तथा 'सामाजिक' विकास की प्रक्रिया में से गुज़रता रहता है, अगर वह पढ़ा-लिखा है तो कुछ-न-कुछ पुस्तकों से सीखता ही रहता है, और समाज से तो हर-एक कुछ-न-कुछ सीखता है, इसलिये शिक्षा जीवन भर रहने वाली एक विस्तृत प्रक्रिया है। इसमें घर के, माता-पिता के, अपने धन्धे के, शत्रु-मित्र के, गृहस्थ के, घूमने-फिरने के सभी प्रभाव आ जाते हैं क्योंकि इन सब प्रभावों में से गुज़रते-गुज़रते ही तो मनुष्य नई-नई बातों को सीखता चला जाता है

'शिक्षा' (Education) तथा 'अध्ययन' (Instruction) में भेद—

इस विस्तृत अर्थ के अलावा 'शिक्षा'-शब्द का एक संकुचित अर्थ भी है। बालक पाठशाला में जाता है। पाठशाला भी समाज का एक छोटा-सा रूप है, परन्तु समाज में जो प्रभाव बालक को मार्ग-भ्रष्ट कर सकते हैं उन्हें पाठशाला में नहीं आने दिया जाता। पाठशाला का वातावरण शुद्ध रखने का प्रयत्न किया जाता है। समाज में तो जो-कुछ है, वह है, अच्छा-बुरा प्रभाव बालक पर पड़ता रहता है, उसमें शिक्षक का कोई हाथ नहीं रहता, पर पाठशाला में यह प्रयत्न किया जाता है कि जो-कुछ हो, अच्छा ही हो, बुरा कुछ न हो, और उस अच्छाई का बालक पर प्रभाव पड़े। इस प्रकार बालक पर, देख-भाल कर, समझ-बूझकर जो मानसिक तथा सामाजिक प्रभाव डालने का प्रयत्न है वह शिक्षा का संकुचित अर्थ है, और शिक्षा के इसी संकुचित अर्थ के लिये 'अध्ययन'

(Instruction) शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग इन्हीं संकुचित अर्थों में किया जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि शुद्ध अर्थों में 'शिक्षा' (Education) बहुत विस्तृत है, जन्म भर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रिया है; 'अध्ययन' (Instruction) संकुचित है, लगभग पाठशाला के साथ सीमित रहने वाली एक कृत्रिम प्रक्रिया है।

प्रश्न

१. पैस्टेलोजी का कथन था कि 'शिक्षा' मनुष्य का 'प्रगतिशील' तथा 'सर्वांगपूर्ण' विकास है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।
२. 'शिक्षा' जीवन भर रहने वाली प्रक्रिया है—इसका क्या अर्थ है?
३. 'शिक्षा' में मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पहलू क्या हैं?
४. 'शिक्षा' तथा 'अध्ययन' में क्या भेद है?

२

शिक्षा के उद्देश्य

(AIMS OF EDUCATION)

शिक्षा के उद्देश्य बदलते रहते हैं—

बिना उद्देश्य के मनुष्य किसी काम में उत्साह नहीं दिखाता, उद्देश्य सामने आते ही उसे पूरा करने की शक्ति न जाने उसमें कहाँ से फूट पड़ती है। उद्देश्य के प्रकट होते ही जीवन की सम्पूर्ण क्रिया-शक्ति उसे पाने के लिये बेचैन हो उठती है, फिर वह बैठी नहीं रह सकती। तो फिर 'शिक्षा' का उद्देश्य क्या है?

भिन्न-भिन्न समयों में शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहे हैं। कोई समय था जब भारत में धर्म-शास्त्र की शिक्षा देना गुरु का मुख्य उद्देश्य समझा जाता था। ब्रह्मचारी गुरुओं के आश्रमों में जाकर वेद, उपनिषद् और अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। ब्रह्मचारी को धार्मिक ग्रन्थों में दीक्षित कर देना गुरु का एक मात्र लक्ष्य होता था। जिस समय वर्ण-व्यवस्था का प्रचार हुआ तब गुरु का काम चतुर बालकों को वेद पढ़ाकर ब्राह्मण बनाना, शूरवीर बालकों को शस्त्र-विद्या सिखाकर सिपाही बनाना, और व्यापार में रुचि रखने वालों को कृषि आदि की शिक्षा देना था। इस समय गुरु का काम बालकों को समाज के भिन्न-भिन्न पेशों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—के लिये, 'कर्म-काँड' के लिये तैयार करना था। कुछ समय बाद वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्म से न रह कर जन्म से मानी जाने लगी, तब ब्राह्मण का पुत्र

अपने को ब्राह्मण के पेशे के लिए तय्यार करता था, क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय के, और वैश्य का पुत्र वैश्य के पेशे के लिये पढ़ाई-लिखाई करता था।

भारतीय इतिहास में ब्राह्मण-काल के बाद बौद्ध-काल आया। उस समय चारों तरफ़ भिक्षु-ही-भिक्षु दिखाई देने लगे, और प्रत्येक माता-पिता का ध्येय अपने बालक को भिक्षु बना देना हो गया। उस समय भारत में शिक्षा ने भिक्षु-संघों के लिये बालकों को तय्यार करना अपना लक्ष्य बना लिया। जब अशोक के समय भारत का राज-धर्म ही बौद्ध-धर्म हो गया तब भिन्न-भिन्न राजकीय पदों के लिये बौद्ध होना आवश्यक समझा जाने लगा, और शिक्षकों ने बालकों को बौद्ध-धर्म की शिक्षा देकर उन्हें उच्च राजकीय पदों के लिये तय्यार करना अपना लक्ष्य बना लिया।

मुसलमानों के भारत में आने पर भी धार्मिक भावना को जगाना ही शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा। मकतबों का सम्बन्ध मस्जिदों से रहा, और कुरान पढ़ा देना ही मौलवियों का एकमात्र लक्ष्य रहा। वे यही समझते रहे कि कुरान पढ़ लिया तो शिक्षा पूरी हो गई, कुरान न पढ़ा तो कुछ नहीं पढ़ा।

भारत की सामाजिक रचना में, और यहाँ की राज-व्यवस्था में जब तक धर्म की प्रधानता रही तब तक धर्म की शिक्षा देना ही शिक्षा का उद्देश्य बना रहा। अन्य देशों का इतिहास भी यही बतलाता है कि समाज में जिस भाव की प्रबलता होती है, और राज-व्यवस्था को चलाने वाले लोग बालकों में जो भावना भरना चाहते हैं, शिक्षा का वही उद्देश्य हो जाता है। इसका एक अच्छा-खासा उदाहरण ग्रीस की शिक्षा-प्रणाली है। प्राचीन ग्रीस में स्पार्टा नाम की एक रियासत थी। उस समय हरेक देश अपने को असुरक्षित समझता था। शत्रु किसी भी समय आक्रमण कर

सकता था। शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिये स्पार्टा में यह आवश्यक समझा जाता था कि बालक का शारीरिक गठन अच्छा हो, वह साहसी हो, आज्ञाकारी हो, ताकि शत्रु का मुकाबिला करके 'देश की रक्षा' कर सके। ऐथेन्स के लोग अपने को सुरक्षित समझते थे, इसलिये वे 'संस्कृति' का विकास अपना लक्ष्य समझते थे। स्पार्टा की शिक्षा-प्रणाली को उन्होंने अपना लिया था, परन्तु सांस्कृतिक विषयों का अध्ययन भी ऐथेन्स की शिक्षा-प्रणाली में आवश्यक था। ऐथेन्स की शिक्षा-प्रणाली में व्यक्ति को अपने विकास की भी कुछ थोड़ी-बहुत गुंजाइश थी, स्पार्टा की प्रणाली में ऐसी गुंजाइश बिल्कुल नहीं थी।

इस सारे विवेचन से तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं। (१) पहली यह कि अब तक शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करने का काम शिक्षक के हाथ में नहीं रहा है। माता-पिता, समाज, शासक-वर्ग जो-कुछ चाहते रहे हैं, शिक्षक वैसा ही करता रहा है। शिक्षा का उद्देश्य निश्चित करना शिक्षक के हाथ में न रह कर दूसरों के हाथ में रहा है। (२) दूसरी बात यह है कि शिक्षा का उद्देश्य सदा बदलता रहा है। वर्ण-व्यवस्था के जन्म से माने जाने से पूर्व शिक्षा का उद्देश्य कुछ और था, बाद को कुछ और हो गया। बौद्ध-काल में भी वह बदलता रहा, और मुसल-मानी काल में और बदला। स्पार्टा में शिक्षा का जो उद्देश्य था, ऐथेन्स में वह नहीं था। (३) तीसरी बात यह है कि इस सम्पूर्ण इतिहास में 'व्यक्ति' को अपने विकास की स्वतंत्रता नहीं रही, माता-पिता ने, समाज ने, देश ने, राष्ट्र ने, जैसा व्यक्ति को बनाना चाहा वैसी ही उसे शिक्षा दी जाती रही।

परन्तु अब समय बदल गया है। अब शिक्षक को भी अपने विचार प्रकट करने की छुट्टी मिल गई है। यद्यपि अभी तक

शिक्षक निरपेक्ष-भाव से शिक्षा का उद्देश्य स्वयं निश्चित नहीं कर सकता, अब भी माता-पिता, समाज और राष्ट्र ही इसका निश्चय कर रहे हैं, तो भी जन-स्वातंत्र्य के इस युग में शिक्षक अपनी आवाज़ ऊंची उठा सकता है। शिक्षक के लिये सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि बालक की शिक्षा का संचालन उसे एक स्वतंत्र-व्यक्ति समझ कर 'व्यक्तिवाद' (Individualism) के सिद्धान्तों के अनुसार करे, या जैसा अब तक होता चला आया है, समाज की तरफ़ से जो आदेश हो वैसा, 'समाज-वाद' (Socialism) के सिद्धांतों के अनुसार करे। इस विषय में पर्याप्त मत-भेद है अतः इस विषय पर हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ हम शिक्षा के उन उद्देश्यों का वर्णन करेंगे जिनका प्रतिपादन कुछ बड़े-बड़े विचारकों ने किया है। वे उद्देश्य निम्न-लिखित हैं:—

१. शिक्षा का उद्देश्य 'विद्या के लिये विद्या' (Knowledge for the sake of knowledge-aim) प्राप्त करना है।
२. बालक को जीवन में किसी 'आजीविका'—'व्यवसाय'—(Vocational-aim) के लिए तैयार करना है।
३. शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक—'सर्वांग-विकास—(Complete-living-aim) शिक्षा का उद्देश्य है।
४. सम-विकास (Harmonious-development-aim) शिक्षा का उद्देश्य है।
५. सच्चरित्र का निर्माण (Moral-aim) शिक्षा का उद्देश्य है।
६. उक्त सब का 'समन्वय' शिक्षा का उद्देश्य है।

१. 'विद्या के लिए विद्या'—शिक्षा का उद्देश्य है—

प्रायः कहा जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य विद्या के लिये विद्या का अभ्यास करना है। विद्या का भी अपना कोई उद्देश्य है—इसे वे लोग नहीं मानते, विद्या प्राप्त करना, और प्राप्त की हुई

विद्या दूसरों तक पहुंचाना—यह स्वयं अपने-आप में एक उद्देश्य है। 'विद्या के लिये विद्या' को उद्देश्य मानने का यह परिणाम है कि माता-पिता, अध्यापक—जो भी विद्या के इस उद्देश्य पर विश्वास रखते हैं, वे बालक को पुस्तकों से लाद देते हैं, छोटी आयु में ही उसे महा-पण्डित बनाने के लिये व्यग्र हो उठते हैं। ऐसों के लिये ही किसी कवि ने कहा है—'अभी समाम्नाय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटपाद मिश्राः'। प्रायः शिक्षक बच्चों को प्रत्येक विषय में प्रवीण बनाना चाहते हैं, उनकी इच्छा होती है कि ऐसा कोई विषय बच न रहे जो बालक को न आता हो, उसमें उसकी रुचि हो, न हो, वह उसके लिये जीवन में उपयोगी हो, न हो। इसका परिणाम वही होता है जो एकदम बहुत-सा भोजन पेट में भर लेने से होता है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि 'विद्या के लिये विद्या' का अभ्यास कोई बुरा उद्देश्य है। आज विद्या पेट पालने के लिये पढ़ी जाती है, किसी समय विद्या का केवल मात्र यह उद्देश्य नहीं होता था, परन्तु अन्य सब बातों की तरफ़ से आँख मूंद कर केवल विद्या को एक मात्र उद्देश्य समझना मानो मनुष्य को केवल सिर समझ लेना है। शिक्षा का उद्देश्य बहुत-सी बातों का मन में संग्रह कर लेना नहीं, अपितु संग्रह की हुई विद्या को जीवन के लिये उपयोगी बनाना है। विद्या स्वयं उद्देश्य नहीं, अपितु किसी उद्देश्य का साधन है, स्वयं लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्य की तरफ़ ले जाने वाला मार्ग है।

२. 'आजीविका के लिये तैयार करना'—शिक्षा का उद्देश्य है—

शिक्षा मनुष्य को अलंकृत करने वाला केवल श्रृंगार नहीं, उसके रोटी के सवाल को भी हल करने का साधन है—यह आवाज़ बड़ी तीव्रता से उठ खड़ी हुई है। चारों तरफ़ से आवाज़ें आ रही हैं कि जो शिक्षा बालक को सिर्फ़ किताबें पढ़ना

सिखा देती है, रोटी कमाना नहीं सिखाती, वह बेकार है। जब बालक यह समझ लेता है कि उसको शिक्षा द्वारा किसी व्यवसाय को सीखना है, अपनी आजीविका के प्रश्न को हल करना है, तब वह निरुद्देश्य नहीं रहता। उद्देश्य ही तो मनुष्य में क्रिया-शीलता उत्पन्न करता है। बालक जब यह समझ कर पढ़ता है कि वह जो-कुछ पढ़ रहा है उसे जीवन भर उसका साथ देना है तब वह पढ़ता भी लगन से है। परन्तु क्या यही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य है? आजीविका के लिये शिक्षा प्राप्त करने से एक व्यक्ति अच्छा डाक्टर बन सकता है, ऊंचे दर्जे का वकील बन सकता है, ऐंज़ीनीयर बन सकता है— परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अच्छा मनुष्य भी बन जाय! ऐसी अवस्था में सिर्फ़ आजीविका के लिये तैयारी को शिक्षा का उद्देश्य बना लेना भी शिक्षा के पूर्ण महत्व को न समझना है।

३. 'सर्वांग-विकास'—शिक्षा का उद्देश्य है—

स्पेंसर ने 'शिक्षा' पर एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने कहा है कि शिक्षा का उद्देश्य हमें जीवन के सब पहलुओं के, सब अंगों के विकास के लिये प्रेरित करना है। जीवन में जिस समय जैसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो हमें उसके लिये तय्यार करना शिक्षा का काम है। हमें उन सब नियमों का ज्ञान होना चाहिये जिनसे हम शरीर, मन तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास कर सकें। घर में हम माता-पिता
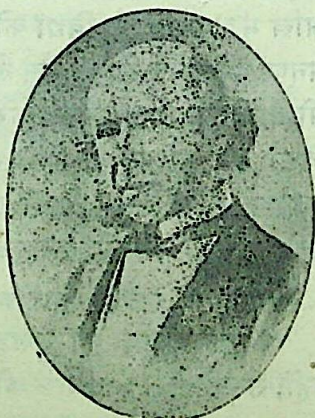
हर्बर्ट स्पेंसर
(१८२०–१९०३)

के साथ कैसे वर्तें, समाज में कैसे उत्तम नागरिक बनें, साथियों के साथ कैसा व्यवहार करें, आजीविका के लिये क्या करें, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का क्या हल निकालें, संक्षेप में, हर बात में हम पूर्ण हों, किसी में अधूरे न रहें—यह स्पेंसर का शिक्षा का उद्देश्य है। जैसे एक सधे हुए व्यक्ति के हाथ में औज़ार होता है, उसकी मशीन सब तरह से ठीक होती है, तल दिया होता है, पुर्ज़ा-पुर्ज़ा काम देने के लिये तय्यार होता है, इसी तरह यह शरीर हमारे काम के लिये तय्यार रहे, मन में भी किसी प्रकार की त्रुटि न हो—यह स्पेंसर का शिक्षा का उद्देश्य है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उद्देश्य बहुत ऊँचा है, परन्तु बालक हर समय तय्यारी ही करता रहे, हर समय सिपाही की तरह उलझा ही रहे—यह बालक की प्रकृति से बहुत बड़ी आशा करना है। रूसो का कथन था कि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बच्चा तो बच्चा है, वह आदमी नहीं है, उससे आदमियों की-सी आशा रखना व्यर्थ है। स्पेंसर बच्चे से बहुत बड़ी आशा करता था। जो अध्यापक हर समय बच्चे को कुछ-न-कुछ बनाने में लगा रहता है उसके प्रति बच्चा विद्रोह कर उठता है। बच्चा स्वतंत्रता चाहता है, वह चाहता है कि उसे खुला छोड़ दिया जाय, उसे अपनी इच्छानुसार कदम उठाने दिया जाय। स्पेंसर के सर्वांगीण-विकास के सिद्धान्त में बच्चे के बचपन को भुला दिया गया है।

४. 'सम-विकास'—शिक्षा का उद्देश्य है—

कई लोगों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा अन्य सभी पहलुओं का सम-विकास है। हमारे समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं जिनका केवल एक दिशा में विकास हुआ है। शरीर बड़ा गठीला

है, परन्तु मन के वच्चे हैं, वहुत पढ़-लिख गये हैं, परन्तु शरीर वच्चों का-सा कमज़ोर है। शरीर में भी कोई अंग सुदृढ़ है, कोई अंग कमज़ोर। मन में 'इच्छा'–'ज्ञान'–'कृति' ये तीन रहते हैं। कइयों की किसी काम को करने की इच्छा होती है, परन्तु इच्छा सदा इच्छा वनी रहती है। वे सदा करूँ-न-करूँ की दुविधा में रहते हैं। कई लोग किसी भी काम को झट-से कर डालते हैं, और करने के बाद सोचते हैं, हमें यह काम करना चाहिये था, या नहीं। स्पेंसर के 'सर्वांगीण-विकास' और 'सम-विकास' के इस सिद्धान्त में सिर्फ़ इतना भेद है कि 'सर्वांगीण-विकास' में तो मनुष्य के सब पहलुओं के विकास की आशा की जाती है, 'सम-विकास' में सब पहलुओं के विकास के साथ-साथ उन सबके भी एक-समान विकास की आशा की जाती है। जब सर्वांगीण-विकास ही एक कठिन काम है, तब सम-विकास तो उससे भी आगे की बात है, यह और भी कठिन है। एक व्यक्ति विज्ञान का पंडित हो, दर्शन-शास्त्र का ज्ञाता हो, शरीर से पहलवान हो, सब तरह से पूर्ण हो—यह वहुत अच्छा उद्देश्य है, जहाँ तक यह पूरा हो सके इसे करना ही चाहिए, परन्तु यह उद्देश्य क्रियात्मक नहीं है, इस प्रकार के पूर्ण-विकास की आशा करना दुराशा मात्र है।

५. 'सच्चरित्र निर्माण'—शिक्षा का उद्देश्य है—

कई लोगों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर को सुदृढ़ बना देना या मन को ज्ञान से भर देना नहीं है, इसका मुख्य उद्देश्य बालक को सदाचारी बनाना है, उसके चरित्र को शुद्ध तथा पवित्र बनाना है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नैतिक है, सदाचार तथा सद्-व्यवहार का निर्माण है, अन्य उद्देश्य इसके पीछे चलने वाले हैं।

'वंश-परम्परा' तथा 'परिस्थिति'—दोनों में से बालक पर किसका अधिक प्रभाव है, इस विवाद में प्रायः कहा जाता है कि पैतृक संस्कारों को मिटा सकना एक असंभव कार्य है। इस विचार से शिक्षक प्रायः निराश हो जाते हैं और समझते हैं कि वे बालक का कुछ नहीं बना सकते, उसे जो-कुछ बनाना है वह तो बीज-रूप में बना-बनाया है, शिक्षा उसका कुछ नहीं बना सकती। हर्बार्ट (Herbart) का कथन था कि यह बात नहीं है, शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा बालक की उस मूल-प्रकृति को बदला जा सकता है जिसे शिक्षक पैतृक समझ कर यह समझ लेता है कि इसे तो बदला ही नहीं जा सकता। अस्ल में, शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ही बालक की प्रकृति को बदलना है। बालक तो पशु की तरह अपनी भिन्न-भिन्न मूल-शक्तियों (Instincts) को लेकर पैदा होता है, शिक्षक उसे पशु से मनुष्य बनाता है, उसमें नैतिकता की भावना को भरता है।

'चरित्र' एक व्यापक शब्द है। प्लेटो का कथन था कि मनुष्य 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing) का समूह है। 'ज्ञान' की पराकाष्ठा 'सत्यम्' (Truth) में है, 'इच्छा' की पराकाष्ठा 'सौन्दर्य' (Beauty) में है, 'कृति' की पराकाष्ठा 'शिवम्' (Goodness) में है, इसी को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' (Truth, Goodness, Beauty) कहा जाता है। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का चरित्र ऐसा बना देना है जिससे वह अपने जीवन को 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बना सके। बालक में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की भावना को उत्पन्न करना, कठिनाइयों का मुक़ाबिला करने की भावना को जागृत कर देना भारत की प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता रहा है। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य-पूर्वक, गुरु की आज्ञा

का पालन करते हुए तपस्या का जीवन व्यतीत करना चरित्र-निर्माण का ही एक रूप है। शिक्षक अगर बालक के चरित्र का निर्माण कर देता है, अगर बालक में सत्य के प्रति प्रेम, अच्छाई को पाने की लगन, ईमानदारी, न्याय-प्रियता आदि गुण आ जाते हैं, तो शिक्षा ने अपने उद्‌देश्य को पूरा कर लिया---ऐसा समझना चाहिए।

६. शिक्षा का उद्देश्य 'इन सब का समन्वय' है---

हमने शिक्षा के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों का वर्णन किया। शिक्षा का उद्‌देश्य भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रहा है। समाज या राष्ट्र में जो समस्या प्रबल होती गई है, उसी के अनुसार शिक्षा का उद्‌देश्य भी बदलता गया है। अगर राष्ट्र के सम्मुख अपनी रक्षा का प्रश्न मुख्य रहा है, तो क्षत्रिय उत्पन्न करना शिक्षा का उद्‌देश्य हो गया है, अगर कोई राष्ट्र भूखा मरने लगा है, तो व्यापार आदि की शिक्षा को मुख्यता प्राप्त हो गई है। जो राष्ट्र सब तरह से निश्चित है, जिसके सामने कोई विशेष समस्या नहीं है, वह व्यक्ति को स्वतन्त्र विकास करने की आज्ञा देता है, अन्यथा वह अपनी समस्या को हल करने लिए शिक्षक की आवाज़ को दबाकर, शिक्षक को अपने स्वर में स्वर मिलाने को बाधित करता है। फिर भी संसार के शिक्षकों तथा विचारकों ने शिक्षा के अनेक उद्देश्य निश्चित किये हैं। कोई विद्या के लिए विद्या प्राप्त करने को शिक्षा का उद्देश्य मानता है, तो कोई आ-जीविका के लिए तैयारी को। कोई सर्व-गुण-सम्पन्न निर्दोष मानव को उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य बतलाता है, तो कोई चरित्र-निर्माण को। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जब इन सब उद्देश्यों का समन्वय किया जाय। समाज तथा राष्ट्र की बात सुनी जाय, परन्तु साथ ही शिक्षक

की आवाज़को भी अनसुना न किया जाए, भिन्न-भिन्न विद्याओं के प्रति बालक में रुचि उत्पन्न की जाय, परन्तु साथ ही कोई व्यवसाय भी सिखाया जाय, बालक को सर्व-गुण-सम्पन्न वनानें का प्रयत्न किया जाय, परन्तु साथ ही उसे स्वतंत्र भी विकसित होनें दिया जाय, और इन सब के साथ उसके चरित्र का उसके व्यक्तित्व के आधार पर निर्माण किया जाय।

प्रश्न

१. ब्राह्मण-काल, बौद्ध-काल, मुसलमान-काल, ब्रिटिश-काल में शिक्षा के उद्देश्य क्या थे?
२. स्पार्टा तथा एथेन्स की शिक्षा के उद्देश्य क्या थे? उनमें एक-दूसरे से भिन्नता क्यों थी?
३. 'शिक्षा' के क्या-क्या उद्देश्य कहे जाते हैं? उन सबकी व्याख्या कीजिये।
४. 'शिक्षा' के उद्देश्य के निर्धारण में शिक्षक का तथा राज्य का दृष्टि-कोण क्या रहता है?
५. 'व्यक्तिवाद' तथा 'समाजवाद' का 'शिक्षा' के उद्देश्य के निर्धारण में क्या हाथ है?

३

शिक्षा में समाजवाद तथा व्यक्तिवाद

SOCIALISM AND INDIVIDUALISM IN EDUCATION)

हम पिछले अध्याय में कह चुके हैं कि अब तक शिक्षा का संचालन माता-पिता, समाज तथा राष्ट्र की इच्छानुसार होता रहा है। राष्ट्र बालक को जो-कुछ बनाना चाहता है शिक्षक उसे वही बनाने में जुट जाता है। स्पार्टा के बालकों को तपस्वी बनाया जाता था। माताएँ बालकों के पैदा होते ही उनके बल को परीक्षा करती थीं। यह आजमाती थीं कि वह स्वस्थ और बलवान् रहेगा, या कमज़ोर रहेगा। बच्चे को एक शिला पर पटका जाता था, जो बच रहता था, वह पाल-पोस लिया जाता था, जो मर जाता था, वह फेंक दिया जाता था। स्पार्टा की शिक्षा-पद्धति ने यह प्रश्न खड़ा कर दिया कि शिक्षा में 'व्यक्ति' प्रधान होना चाहिय, या 'समाज'। क्या शिक्षा देते हुए हमें बालक को समाज रूपी मशीन का एक पुर्ज़ा समझकर चलना चाहिये, या बालक की व्यक्ति रूप से एक स्वतंत्र सत्ता समझ कर चलना चाहिये ? बालक समाज के विकास के लिए है, या समाज बालक के वैयक्तिक विकास के लिये है ? इसी समस्या को शिक्षा में 'समाज-वाद' (Socialism) तथा 'व्यक्ति-वाद' (Individualism) की समस्या कहा जाता है।

अब तक शिक्षा में समाज-वाद की ही प्रधानता रही है। बालक मानव-समाज का एक अंग है। व्यक्ति की समाज से

स्वतन्त्र सत्ता ही क्या है ? समाज से स्वतंत्र किसी व्यक्ति की कल्पना करना ही एक मिथ्या कल्पना है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में पलता है, बढ़ता है, जन्म से मरण पर्यन्त समाज का ऋणी है, इसलिये समाज की इच्छा के अनुसार उसका निर्माण करना आवश्यक है। जान में, अनजान में, मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व को पीछे हटाकर, समाज तथा राष्ट्र की माँग के अनुसार उसे ढालना शिक्षक का कर्तव्य है।

जो लोग व्यक्ति तथा राष्ट्र की तुलना में, राष्ट्र की मुख्यता के पक्षपाती थे, वे इतने बढ़ गये कि व्यक्ति की तरह राष्ट्र को भी एक स्वतंत्र सत्ता कहने लगे। उन्होंने कहना शुरू किया कि राष्ट्र की भी, व्यक्ति की तरह , मानो आत्मा है, और यह 'राष्ट्र', व्यक्ति की अपेक्षा एक उच्चतर सत्ता है । राष्ट्र के लिये ही व्यक्ति है, व्यक्ति के लिये राष्ट्र नहीं है । राष्ट्र को सबल तथा सुदृढ़ बनाने के लिये व्यक्ति को अपनी सत्ता मिटा देनी चाहिये । राष्ट्र के दृष्टिकोण से ही प्रत्येक बात होनी चाहिए, राष्ट्र को पूरा अधिकार होना चाहिये कि वह व्यक्ति को जिस प्रकार बनाना चाहे, बनाये । प्राचीन-काल में स्पार्टा की शिक्षा इसी सिद्धान्त पर चल रही थी, वर्तमान युग में जर्मनी तथा जापान ने भी इसी सिद्धान्त को मुख्य रख कर अपने यहाँ शिक्षा का संचालन किया था । इस सिद्धान्त ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का इतना दमन कर दिया कि व्यक्ति अपने आप कुछ भी करने योग्य नहीं रह गया, वह राष्ट्र की मशीन का एक पुर्जा हो गया, राष्ट्र के कर्णधारों की गति की आलोचना करना भी पाप हो गया, और परिणाम-स्वरूप जर्मनी का सारा मानव-समाज हिटलर का, और इटली का समाज मुसोलिनी का दास हो गया अपनी स्वतंत्र आवाज़ उठाना किसी के लिये भी असंभव हो गया।

शिक्षा में 'समाज-वाद' अमरीका, इंग्लैंड तथा अन्य प्रजातन्त्र देशों में भी पाया जाता है, परन्तु उन देशों में शिक्षा में 'समाज-वाद' का अभिप्राय सिर्फ़ इतना है कि व्यक्ति को समाज की सेवा के योग्य बनाया जाय, और शिक्षा में ऐसे विषयों का प्रवेश किया जाय जिनसे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हुए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति समाज की सेवा कर सके। वह उत्तम नागरिक हो, समाज का भला करने की सोचा करे, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह अपने व्यक्तित्व को ही मिटा दे। नाज़िज़्म तथा फ़ैसिज़्म में तो व्यक्ति को अपनी सत्ता को समाप्त ही कर देना होता है, तानाशाही राज्य में डिक्टेटर ही सब-कुछ है, प्रजातन्त्र में व्यक्ति समाज की सेवा करता हुआ भी अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को नहीं खोता।

स्पार्टा, जर्मनी, इटली तथा जापान में जिस प्रकार का उग्र 'राष्ट्र-समाज-वाद' (State Socialism) चला, उसमें व्यक्ति की नगण्य सत्ता हो गई, व्यक्ति को मानो मिटा-सा दिया गया, उसमें व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास को कोई स्थान ही नहीं न रहा। इंग्लैंड, अमरीका आदि प्रजातन्त्र देशों में भी, व्यक्ति को उत्तम नागरिक बनाने का अगर संकुचित अर्थ लिया जाय, तो उसका भी इसके अतिरिक्त कोई अभिप्राय नहीं रहता कि व्यक्ति राष्ट्र के हाथों में एक औज़ार का काम करे, राष्ट्र उसका जैसा उपयोग करना चाहे करे। राष्ट्र-धर्म को इस प्रकार मुख्य बना लेने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य को अपने देश के राजनैतिक नेताओं की हरेक बात में हाँ-में-हाँ मिलाना पड़ता है— भले ही वे ठीक कहें, या ग़लत कहें।

शिक्षा में समाज की तानाशाही के विरुद्ध १८वीं शताब्दी में रूसो ने आवाज़ उठायी। उसने कहा कि समाज ने बालक के विकास

को चारों तरफ़ से कैद कर रखा है। हमें बालक को समाज की कैद से छुड़ाना है। बालक में स्वतन्त्र शक्तियाँ हैं—शिक्षक का काम उसे ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियों में रख देना है जिससे उसके 'व्यक्तित्व' का विकास हो सके। शिक्षा में व्यक्ति तथा समाज के मुकाबिलेमें व्यक्ति ही मुख्य है, उत्तम व्यक्ति ही उत्तम नागरिक बन सकता है। शिक्षा में व्यक्ति-वाद (Individualism) के समर्थकों का कथन है कि परिवार, पाठशाला तथा राष्ट्र व्यक्ति के विकास के साधन हैं, व्यक्ति इनके लिये नहीं, ये व्यक्ति के लिये हैं। पाठशाला व्यक्ति के विकास के लिये ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है जिससे वह अपने को उन्नत बना सके। राष्ट्र का काम व्यक्ति पर शिक्षा का बोझ लाद देना नहीं है, अपितु बालक को चारों तरफ़ से ऐसी परिस्थितियों से घेर देना है जिनसे प्रोत्साहित होकर वह अपने अन्दर छिपी हुई भिन्न-भिन्न शक्तियों को प्रकाश में ला सके। आज जितनी नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ काम में लायी जा रही हैं सबका लक्ष्य बालक के व्यक्तित्व (Individuality) को जगाना है, उसमें जो स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उन्हें विकसित होने के लिये प्रोत्साहित करना है। 'ह्यु रिस्टिक-पद्धति', 'प्रोजेक्ट पद्धति'- 'डाल्टन प्लैन'—ये सब प्रणालियाँ व्यक्ति को प्रधान मान कर ही चलाई गई हैं, और इन सबका आधार शिक्षा में व्यक्ति-वाद (Individualism) का सिद्धान्त है।

संसार में जो-कुछ हुआ है व्यक्तियों द्वारा हुआ है। महात्मा गान्धी जैसे एक व्यक्ति ने अपने जीवन काल में ही भारत को कहाँ-से-कहाँ पहुंचा दिया। व्यक्ति का महत्व समझने के लिये संसार के इतिहास के पन्नों को पलट लेना काफ़ी है। जहाँ सारा समाज टक्कर मार कर रह जाता है वहाँ एक

व्यक्ति उठ खड़ा होता है, और ऐसा झटका देता है कि समाज की शिथिलता शक्ति तथा उत्साह में परिणत हो जाती है।

'व्यक्तित्व' के विकास का क्या अभिप्राय है? क्या इसका यह अभिप्राय है कि व्यक्ति जैसी उच्छृङ्खलता चाहे करे? अगर व्यक्ति के विकास का यह अभिप्राय हो तब तो व्यक्ति से समाज को ख़तरा पैदा हो जाय। व्यक्तित्व के विकास का अभिप्राय उच्छृङ्खलता से नहीं, स्वतंत्रता से है। उच्छृङ्खल व्यक्ति तो समाज के बंधनों को छिन्न-भिन्न कर समाज की व्यवस्था में ही गड़बड़ी डाल देगा, स्वतंत्र व्यक्ति समाज की व्यवस्था को विगाड़ने के स्थान में सुधारने का प्रयत्न करेगा। शुद्ध अर्थों में व्यक्ति का विकास सामाजिक विकास में सहायक होगा, उस में वाधा डालने वाला नहीं।

'समाज' तथा 'व्यक्ति' में जो संघर्ष चल रहा है इसे अगर हम मिटाना चाहें तो यह समझ लेना आवश्यक है कि न तो समाज का उद्देश्य व्यक्तित्व को मिटा देना है, न व्यक्ति का उद्देश्य समाज के प्रतिकूल चलना ही है। समाज का काम व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाये रखने में सहायता देना है, और व्यक्ति का काम अपने गुणों से समाज को लाभ पहुँचाना है। व्यक्ति का समाज के बिना कोई मूल्य नहीं, और समाज व्यक्तियों के बिना निरर्थक है! दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं, एक-दूसरे के सहायक हैं, अतः दोनों के गठ-बन्धन से ही शिक्षा की गाड़ी चल सकती है।

प्रश्न

१. व्यक्तिवाद की दृष्टि से रूसो का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा?
२. 'नवीन शिक्षा-पद्धतियों का आधार व्यक्तिवाद है'—समझाइये।
३. 'राष्ट्र-समाजवाद' (State Socialism) का शिक्षापर क्या प्रभाव पड़ा?

४

आदर्श-वाद, प्रकृति-वाद, क्रिया-सिद्धि-वाद

(IDEALISM, NATURALISM, PRAGMATISM)

१. दर्शन-शास्त्र का शिक्षा पर प्रभाव

दर्शन-शास्त्र (Philosophy) का शिक्षा से गहन सम्बन्ध है। हमने शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए कहा था कि ज्यों-ज्यों समाज की आवश्यकता तथा विचार-धारा बदलती जाती है, त्यों-त्यों शिक्षा के उद्देश्यों में भी परिवर्तन होता जाता है। स्पार्टा की आवश्यकता तथा विचार-धारा यह थी कि देश की रक्षा करना ही प्रत्येक व्यक्ति का ध्येय होना चाहिये, वहाँ की शिक्षा-प्रणाली भी इसी आधार को लेकर बनी; एथेन्स की विचार-धारा का लक्ष्य संस्कृति का विकास था, वहाँ की शिक्षा-प्रणाली में संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले विषय पढ़ाये जाने लगे; भारत की विचार-धारा धर्म को जीवन की सर्वोत्तम वस्तु मानती थी, यहाँ गुरु का काम शिष्य को वेद, उपनिषद् आदि धर्म-ग्रन्थ पढ़ाना हो गया; बौद्ध-काल में भिक्षु बनना ही समाज का लक्ष्य हो गया, उस समय शिक्षा के लिये भिक्षु-संघों की स्थापना की गई; मुसलमानी-काल की विचार-धारा यह थी कि इस्लाम की रक्षा करना ही हर-एक मुसलमान का कर्तव्य है, उस समय मस्जिदों के साथ मकतब खोले गये जिनमें बड़े-से-छोटे सभी को कुरान पढ़ायी जाने लगी; अंग्रेजों का कहना था कि भारत में शासन करने के

लिये उन्हें क्लर्कों की आवश्यकता है, उन्होंने अंग्रेज़ी में प्रवीण होना शिक्षा का एकमात्र लक्ष्य वना दिया; रूसो ने समाज के बन्धनों के प्रति विद्रोह की विचार-धारा को जन्म दिया था, उसने बालक को स्वतंत्रता-पूर्वक विकसित होने देना शिक्षा का लक्ष्य बतलाया; इंगलैंड-अमरीका में प्रजातंत्र की भावना प्रबल हो उठी, वहाँ उत्तम नागरिक बनाना शिक्षा का लक्ष्य वन गया; जर्मनी में जर्मन् जाति के विश्व-विजयिनी होने की भावना को जन्म दिया गया, वहाँ राष्ट्र-धर्म की प्रधानता हो गई, व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को मिटा दिया गया। कहने का अभिप्राय यह है कि देश की जैसी आवश्यकताएं होती हैं वैसी विचार-धारा और दर्शन-शास्त्र उत्पन्न हो जाते हैं, और जैसा दर्शन होता है उसी के अनुसार शिक्षा के उद्देश्यों और शिक्षा की पद्धति का क्रम चल पड़ता है। हम 'दर्शन-शास्त्र' के उन मुख्य-मुख्य 'वादों' का यहाँ वर्णन करेंगे जिनका 'शिक्षा' के 'उद्देश्य', 'विधि' तथा तथा 'विधान' के निर्णय करने पर प्रभाव पड़ रहा है।

२. आदर्श-वाद (IDEALISM)

प्रारम्भ में 'आदर्श-वाद' (Idealism) ही जीवन का मुख्य सिद्धान्त माना जाता रहा, और इसलिये इसी का शिक्षा पर प्रभाव रहा। 'आदर्श-वाद' (Idealism) 'दर्शन-शास्त्र' (Philosophy) के भिन्न-भिन्न वादों में से एक 'वाद' है। इसका मुख्य प्रवर्तक प्लेटो था। इस 'वाद' के मुख्य आधार-भूत तत्व निम्न हैं:—

आदर्श-वाद के आधार-भूत तत्व—

(१) प्राकृतिक-जगत् की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत् का महत्व अधिक है। संसार में मनुष्य अपने को दो भागों में बाँट

लेता है—वह 'स्वयं', तथा 'बाह्य-जगत्'। बाह्य-जगत् पञ्च महाभूतों का बना हुआ है—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश। विज्ञान इन महाभूतों की ही चर्चा करता है, परन्तु इनके अतिरिक्त 'मैं' भी तो कुछ है। इस 'मैं' का निरीक्षण करें तो ज्ञात होता है कि इसमें 'मन' तथा 'आत्मा'—ये दो सत्ताएं हैं। बाह्य-जगत् तो मेरे लिए है, अतः 'मन' तथा 'आत्मा' का जानना भौतिक पदार्थों के जानने की अपेक्षा अधिक बड़ा आदर्श है, मन तथा आत्मा का जगत् ही आदर्श-जगत् है। इस प्रकार 'आदर्श-वाद' (Idealism) भौतिक-जगत् पर बल न देकर 'मन' तथा 'आत्मा' पर अधिक बल देता है और कहता है कि संसार में अन्तिम सत्ता भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है, पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश नहीं, मन-आत्मा-परमात्मा है। बाह्य-जगत् तो आध्यात्मिक सत्ता का एक अत्यन्त तुच्छ प्रकाश है, वास्तविक सत्ता आध्यात्मिक सत्ता ही है। यह 'आदर्श-वाद' (Idealism) का पहला तत्व है।

(२) अगर 'भौतिक' सत्ता की अपेक्षा 'आध्यात्मिक' सत्ता अधिक वास्तविक है तब 'आध्यात्मिक' सत्ता का जानना ही मनुष्य का मुख्य प्रश्न हो जाता है। आध्यात्मिक सत्ता अपने को कैसे विकसित करती है? मन तथा आत्मा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे भीतर तीन प्रकार की प्रक्रियाएं चल रही हैं। हम सोचते हैं, हम इच्छा करते हैं, हम क्रिया करते हैं—'ज्ञान'-'इच्छा'-'कृति'—ये तीन, मानसिक प्रक्रिया के तीन पहलू हैं। 'ज्ञान' का लक्ष्य क्या है? 'ज्ञान' बढ़ते-बढ़ते 'सत्य' को पाना चाहता है। 'इच्छा' का लक्ष्य क्या है? 'इच्छा' की चरम सीमा 'सौन्दर्य' को पाने के लिए होती है। 'कृति' का लक्ष्य क्या है? काम करते-करते मनुष्य उत्तम-से-

उत्तम काम करना चाहता है। आध्यात्मिक सत्ता के इसी विकास को प्लेटो ने 'सत्य'-'सुन्दर'-'शिव' (Truth, Beauty, Goodness) का नाम दिया है। मानव-जीवन का लक्ष्य 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' का पाना है, इन तीनों को जीवन में घटा लेना है। 'आदर्श-वाद' (Idealism) का यह दूसरा तत्व है।

(३) 'आदर्श-वाद' (Idealism) का कथन है कि मनुष्य का लक्ष्य 'सत्य'-'शिव'-'सुन्दर' को पाना तो है ही, परन्तु इसके साथ-साथ आध्यात्मिक माप-दंड को भी बढ़ाते जाना है। जैसे प्रकृति पर विजय पाने वाले नवीन-नवीन आविष्कार करते हैं, आगे-ही-आगे बढ़े जाते हैं, वैसे आध्यात्मिक सच्चाइयों की अनुभूति भी मनुष्य को आगे-ही-आगे ले जाती है। 'सत्य'-'सुन्दर'-'शिव' का मार्ग मनुष्य को सापेक्ष-सत्य (Relative truth) से निरपेक्ष-सत्य (Absolute truth) की तरफ़, सापेक्ष-सौंदर्य (Relative beauty) से निरपेक्ष-सौन्दर्य (Absolute beauty) की तरफ़, सापेक्ष-शिव (Relative goodness) से निरपेक्ष-शिव (Absolute goodness) की तरफ़ ले जाता है। निरपेक्ष (Absoluteness) की तरफ़ जाना ही 'आदर्श' की तरफ़ जाना है, यही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। यह 'आदर्श-वाद' (Idealism) का तीसरा तत्व है।

(४) जिस आध्यात्मिक स्तर को मनुष्य-समाज ने पा लिया उसे आगामी सन्तति द्वारा सुरक्षित रखना भी हमारे लिये आवश्यक हो जाता है, नहीं तो हरेक सन्तति को नये सिरे से सब बातों का पता लगाना आवश्यक हो जायगा। हमारा यह कर्तव्य है कि 'आदर्श-वाद' के जिस स्तर पर हम

पहुँच चुके हैं, उस तक अपनी सन्तति को भी पहुँचा दें, ताकि वह अपने से आगामी सन्तति को हमसे भी आगे पहुँचा सके, और इस प्रकार उन्नति करता हुआ मानव-समाज निरपेक्ष-सत्य, निरपेक्ष शिव तथा निरपेक्ष सन्दर को पा सके। यह 'आदर्श-वाद' का चौथा तत्व है।

आदर्श-वाद का शिक्षा पर प्रभाव—

'आदर्श-वाद' (Idealism) की जिन चार बातों का हमने उल्लेख किया है इनका 'शिक्षा' पर बड़ा प्रभाव पड़ा। "शिक्षा' का उद्देश्य 'भौतिक' उतना नहीं जितना 'आध्यात्मिक' है—यह आदर्शवादियों का कथन है। 'मन'—'आत्मा' आदि के अध्ययन पर इन्होंने वहुत ज़ोर दिया। 'सत्य'-शिव'-'सुन्दर' का ज्ञान क्रमश: 'दर्शन-शास्त्र' (Philosophy), 'नीति-शास्त्र' (Ethics) तथा 'ललित-कलाओं' (Arts) से दिया जाने लगा। शिक्षा-संस्था का उद्देश्य बालकों को वह सब ज्ञान दे डालना समझा गया जो अब तक मानव-जाति ने प्राप्त किया था। हरेक बालक के लिये सब विषयों का ज्ञान आवश्यक माना गया। यह समझा गया कि जाति के सदियों में संचित किये हुए ज्ञान की धरोहर को सुरक्षित रखने तथा उसे आगे बढ़ाने के लिये बालक उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जाति का संपूर्ण ज्ञान लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, पर्शियन या अरबी में सुरक्षित है अत: इन भाषाओं का ज्ञान उसके लिये आवश्यक हो गया। इस प्रकार इन प्राचीन भाषाओं के ज्ञान को 'मनुष्योपयोगी-शिक्षा' (Humanistic Studies) का नाम दिया गया और इनका पढ़ना प्रत्येक बालक के लिये अनिवार्य हो गया। क्योंकि बालक को इतनी अगाध विद्या थोड़े से ही समय में देनी होती थी अत: यह समझा गया कि उस पर सुदृढ़ नियन्त्रण

रखने की आवश्यकता है। खेल-कूद में समय बिताना व्यर्थ है। दिन-रात पढ़ना, रटना, किताबों का कीड़ा बने रहना बालक का लक्ष्य बन गया, और डंडा लेकर शिष्य को डरा-धमकाकर सब-कुछ पढ़ डालने के लिये बाधित करना गुरु का लक्ष्य बन गया। 'आदर्श-वाद' (Idealism) का शुरु-शुरु में यह लक्ष्य नहीं था, जो-कुछ यह आदर्श समझता था उसकी तरफ़ जाना उसका लक्ष्य था, परन्तु क्योंकि हरेक बात कुछ समय बाद पतन की तरफ़ चल पड़ती है, 'आदर्श-वाद' भी पतन के मार्ग पर चल दिया।

३. प्रकृति-वाद (NATURALISM)

प्रकृति-वाद आदर्श-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया था—

'आदर्श-वाद' (Idealism) के अन्ध-भक्त जब ग्रीक, लैटिन तथा संस्कृत के ज्ञान को ही ज्ञान की चरम-सीमा समझने लगे, जब 'ह्यु मैनिस्टिक-स्टडीज़' (Humanistic studies) ही शिक्षा का चरम लक्ष्य हो गयीं, तब इस की प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया का नाम 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) था। 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) के अवान्तर्गत कई 'वाद' उत्पन्न हुए, परन्तु उन सबको मुख्य तौर पर 'यथार्थवाद' (Realism) कहा जाता है। क्योंकि 'आदर्श-वाद' की प्रतिक्रिया के रूप में ये 'वाद' उत्पन्न हुए थे, इसलिए इन 'वादों' का नाम 'यथार्थवाद' रखा गया—'आदर्श' का उल्टा 'यथार्थ'। 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) तथा 'यथार्थ-वाद' (Realism) का लगभग एक ही अर्थ है। 'यथार्थ-वाद' (Realism) के योरुप में तीन भेद माने जाते हैं। 'ह्यु मैनिस्टिक-यथार्थवाद' (Humanistic realism), 'सामाजिक-यथार्थवाद' (Social

realism) तथा 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense realism)। इन तीनों का वर्णन 'शिक्षा-मनोविज्ञान' (चन्द्रावती लखनपाल कृत) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही कर दिया गया है। 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) का शुद्ध रूप 'इन्द्रिय-यथार्थ-वाद' (Sense realism) है। 'प्रकृतिवाद' का 'शिक्षा' पर निम्न प्रभाव पड़ा :—

प्रकृति-वाद या इन्द्रिय-यथार्थवाद (Naturalism or Sense Realism) का शिक्षा पर प्रभाव—

(१) अब तक शिक्षा में पुस्तकों को बहुत अधिक महत्व दिया जाता था। पाठशाला का आधे से अधिक समय ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी, फ़ारसी पढ़ाने में नष्ट कर दिया जाता था। व्याकरण तथा कोश जैसी पुस्तकें रट लेना विद्यार्थी के जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य था। पुस्तकों का पांडित्य दिखा सकने में शिक्षा का महत्व समझा जाता था। 'प्रकृति-वाद' या 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Naturalism or Sense realism) ने इस प्रवाह को रोक दिया।
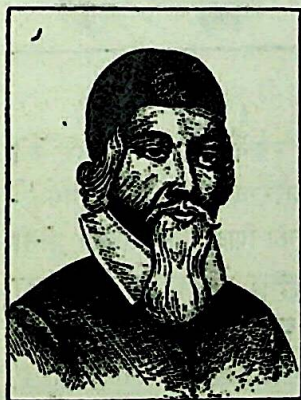
कोमिनियस
(१५९२–१६७०)

(२) शुरू-शुरू में बेकन तथा कोमिनियस ने कहा कि शिक्षा का काम पुस्तकें पढ़ा देना नहीं अपितु प्रकृति के अनुसार बालक को चलाना है। इसी आवाज़ को रूसो ने और ज़ोर से उठाया। उसने कहा कि बालक को अपने स्वभाव के अनुसार विकसित होने दो— समाज से परे, चालू स्कूलों के

वातावरण से दूर, शिक्षक की त्यौरी से हट कर, प्राकृतिक वातावरण में बालक का उचित विकास हो सकता है। हम बालक को पुस्तकों से, अध्यापकों से, और न जाने किस-किस चीज़ से ऐसे घेर देते हैं मानो वह कैदी हो। हमें शिक्षा देने की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी जिस प्रकार की शिक्षा हम दे रहे हैं उसे हटा लेने की।

(३) बालक के ऊपर पोथियाँ लाद देना, यह समझना है कि वह 'बालक' नहीं, 'मनुष्य' है। हम यह भूल जाते हैं कि बालक बालक है। रूसो ने बालक को अपना खोया हुआ स्थान दिया। उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि बालक भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से गुज़रता है। पहले शैशवावस्था आती है, फिर बचपन, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और फिर परिपक्वावस्था आती है। रूसो ने एक कल्पित बालक का एमिलो (Emile) नाम रखकर उसके जीवन को शिशु-काल, बचपन, बाल्य-काल, किशोरावस्था तथा परिपक्वावस्था—इन पाँच भागों में बाँटकर उसकी शिक्षा किस प्रकार होनी चाहिये इसका वर्णन किया। हर अवस्था में बालक में भिन्नता आती है। रूसो के इसी वर्णन से बालक की 'मूल-शक्तियों' (Instincts), 'स्थायीभावों' (Sentiments) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) आदि का अध्ययन होना प्रारम्भ हुआ। रूसो के दर्शाए मार्ग पर चल कर ही बालक को एक स्वतंत्र

रूसो
(१७१२–१७७८)

'व्यक्ति' (Individual) समझा जाने लगा और शिक्षा में 'व्यक्ति-वाद' (Individualism) का सूत्र-पात हुआ। 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का भी इसी समय से बीज पड़ा समझना चाहिये।

(४) 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि शिक्षा में 'विज्ञान' पर बल देना चाहिये। शिक्षा की पद्धति के विषय में 'प्रकृति-वाद' ने कहा कि बालक को पुस्तकों से घेरने के स्थान में ऐसी प्राकृतिक परिस्थितियों से घेर देना चाहिये जिससे वह स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सके। इसी को 'ह्यु रिस्टिक मैथड' (Heuristic Method) कहा जाता है। बालक जो सीखे स्वयं सीखे, परीक्षण करता जाय और सीखता जाय, करे और सीखे (Learning by doing) —इन सब सिद्धान्तों को 'प्रकृति-वाद' (Naturalism) ने प्रोत्साहित किया। अब तो बालक को शिक्षा का केन्द्र बना दिया गया है, और इसी का परिणाम है कि शिक्षक या पाठविधि मुख्य होने के स्थान पर शिक्षा में बालक ही मुख्य समझा जाने लगा है। इसी भावना के प्रबल हो जाने से 'डाल्टन-प्लैन'—'प्रोजेक्ट-पद्धति'—'मान्टी-सरी-पद्धति' आदि का निर्माण हुआ है। 'मनोविश्लेषण वाद' (Psycho-analysis) में बच्चों के दोषों तथा अपराधों की तरफ़ भी 'प्रकृति-वाद की लहर ने शिक्षकों का ध्यान आकर्षित किया है।

४. क्रिया-सिद्धि-वाद (PRAGMATISM)

अमरीका में जान ड्यूई (१८५९-१९५२) ने शिक्षा में 'क्रिया-सिद्धिवाद' (Pragmatism) की स्थापना की। इसके आधार-भूत तत्व निम्न हैं :—

(१) किसी भी सिद्धान्त को परखने की कसौटी यह

है कि उससे क्रिया-सिद्धि किस प्रकार होती है, 'अनुभव' (Experience) में वह कैसा जंचता है। क्या वह सिद्धान्त हमारे उद्देश्य को पूरा करता है, या नहीं, हमारी समस्याओं को हल करता है, या नहीं। अगर पूरा करता है, अगर उससे हमारी क्रिया-सिद्धि होती है, अगर वह हमारी समस्याओं को हल करता है, अगर 'अनुभव' से यह ठीक जंचता है, तब तो वह ठीक है, अन्यथा नहीं। संसार में 'निरपेक्ष-सत्य' (Absolute truth) कहीं नहीं, परमार्थ-सत्य का विचार मनुष्य को आगे बढ़ने से रोकता है। हम अनुभव से, किसी चीज़ से काम लेकर ही बता सकते हैं कि वह वस्तु कारगर है या नहीं, अगर उससे क्रिया-सिद्धि होती है, तब ठीक, नहीं होती, तब सब लोग मिल कर भी उसका समर्थन क्यों न करें, वह निरर्थक है।

(२) इसके अतिरिक्त हम व्यक्ति पर स्वतंत्र रूप में विचार कर ही नहीं सकते। वह घर में जन्म लेता है, स्कूल में जाकर एक सामाजिक समुदाय में रहता है, स्कूल से निकलकर भी समाज में ही जीवन व्यतीत करता है। या तो वह समाज में जीवन व्यतीत कर रहा होता है, या समाज में जीवन व्यतीत करने की तय्यारी कर रहा होता है। इसलिए किसी भी बात को परखने का दूसरा सिद्धान्त यह है कि उससे 'सामाजिक-सौकर्य' (Social efficiency) कहाँ तक बढ़ता है।

(३) हमारा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन गुथा हुआ है, उसमें पृथकता नहीं, एकता है। डाक्टर को दुकानदार से, दुकानदार को वकील से, वकील को अध्यापक से, अध्यापक को बढ़ई से, और इन सब को एक दूसरे से काम पड़ता है। 'सामाजिक-सौकर्य' (Social efficiency) तभी हो सकता है जब समाज एक समुदाय के रूप में बर्ते। हमारा एक-दूसरे

से जो सम्बन्ध है उसे हम पहचानें और सब का सब के साथ सहयोग हो—हम अपने-अपने पृथक्-पृथक् समुदाय में ही अपने को उस प्रकार न बाँधे रहें, जैसे जाट जाटों की, बनिये बनियों की और राजपूत राजपूतों की बिरादरी बनाये बैठे हैं। 'सामाजिक-सौकर्य' के लिये सब इतरेतराश्रय ही रह सकते हैं।

इस 'वाद' का 'शिक्षा' पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ रहा है। ड्यूई का कथन है कि जब बालक के विषय में हम उसे समाज से अलग करके सोच ही नहीं सकते, वह हर समय या तो समाज में है, या सामाजिक जीवन के लिये तय्यारी कर रहा है, तब आदर्श पाठशाला की कल्पना करते हुए हमें यही सोचना होगा कि पाठशाला भी एक छोटा-सा समाज है। 'परिवार', 'पाठशाला' और 'समाज' के वातावरण में अगर ज़मीन-आसमान का अन्तर है, तो वे तीनों असफल सिद्ध होंगे। तीनों का पारस्परिक सामञ्जस्य आवश्यक है। कई लोग गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में यही आक्षेप करते हैं कि उसमें ब्रह्मचारियों को सामाजिक परिस्थितियों से निरा कोरा रखा जाता है। 'गुरुकुल' शब्द का अर्थ है 'गुरु' का 'कुल', अर्थात् 'परिवार'। 'गुरुकुल' का अर्थ है कि परिवार की भावना घर में ही नहीं पाठशाला में भी बनी रहे, इस दृष्टि से इनका उद्देश्य वर्तमान पाठशालाओं से बहुत ऊंचा है। हाँ, सामाजिक परिस्थितियों से गुरुकुलों को दूर रखा जाता है—यह अवश्य विचारणीय है। जो पाठशाला बालकों को सामाजिक जीवन के लिये तय्यार नहीं करती वह असफल है। पाठशाला तथा समाज में सिर्फ़ इतना ही अन्तर होना चाहिए कि समाज का दूषित वातावरण पाठशाला में न हो, परन्तु अगर इतना भारी अन्तर है कि पाठशाला में रहते हुए बालक समाज से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, उन्हें बाज़ार में सौदा लेना नहीं आता, बैंक

में रुपया जमा नहीं कर सकते, रेलगाड़ी में इकले सफ़र नहीं कर सकते, तब पाठशाला बालकों को सामाजिक जीवन में चतुर नहीं बना सकती।

हम समाज में देखते हैं कि वे ही व्यक्ति किसी काम को तत्परता से, उत्साह से और सफलता से करते हैं जो अपने सामने किसी लक्ष्य को बना लेते हैं। हमें मकान बनाना है. फिर हम तत्परता से सब काम छोड़ कर उसमें जुट जाते हैं, अगर अपने रहने के लिए मकान बनाना है, तब तो तत्परता और भी बढ़ जाती है। बालकों के सम्मुख भी जब इसी प्रकार का कोई लक्ष्य होता है तब उनकी क्रिया-शीलता चरम सीमा को पहुंच जाती है। शिक्षा देते हुए बालक के सम्मुख कोई 'लक्ष्य' (Object), कोई 'प्रयोजन' (Purpose), कोई 'योजना' (Project), कोई 'समस्या' (Problem) रख देनी चाहिए, फिर वह उसे हल करने में जी-जान से जुट जाता है। जब बालक इस प्रकार किसी 'प्रयोजन' या 'योजना' को लेकर चलता है तब वह 'अनुभव' से काम करके बहुत-कुछ सीख जाता है। 'क्रिया-सिद्धि-वाद' (Pragmatism) का यह भी कथन है कि समाज में सब एक-दूसरे के सहारे टिके हुए हैं इसलिये पढ़ाई में भी प्रत्येक विषय को दूसरे से जोड़कर पढ़ाना ही पढ़ाने का सर्वोत्तम प्रकार है, इसी सिद्धान्त को शिक्षा-शास्त्री, 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation) का सिद्धान्त कहते हैं। अगर बालकों को बगीचा बनाने में जुटा दिया जाय, और साथ ही उन्हें यह कह दिया जाय कि जो साग-सब्ज़ी होगी वह उन्हीं की अपनी होगी, तो वे बगीचा लगाते-लगाते सिर्फ़ कृषि ही नहीं सीखेंगे, कौन बीज कहां होता है, कितने बीज लगाये हैं, कहाँ से कितने में खरीदे हैं—इन सब बातों को सीखते-सीखते गणित, भूगोल, दुकानदारी आदि कई

बातें सीख जायेंगे। इसी विचार-धारा का अनुसरण करते हुए ड्यूई के शिष्य किलपैट्रिक ने 'प्रोजेक्ट-पद्धति' (Project method) को जन्म दिया है।

प्रश्न

१. 'समाज की आवश्यकता तथा विचारधारा के साथ-साथ शिक्षा के उद्देश्य भी बदलते जाते हैं'—इस कथन को स्पष्ट करते हुए समझाइये कि देश की विचारधारा के बदलने के साथ शिक्षा के प्रकार में क्यों भेद पड़ जाता है ?

२. दार्शनिक विचारों का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उदाहरण देकर समझाइये।

३. 'आदर्शवाद' (Idealism) के आधारभूत तत्व क्या हैं, और उनका शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

४. 'प्रकृतिवाद' 'आदर्शवाद' के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी—इस कथन को समझाइये।

५. 'प्रकृतिवाद' (Naturalism) अथवा 'इन्द्रिय-यथार्थवाद' (Sense Realism) का शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा ?

६. 'क्रिया-सिद्धि-वाद' (Pragmatism) क्या है ? इसका जॉन ड्यूई से क्या सम्बन्ध है ? इस वाद का शिक्षा पर क्या प्रभाव है ?

५

शिक्षा के साधक-अंग

(FACTORS IN EDUCATION)

प्राय: समझा जाता है कि शिक्षा पाठशाला में ही दी जाती है। कुछ अंश में यह ठीक भी है, परंतु पाठशाला के अतिरिक्त शिक्षा के अन्य भी अनेक साधक अंग हैं। शिक्षा के साधक-अंगों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक तो वे अंग हैं जिनका स्कूल के साथ संबंध नहीं, दूसरे वे हैं जो स्कूल से सम्बन्धित हैं। हम पहले शिक्षा के उन साधक-अंगों का वर्णन करेंगे जिनका स्कूल के साथ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु फिर भी उनका बालक की शिक्षा पर भारी प्रभाव पड़ता है। वे अच्छे हों तो बालक अच्छा, और वे बुरे हों, तो बालक बुरा बन जाता है। ये साधक-अंग निम्न लिखित हैं :—

१—स्कूल से असम्बद्ध शिक्षा के साधक-अंग

क. घर तथा परिवार

ख. समाज तथा धार्मिक संस्थाएं

ग. सिनेमा तथा रेडियो

घ. संग्रहालय

ङ. वाचनालय तथा पुस्तकालय

घर तथा परिवार—

बालक की शिक्षा का प्रारम्भ घर तथा परिवार में होता है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शिक्षा का बीज घर

में ही पड़ जाता है। माता-पिता व्यायाम करते हैं तो वालक को व्यायाम का शौक हो जाता है। वे पढ़ते-लिखते हैं तो उन्हें देख कर वह भी पढ़ने का शौकीन हो जाता है, वे नियमित सन्ध्या-हवन करते हैं तो वह भी धार्मिक-वृत्ति का हो जाता है। इसके विपरीत जिस परिवार में माता-पिता आलसी होते हैं, सिगरेट-शराब पीते हैं, उस परिवार के वालकों से यही आशा की जा सकती है कि वे आलसी होंगे, सिगरेट-शराब पियेंगे। परिवार के सदस्यों के जो विचार होते हैं, देश की राजनीतिक समस्याओं पर उनकी जो सम्मतियाँ होती हैं, उन्हें सुन-सुन कर बालक भी वैसे ही विचारों के हो जाते हैं। अगर घर का वातावरण अच्छा है, माता-पिता आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं, तो बच्चे भी नम्र स्वभाव के, आज्ञाकारी होते हैं; अगर माँ-बाप में डण्डा चलता रहता है, गाली-गलौज हुआ करती है, तो वालक भी किसी वात की कसर नहीं छोड़ते। जिन घरानों का नैतिक माप-दण्ड बहुत ऊंचा होता है उनमें वालक भी विना विशेष प्रयत्न के उतने ऊंचे उठ जाते हैं। घर में स्वाभाविक तौर पर सफ़ाई रहती है, तो बालकों के स्वभाव में सफ़ाई घुल-मिल जाती है, अगर घर में वस्तुएं जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी रहती हैं, तो वालक भी किसी वस्तु को सम्भाल कर रखना नहीं सीखता।

समाज तथा धार्मिक संस्थाएं—

समाज के वातावरण का, और विशेषतया धार्मिक संस्थाओं का वालक की शिक्षा पर वड़ा प्रभाव पड़ता है। एक वालक हिन्दू घराने में पैदा हुआ है, वह जन्म से ही हिन्दू-धर्म को मानने लगता है। उसका जीवन का दृष्टि-बिन्दु दूसरे बालक से जो मुस्लिम घराने में हुआ है, भिन्न ही वना रहता है।

ईसाई घराने में जन्म लने वाला बालक हरेक बात को और ही दृष्टि से देखता है। धार्मिक दृष्टिकोण प्राय: जीवन की दिशा को बदल देता है। बुद्ध ने धर्म के प्रभाव में घर छोड़ दिया, महमूद गज़नी ने धर्म के प्रभाव में मन्दिरों को तोड़ना शुरू कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अब धर्म के प्रति निष्ठा धीरे-धीरे कम हो रही है, परन्तु फिर भी धर्म के नाम पर ही तो भारत के विभाजन के समय निरपराध तथा असहाय बच्चों तथा स्त्रियों के रुधिर से आततायियों ने अपने हाथ रंगे। धर्म का प्रभाव कम हो जायगा तो समाज में जो दिनोंदिन नवीन परिस्थितियाँ उत्पन्न होती जा रही हैं उनका असर बालक की शिक्षा पर होने लगेगा। हर हालत में समाज बालक पर प्रभाव डालता ही रहेगा।

सिनेमा तथा रेडियो—

आज सिनेमा बालकों की शिक्षा को बड़ी ज़ोर से प्रभावित किये हुए है। कभी-कभी स्कूलों-कालेजों के विद्यार्थी आधे टिकट में सिनेमा देखने का अधिकार पाने के लिये हड़ताल कर देते हैं। सिनेमा में प्रत्येक घटना को इस मोहक रूप में दर्शाया जाता है कि मस्तिष्क पर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है। शिक्षा की दृष्टि से अगर उच्च-कोटि के सिनेमा विद्यार्थियों को दिखाये जाँय तो बहुत लाभ हो सकता है, परन्तु जैसे निकम्मे सिनेमा आजकल चल रहे हैं उनके देखने पर राज्य की तरफ़ से प्रतिबन्ध होना चाहिये। रेडियो द्वारा निस्सन्देह अच्छे-अच्छे प्रोग्राम बच्चों को भेंट किये जाते हैं। क्योंकि रेडियो का नियन्त्रण राज्य के हाथ में है, अत: इससे उतने अवांछनीय संस्कार नहीं पड़ते जितने सिनेमा से पड़ जाते हैं। आजकल के यग में जब कि हरेक काम लोग आसानी से करना चाहते

हैं, कोई कष्ट नहीं उठाना चाहते, रेडियो शिक्षा का सर्वोत्तम साधन हो सकता है। घर बैठे संगीत, व्याख्यान, समाचार, समालोचनाएं सुन लेना रेडियो से ही सम्भव है।

संग्रहालय—

शिक्षा का अर्थ है संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान। संसार में हर जगह कौन जा सकता है? इसी उद्देश्य से संग्रहालयों का निर्माण किया जाता है जिससे सब जगह भटकने की जगह एक ही स्थान में सब-कुछ देखा जा सके। हम बालकों को इतिहास, भूगोल पढ़ाते हैं—वर्तमान तथा भूत की बातें बतलाते हैं, और भिन्न-भिन्न वस्तुओं की चर्चा करते हैं। संग्रहालयों द्वारा इन सभी का सहज ज्ञान हो जाता है। बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में सरकार की तरफ़ से संग्रहालय हैं, परन्तु प्रगतिशील सरकार को हरेक शहर में संग्रहालय बनाने चाहियें जिससे बालक उनमें सब वस्तुओं को अपनी आँखों से देखकर शिक्षा प्राप्त कर सकें। माता-पिता तथा शिक्षकों का भी कर्तव्य है कि वे समय-समय पर बालकों को संग्रहालयों में ले जाकर, जहाँ तक हो सके, प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान करायें।

वाचनालय तथा पुस्तकालय—

दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा शिक्षा का महान् भण्डार प्रतिदिन वितरण होता रहता है। इनमें सब प्रकार की सामग्री रहती है। राजनीति में रुचि रखने वालों के लिए राजसभाओं के भाषण, व्यापार में रुचि रखने वालों के लिए वस्तुओं के भाव, खेल में रुचि रखने वालों के लिए भिन्न-भिन्न साम्मुख्यों के समाचार—समाचार-पत्रों में सभी कुछ रहता है। जो बालक समाचार पढ़ने लग जाते हैं, उनकी आधी शिक्षा तो इन पत्रों द्वारा ही हो जाती है।

आजकल भिन्न-भिन्न शहरों में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों, म्यूनिसिपैलिटियों तथा सार्वजनिक संस्थाओं की तरफ़ से वाचनालय खुले हुए हैं जिन में प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध समाचार-पत्र आते हैं। शिक्षामें इनका बड़ा स्थान है। वाचनालय के अलावा पुस्तकालयों का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुस्तक ख़रीद सकना संभव नहीं, न ही प्रत्येक पुस्तक ऐसी होती है जिसे अपने पास रखना आवश्यक ही हो, किसी एक बात के जानने भर के लिये उस की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था में पुस्तकालयों का होना आवश्यक है ताकि पढ़ी-लिखी जनता उनसे ज्ञान-वृद्धि कर सके। हर्ष का विषय है कि राष्ट्रीय सरकार गाँवों में पुस्तकालयों की योजना पर विशेष ध्यान दे रही है।

२—स्कूल से सम्बद्ध शिक्षा के साधक-अंग

(अध्यापन तथा अध्यापक)

बालक की शिक्षा में स्कूल से असंबद्ध जो साधक-अंग हैं उनका वर्णन हम कर चुके। अब हम उन साधक-अंगों का वर्णन करेंगे जिनका स्कूल से ही विशेष सम्बन्ध है। स्कूल का संबंध मुख्य तौर पर 'बालक', 'अध्यापन' तथा 'अध्यापक'—इन तीनों से है। बालक के सम्बन्ध में तो हमने 'शिक्षा-मनोविज्ञान'-नामक अलग ग्रन्थ लिखा है, उस में बालक के संबंध में विस्तृत विवरण दिया गया है। अध्यापन में शिक्षक के लिए कौन-कौन-से साधक-अंग हैं उन का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है। इन्हीं अंगों को कई लेखकों ने 'शिक्षा की विधियों (Devices in Education) के नाम से दिया है। अध्यापन करते हुए शिक्षक को निम्न बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है:—

(क) अध्यापक की ध्वनि
(ख) अध्यापक की भाषा
(ग) विषय की तैयारी
(घ) प्रश्न तथा उनके पूछने की विधि
(ङ) प्रश्नों के उत्तर
(च) उदाहरण
(छ) व्याख्या तथा वर्णन
(ज) लिखित-कार्य
(झ) गृह-कार्य
(ञ) पाठ्य पुस्तक
(ट) श्यामपट
(ठ) स्कूल का संग्रहालय, वाचनालय, पुस्तकालय

अध्यापक की ध्वनि (Voice and Tone)—

कई अध्यापक एक ही ध्वनि में घंटे के शुरू से अन्त तक बोलते जाते हैं। यह ठीक नहीं। अच्छे व्याख्याता की तरह जहाँ ऊँचा बोलना हो वहाँ ऊँचा, जहाँ नीचा बोलना हो वहाँ नीचा बोलना चाहिये। एक ही ध्वनि को सुनते-सुनते बालक थक जाते हैं। कई अध्यापक बहुत चिल्लाते हैं। वे समझते हैं, जितना ही वे ऊंचा बोलेंगे उतना ही विद्यार्थी जल्दी समझेंगे। अस्ल बात यह है कि जब अध्यापक स्वयं किसी विषय को ठीक नहीं समझता तब ऊंचा चिल्लाकर सन्तोष करता है। बात समझाने से समझ में आती है, चिल्लाने से नहीं। न बहुत ऊंचा बोले, न बहुत नीचा, तुला हुआ बोले, और स्वयं ही न बोलता जाय, आवश्यकता पड़ने पर विद्यार्थियों को भी अपनी कहने दे—यही शिक्षा का ठोस नियम है।

अध्यापक की भाषा (Language)—

कई अध्यापक अपना पांडित्य दिखाने के लिए बच्चों के

सामने भी ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे बड़े भी न समझ सकें। बच्चों के सामने बच्चों की-सी, और बड़ों के सामने बड़ों की-सी भाषा का प्रयोग ही अच्छे शिक्षक की चतुरता है। भाषा भाव प्रकट करने का साधन है, पण्डिताई दिखाने का नहीं—विशेष तौर पर शिक्षक के लिये।

विषय की तैयारी (Preparation and Planning)—

प्राय: देखा गया है कि अध्यापक बिना किसी तैयारी के पढ़ाने आ बैठते हैं। जो स्वयं किसी विषय को नहीं समझा वह दूसरे को भी नहीं समझा सकता, इसलिए विद्यार्थी भी उनसे कुछ नहीं समझ पाते। ऐसे अध्यापक केवल पाठ्य-पुस्तक को पढ़ते जाते हैं—न उनके पल्ले कुछ पड़ता है, न लड़कों के पल्ले ! जो अध्यापक किसी विषय को जितना स्वयं गहराई से समझा हुआ होगा वह उतनी ही जल्दी विद्यार्थियों को समझा सकेगा—सूखे से तो नदी नहीं बहती, भरी झील से ही नदी निकलती है। तैयारी करते हुए अध्यापक को स्वयं कई नई-नई बातें सूझती हैं। प्रत्येक अध्यापक के लिए आवश्यक है कि जब भी पढ़ाने जाय पूरी तैयारी करके जाय, और अगर एक ही पाठ को अनेक वार भी क्यों न पढ़ाना पड़े, उसकी अनेक वार ही तैयारी करे। जो अध्यापक पूरी तैयारी से पढ़ाते हैं उनका अनुभव है कि पढ़ाते हुए उन्हें थकावट नहीं होती। इसका कारण यह है कि बिना तैयारी करके पढ़ाने में स्वयं समझने और विद्यार्थी को समझाने के दो काम इकट्ठे करने पड़ते हैं, और तैयारी के बाद पढ़ाने में केवल समझाने का ही काम करना पड़ता है।

पढ़ाने की तैयारी किस प्रकार करनी चाहिए इस विषय पर जर्मनी के शिक्षा-शास्त्री हर्बार्ट के पाँच शिक्षा-क्रम (Her-

bart's Five Steps) प्रसिद्ध हैं जो निम्नलिखित हैं :—

(क) तैयारी (Preparation)

(ख) निरीक्षण (Presentation)

(ग) तुलना तथा निष्कर्ष (Comparison and Abstraction)

(घ) नियम-निर्धारण (Generalisation)

(ङ) प्रयोग (Application)]
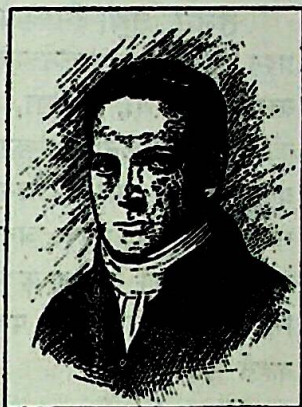
हर्बर्ट
(१७७६–१८४१)

तैयारी—तैयारी का उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी के सम्मुख आगे आने वाली समस्या को खोलकर स्पष्ट रख दिया जाय। उसे मालूम हो कि किस प्रश्न को उसे हल करना है। अध्यापक का कौशल इसी मं है कि आनेवाली समस्या को हल करने में विद्यार्थियों का अब तक का जो संचित ज्ञान है, अब तक का जो 'पूर्वानुवर्ती-ज्ञान' (Apperceptive mass) है, उसे जागृत कर दे, और उन्हें नवीन विषय के ज्ञान में किसी प्रकार की घबराहट न हो। इसके लिये ५-७ मिनट काफ़ी हैं।

निरीक्षण—अध्यापक का दूसरा काम उस सम्पूर्ण सामग्री को विद्यार्थियों के सम्मुख रख देना है, जिसके आधार पर वे अपने सामने खड़ी हुई समस्या को हल कर सकते हैं। कई उदाहरण, कई प्रयोग, कई घटनाएं विद्यार्थियों के सामने रख कर स्वयं परिणाम निकालने के लिये उन्हें तैयार करना होता है। इसमें सबसे अधिक समय लगता है। २५-३० मिनट इसमें लग जाते हैं।

तुलना तथा निष्कर्ष—प्रश्न के स्पष्ट हो जाने तथा उस प्रश्न पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री के उपस्थित हो जाने के बाद उदाहरणों, प्रयोगों, घटनाओं की समानता-असमानता को, उनकी तुलना को करना आवश्यक है। यह तुलना इस प्रकार करनी चाहिए जिससे विद्यार्थी स्वयं परिणाम निकाल सके। जब अध्यापक अनेक बातों को विद्यार्थी के सम्मुख रखकर उनकी तुलना करने लगता है तो उसमें से स्वयं कई नियम निकलते दीख पड़ने लगते हैं। इसी को 'निष्कर्ष' कहते हैं।

नियम-निर्धारण—निष्कर्ष निकलते ही विद्यार्थियों के सम्मुख खड़ा हुआ प्रश्न हल हो जाता है, समस्या, समस्या नहीं रहती, उन्हें नियम स्पष्ट रूप में दीखने लगता है। अगर विद्यार्थियों को नियम स्पष्ट न हो तो समझना चाहिये कि 'तैयारी' तथा 'निरीक्षण' में कहीं दोष रह गया है। विद्यार्थियों को ऐसा प्रतीत होना चाहिये कि उन्होंने स्वयं नियम-निर्धारण किया है, अध्यापक ने उन्हें अपनी तरफ़ से बता नहीं दिया।

प्रयोग—नियम-निर्धारण कर चुकने पर उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिये उसे भिन्न-भिन्न जगह, और भिन्न-भिन्न प्रकार से घटाकर दिखाना चाहिए, जिस से विषय बिल्कुल स्पष्ट हो जाय, उसमें रही-सही अस्पष्टता भी न रहे। इस प्रकार 'प्रयोग' के बाद शिक्षक को बालकों से प्रश्न पूछने चाहियें जिससे उसे मालूम पड़ जाय कि बालक विषय को कहाँ तक समझे हैं।

विचार करने की प्रक्रिया में 'आगमन' (Inductive) तथा 'निगमन' (Deductive)—ये दो प्रक्रियाएं होती हैं।

इनका वर्णन इसी पुस्तक में अन्य स्थान पर किया गया है। हर्बर्ट के इन पाँच क्रमों में 'आगमन' (Induction) तथा 'निगमन' (Deduction) दोनों को जोड़ दिया गया है, और इनके जुड़ कर काम करने से ही विचार-प्रक्रिया ठीक तौर पर चलती है।

प्रश्न तथा उनके पूछने की विधि (Types of Questions)—

प्रश्नों द्वारा विषय को स्पष्ट करने का तरीक़ा बहुत पुराना है। उपनिषदों में शिष्य प्रश्न करते हैं, गुरु उत्तर देते हैं। कभी-कभी गुरु भी प्रश्नों द्वारा शिष्य को सिखाता है। सुक-रात की अपने विचारों को जनता तक पहुंचाने की प्रणाली 'प्रश्न-प्रणाली' ही थी। अध्यापक भी विद्यार्थी से प्रश्न करके उसी से उत्तर निकलवा सकता है, और उस के उत्तरों से समझ सकता है कि विद्यार्थी विषय को समझा या नहीं।

प्रश्न दो प्रकार के हो सकते हैं:—'जाँच करने वाले प्रश्न' तथा 'ज्ञान देने वाले प्रश्न'। 'जाँच करने वाले प्रश्न' पाठ के प्रारंभ तथा अन्त में किये जाते हैं। प्रारंभ में इसलिये जिससे नवीन विषय को समझने के लिये बालक तैयार हो जाँय। इनसे विषय समझने की भूमिका बंध जाती है। ये प्रश्न अन्त में इसलिये किये जाते हैं जिससे यह पता चल जाय कि बालक विषय को समझ गये हैं, या नहीं। 'ज्ञान देने वाले प्रश्न' नई बातें सिखलाते समय किये जाते हैं। इन प्रश्नों द्वारा बालक का मस्तिष्क नई बातों को खोजने की तरफ़ तेज़ी से चल पड़ता है। अगर शिक्षक देखे कि विद्यार्थी अभी विषय को समझने की तरफ़ ठीक-ठीक नहीं चला, तो छोटे-छोटे तथा सरल प्रश्नों द्वारा उसे ठीक दिशा की तरफ़ ले जाने का प्रयत्न

करना आवश्यक हो जाता है।

शिक्षक के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि प्रश्न कैसे हों ? प्रश्न सरल भाषा में पूछे जाने चाहियें, उनके अनेक उत्तर न होकर एक ही उत्तर होना चाहिये, छोटे होने चाहियें, एक प्रश्न में एक ही बात पूछनी चाहिये, प्रश्न में ही उत्तर नहीं आजाना चाहिये, हाँ-ना में ही उत्तर नहीं आना चाहिये, प्रश्न न विद्यार्थियों के बुद्धि-स्तर से बहुत ऊंचे ही होने चाहियें, न बहुत नीचे ही, उनका उत्तर सोचने में बुद्धि को कुछ ज़ोर लगाना पड़े इतने कठिन अवश्य होने चाहियें, और प्रश्न स्पष्ट तथा निश्चित होने चाहियें।

इसके अतिरिक्त शिक्षक के लिये यह भी जानना आवश्यक है कि प्रश्न किस ढंग से पूछने चाहियें। एक ही विद्यार्थी से बार-बार प्रश्न नहीं करना चाहिए, सारी कक्षा से प्रश्न करना चाहिए ताकि उत्तर देने के लिए सभी तैयार रहें, फिर भले ही किसी से भी पूछ लिया जाय, प्रश्न करते हुए किसी एक विद्यार्थी की तरफ़ संकेत कर देने से दूसरे सोचना छोड़ देते हैं इसलिए प्रश्न पूछने से पहले किसी की तरफ़ संकेत नहीं करना चाहिए, प्रश्न करते हुए कठोरता नहीं धारण करनी चाहिए, इस ढंग से प्रश्न करने चाहियें जिससे जिन विद्यार्थियों को विषय नहीं आता उन्हें भी स्पष्ट होता जाय।

प्रश्नों के उत्तर (Answers)—

प्रायः बालक मुंह-मुंह में ही उत्तर दे जाते हैं, वे इतना अस्पष्ट उत्तर देते हैं कि पास खड़े हुए को भी सुनाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि उन्हें अपने उत्तर के ठीक होने का भरोसा नहीं होता। जो बालक जितना ठीक जानता होगा वह उतना ही स्पष्ट और ज़ोरदार उत्तर देगा। अगर बालक

ऐसा उत्तर दे जो आधा ठीक, आधा ग़लत हो, उसे सर्वथा ग़लत कह देना ठीक नहीं, उत्तर जितना ठीक हो उतना ठीक, जितना ग़लत हो, उतना ही ग़लत बतलाना चाहिए। विद्यार्थियों को यह भी अभ्यास कराना चाहिए कि उत्तर देते हुए क्रम-बद्ध विचार-धारा में उत्तर दें, यूंही असम्बद्ध रूप से न बोलते जाँय। अगर उनसे भारतीय स्वतन्त्रता पर निबन्ध लिखने को, या अपने विचार प्रकट करने को कहा जाय, तो शिक्षक के लिए यह देखना आवश्यक है कि विद्यार्थी किसी क्रम से अपने विचारों को प्रकट करता है, या यूंही जो विचार आता जाता है उसे लिखता या कहता चला जाता है। उत्तर देते हुए अपने विचारों को किसी क्रम में प्रकट करने की आदत विद्यार्थी में डालनी चाहिये।

उदाहरण (Illustration)—

किसी चीज़ को समझने के लिए उस चीज़ को दिखा देना या उससे मिलती-जुलती चीज़ को दिखा सकना शिक्षा में बहुत उपयोगी है। मॉडल, चित्र, ड्राइंग से हम उस चीज़ के असली रूप को नहीं तो उससे मिलते-जुलते रूप को दिखा सकते हैं। सब से अच्छा तो यह है कि उस वस्तु को ही दिखा दिया जाय, उसे न दिखा सकें तो उसके मॉडल बना कर दिखाना चाहिये, यह न हो सके तो उसका चित्र दिखा देना चाहिए, चित्र भी न मिले तो अपने हाथ से उस की ड्राइंग बना कर दिखा देना चाहिए क्योंकि आँखों द्वारा जो वस्तु देखी जाती है उससे अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है। जहाँ तक हो सके चित्रों में अशुद्धि नहीं होनी चाहिए क्योंकि अगर बालक अशुद्ध चित्र को देखकर कोई विचार बना लेगा तो उसी को ठीक समझने लगेगा।

व्याख्या तथा वर्णन (Explanation and Description)—

कई बातें अध्यापक की व्याख्या तथा उसके विशेष वर्णन के विना विद्यार्थियों को स्पष्ट नहीं होतीं। शिक्षा की पुस्तक में कहीं 'मौनीटर-पद्धति' शब्द आ गया। इतने से विद्यार्थी को क्या पता लग सकता है? शिक्षक को इसकी व्याख्या करनी होगी। कभी-कभी व्याख्या के अतिरिक्त किसी-किसी बात का वर्णन भी करना होगा। पढ़ाते-पढ़ाते 'अमरीका की राज्य-क्रान्ति' का कहीं उल्लेख आ गया। यहाँ व्याख्या से काम नहीं चलेगा क्योंकि व्याख्या तो शब्द के अर्थ का खुलासा करती है; यहाँ 'अमरीका की राज्य-क्रान्ति' का छोटा-मोटा वर्णन कर विद्यार्थियों को समझाना होगा।

लिखित-कार्य (Written Work)—

अध्यापक विद्यार्थियों को लिखित-कार्य देते हैं, परन्तु अगर वे उसे जाँचते नहीं तो यह-सब बेकार है। जाँचने पर भी अगर विद्यार्थी को यह पता नहीं लगता कि उसने क्या अशुद्धि की है, तब भी लिखित-कार्य देना बेकार है। प्राय: देखा जाता है कि विद्यार्थी एक ही अशुद्धि को बार-बार करते हैं। इसका यही कारण है कि लिखित-कार्य किसी ढंग से नहीं चलता। कई अध्यापक इतना लिखित-कार्य दे देते हैं जिसे जाँच नहीं सकते, कई अध्यापक इतने सुस्त होते हैं कि कार्य देकर भी उसे नहीं जाँचते। सबसे अच्छा यह है कि अध्यापक लिखित-कार्य देखकर मोटी-मोटी अशुद्धियाँ नोट कर ले और सबको कक्षा में समझा दे ताकि विद्यार्थी वैसी अशुद्धियाँ आगे से न करें। यह भी अच्छा है कि जिसकी कापी हो उसी से अपने सामने जाँच कराये और उसी से प्रश्न कर-करके शुद्ध कराये ताकि वह आगे से वैसी अशुद्धि न करे।

गृह-कार्य (Home Work)—

प्रायः विद्यार्थी पुस्तकों का थैले-का-थैला घर ले जाते हैं। प्रत्येक अध्यापक उन्हें भरपूर कार्य घर करने के लिए दे देता है। काम इतना हो जाता है कि या तो विद्यार्थी कुछ करके ही नहीं लाते, अगर लाते हैं तो सव बेसिरा। जल्दी-जल्दी में हो भी क्या सकता है। भारतीय परिस्थिति में तो कई वालक ऐसे भी हैं जिन्हें स्कूल में जाकर पढ़ना होता है, घर में आकर माता-पिता का घर के काम में भी हाथ बंटाना होता है। उनके लिये तो स्कूल में दिया हुआ गृह-कार्य कर सकना असंभव हो जाता है। गृह-कार्य की समस्या को हल करने के लिये आवश्यक है कि अध्यापकों का आपस में सह-योग हो। एक दिन एक अध्यापक कार्य दे, दूसरे दिन दूसरा। इस उद्देश्य से एक ही कक्षा-के अध्यापकों का परस्पर मिल कर सव-कुछ तय कर लेना आवश्यक है, तभी गृह-कार्य देने से कुछ लाभ हो सकता है, और यह समस्या हल हो सकती है।

पाठ्य-पुस्तक (Text Book)—

आजकल इस बात पर वल दिया जाता है कि पाठ-विधि में 'पाठ्य-पुस्तक' न रखकर 'पाठ्य-विषयों' का निर्देश कर देना चाहिए, और अध्यापक तथा विद्यार्थी को अनेक पुस्तकों में से स्वयं मेहनत करके भिन्न-भिन्न विषयों को स्वयं पढ़ना चाहिये। बात भी ठीक है। जव विद्यार्थी भिन्न-भिन्न पुस्तकों में से किसी विषय की तैयारी करेगा तव उसका ज्ञान एक ही पाठ्य-पुस्तक में से सव-कुछ पढ़ जाने की अपेक्षा अधिक होगा। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि अभी हमारे शिक्षक भी इस योग्य नहीं जो भिन्न-भिन्न पुस्तकों में से अपने विषय की तैयारी करके विद्या-र्थियों को पढ़ायें। कालेज के प्रोफ़ेसरों के लिए तो यह बात

ठीक है कि वे एक ही पाठ्य-पुस्तक पर निर्भर न कर सब जगह से संग्रह करके एक विषय को विशद करने का प्रयत्न करें, परन्तु अभी स्कूलों में जो अवस्था है उसे देखते हुए पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। हाँ, अच्छा यही है कि विद्यार्थियों में इतनी योग्यता उत्पन्न कर दी जाय जिससे वे अपने परिश्रम से 'पाठ्य-पुस्तक' पर निर्भर न रह कर 'पाठ्य-विषय' को भिन्न-भिन्न ग्रन्थों से बटोर सकें। छोटी कक्षाओं के लिए तो हर हालत में पाठ्य-पुस्तकों की ही आवश्यकता रहेगी और उन्हें ऐसे ढंग से लिखना होगा जिस से बालक उन्हें आसानी से समझ सकें।

श्यामपट (Black-Board)—

शिक्षक श्यामपट को मेज़-कुर्सी की तरह स्कूल का फ़र्नीचर-मात्र समझते हैं, शिक्षा में इसके महत्व को नहीं समझते। मनो-विज्ञान का यह नियम है कि ज्ञान जितने भी अधिक द्वारों से आता है उतना ही मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ता है। कान से सुनने के साथ-साथ आँख से देखना ज्ञान को स्पष्ट तथा निश्चित बनाता है। शिक्षक को श्यामपट का अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिए। जो-कुछ वह पढ़ाता जाय उसका निचोड़ श्यामपट पर लिखता जाय ताकि विद्यार्थियों के लिए सब-कुछ स्पष्ट होता जाय। लिखते हुए शुद्ध लिपि में लिखना आवश्यक है, नहीं तो अध्यापक के टेढ़े-मेढ़े अक्षरों की नकल करने के कारण विद्यार्थियों के अक्षर भी विगड़ सकते हैं। श्यामपट का प्रयोग करते हुए शिक्षक को एक तरफ़ खड़े होकर लिखना चाहिए, कई शिक्षक बोर्ड के सामने खड़े होकर लिखने लगते हैं; श्यामपट ऐसी जगह रखना चाहिए जहाँ से सब विद्यार्थी देख सकें, जहाँ पर्याप्त प्रकाश हो, जहाँ चौंध न पड़ती

हों; श्यामपट पर इतनी ही बातें लिखनी चाहियें जो उसे इतना न भर दें कि वह किताब-सी बन जाय; पुराने निशान मिटा देने चाहियें; श्यामपट पर समय-समय पर स्याही फिरवा लेनी चाहिए, ताकि वह ठीक काम दे सके; पट को ठीक रखने की विद्यार्थियों की बारी बाँध देनी चाहिए।

संग्रहालय, वाचनालय, पुस्तकालय—

स्कूल से बाहर जो संग्रहालय (Museums), वाचनालय (Reading Rooms) तथा पुस्तकालय (Libraries) हैं उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। स्कूल के भीतर भी संग्रहालय, वाचनालय तथा पुस्तकालय का होना आवश्यक है। भूगोल, जीव-विज्ञान आदि के अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को अपना संग्रहालय बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, स्कूल का अपना संग्रहालय तो होना ही चाहिए। स्कूल के वाचनालय तथा पुस्तकालय में ऐसी पुस्तकें रहनी चाहिएँ जो विद्यार्थियों के सामान्य-ज्ञान को बढ़ाएँ। पाठ्य-पुस्तकों की कई-कई प्रतियाँ रहनी चाहिएँ ताकि ग़रीब विद्यार्थी उनसे लाभ उठा सकें। प्रायः देखा जाता है कि स्कूल विद्यार्थियों से पुस्तकालय के नाम से फ़ीस लेते रहते हैं, परन्तु विद्यार्थियों में पुस्तकें पढ़ने का शौक पैदा नहीं करते। जिस किसी तरह हो फ़ीस जमा हो जाय, रुपया आ जाय, यह हमारा उद्देश्य नहीं होना चाहिए। शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालक जिस स्तर का हो उसे वैसी पुस्तक पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जाय। बचपन में कहानी की पुस्तक पढ़ना समझ में आता है, परन्तु उम्र भर कहानी-ही-कहानी पढ़ते रहना सिद्ध करता है कि हमने अपने बालकों में उत्तम पुस्तकें पढ़ने का शौक पैदा नहीं किया।

३—स्कूल से सम्बद्ध शिक्षा के अन्य साधक-अंग

(प्रधानाध्यापक)

हमने लिखा था कि स्कूल में 'बालक', 'अध्यापन' तथा 'अध्यापक' ये तीन मुख्य हैं जिन में से 'बालक' पर तो हम 'शिक्षा-मनोविज्ञान'-नामक विस्तृत ग्रन्थ लिख चुके हैं, 'अध्यापन' के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का हम अभी उल्लेख कर चुके, अब हम 'अध्यापक' के सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें लिखेंगे।

'अध्यापक' के कार्य में मुख्य काम 'प्रधानाध्यापक' का है। 'प्रधानाध्यापक' को स्कूल का प्रबन्ध करने के लिये अनेक बातें करनी होती हैं परन्तु हम यहाँ निम्न बातों पर ही कुछ लिखेंगे, अन्य बातों पर पुस्तक में जहाँ-तहाँ कहीं विस्तार और कहीं संक्षेप से लिखा ही गया है:—

(क) प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य समझना
(ख) समय-विभाग को बनाना
(ग) छात्रों के माता-पिताओं से सहयोग
(घ) छात्रावास का प्रबन्ध करना

प्रधानाध्यापक (Headmaster)—

'प्रधानाध्यापक' के सम्बन्ध में पुराना विचार यह था कि वह एक जल्लाद है, हाथ में बेंत लिये घूमता है—विद्यार्थी और अध्यापक दोनों उससे डरते थे। मौका पड़ने पर अध्यापक उसे सहयोग देने के स्थान में उसके विरुद्ध ऐसे षड्यंत्र रचते थे जैसे आततायी राजा के विरुद्ध प्रजा रचती है। वह डरता था तो सिर्फ़ इंस्पेक्टर से, और किसी से नहीं। अब ये सब विचार बदल गये हैं। 'प्रधानाध्यापक' के लिये आवश्यक है कि वह अपने जीवन तथा आचरण से अन्य अध्यापकों तथा विद्यार्थियों

के लिये आदर्श बन कर रहे, इस बात को समझे कि परीक्षा में पास करा देना मात्र उसका लक्ष्य नहीं है, विद्यार्थियों की शिक्षा के साथ उनके आचार-व्यवहार को बनाना भी उसका काम है, अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखे परन्तु उसके साथ ही हरेक के साथ सहानुभूति का बर्ताव करे, हर समय हुकूमत ही न चलाये, इस प्रकार बर्ते कि अपनी तरफ़ से प्रार्थना करे तो दूसरे उसकी प्रार्थना का आज्ञा की तरह पालन करें, साथ ही अध्यापकों का सहयोग पाने के लिये उन्हें भी सहयोग दे, पाठशाला की शाँति भंग करने वाले तत्वों को उत्पन्न ही न होने दे, हो जाँय तो उनका शीघ्र प्रतिकार करे, इंस्पेक्टर से डरने के बजाय उसे अपना मित्र समझे, माता-पिता के सहयोग को पाने का प्रयत्न करे, विद्यार्थियों के सामने ही अध्यापकों की त्रुटि प्रदर्शित न करे, जो-कुछ कहना हो अलग बुला कर कहे, विद्यार्थियों के खेल आदि में भाग ले, स्वयं खेल न सके तो उनके खेलों में उपस्थित अवश्य रहे।

समय-विभाग-चक्र (Time-Table)—

'प्रधानाध्यापक' को चाहिए कि समय-विभाग बनाते हुए कठिन विषयों को ऐसे समय में रखे जब बालकों के मस्तिष्क ताजे हों। स्कूल के अन्तिम घण्टों में गणित के प्रश्न हल करना असफलता को निमन्त्रित करना है। स्कूल लगने के दूसरे अन्तर में विद्यार्थी काम के लिए बहुत अधिक तैयार होता है क्योंकि पहले अन्तर में तो अभी वह बाहर से आया ही होता है, दूसरे अन्तर तक वह अपने को स्कूल के वातावरण के लिए बिल्कुल तैयार कर चुका होता है। विषयों में विविधता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। ज्यामिति के पीछे ही बीजगणित आ जाना ठीक नहीं। समय-विभाग ऐसा भी नहीं बनाना चाहिए जिससे एक दिन विद्यार्थी को पाँच विषयों

में गृह-कार्य करना पड़े, एक दिन सिर्फ़ दो विषयों में। गृह-कार्य के साथ समय-विभाग को मेल खाना चाहिए। छोटे-बालक ३० मिनट से ज़्यादा ध्यान नहीं जमा सकते, उनके अन्तर ३० ही मिनट के होने चाहिएँ, बड़ों के ४५ मिनट के, परन्तु जिन विषयों को कम समय मिलना चाहिए उन्हें कम ही देना चाहिए, परीक्षणों तथा हाथ के काम को ज़्यादा मिलना चाहिए अतः उन्हें ज़्यादा ही समय देना चाहिए। प्रत्येक कक्षा में 'समय-विभाग' की प्रति रहनी चाहिए। 'प्रधानाध्यापक' के कमरे में तीन तरह का समय-विभाग रहना चाहिए। एक ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय कौन-सी श्रेणी क्या कार्य कर रही है, दूसरा ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय कौन अध्यापक क्या कार्य कर रहा है, तीसरा ऐसा जिससे मालूम पड़ जाय कि इस समय किस अध्यापक का अन्तर खाली है। इससे प्रबन्ध में बहुत सुविधा होती है।

माता-पिताओं से सहयोग (Parental co-operation)—

इस समय अवस्था ऐसी है कि प्रधानाध्यापक की शक्ति एक दिशा में लग रही है, माता-पिताओं की उससे विरुद्ध दिशा में। अध्यापक चाहता है कि बालक पढ़े, माता-पिता चाहते हैं कि बालक पढ़ने के साथ-साथ घर का भी काम-काज करे, ब्याह-शादियों में भी जाय। अध्यापक का काम तभी ठीक से चल सकता है जब अध्यापक, बालक तथा माता-पिता एक ही दिशा में शक्ति लगायें।

इसका उपाय यही है कि माता-पिता अध्यापक के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और अध्यापक माता-पिता के साथ सहानुभूति पूर्ण संपर्क स्थापित करके उन्हें अपना दृष्टिकोण समझाये। अध्यापक के लिए प्रत्येक माता-पिता से वैयक्तिक

तौर पर मिल सकना तो संभव नहीं है, परन्तु बालकों द्वारा वह माता-पिता को अच्छी तरह प्रभावित कर सकता है। चतुर अध्यापक इस ढंग से काम कराता है कि बालक घर जाकर अपने माता-पिता से 'मास्टरजी' की ही चर्चा किया करता है। कई अध्यापक अपनी अकार्यकुशलता से अपने को लड़कों का उपहासास्पद बना लेते हैं, कई लड़कों की प्रतिष्ठा के केन्द्र बन जाते हैं। बालकों द्वारा ही अध्यापक तथा माता-पिता का परिचय होता है। अगर अध्यापक बालकों को ठीक तरह से प्रभावित कर सकेगा तो उसे बालकों की प्रेरणा से स्वयं माता-पिता का सहयोग प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त जब माता-पिता मिलने आयें तब उनसे सहानुभूति से मिलना माता-पिता के सहयोग का सबसे बड़ा साधन है।

छात्रावास का प्रबन्ध (Hostels)—

प्राचीन-काल में तो सब विद्यार्थी छात्रावासों में ही रहते थे, इन्हें 'गुरुकुल' कहा जाता था। आज विद्यार्थी घरों में रहते हैं, बाज़ारों के वातावरण से उनके संस्कार दूषित हो जाते हैं। अच्छी शिक्षा के लिये छात्रावासों का होना आवश्यक है, परन्तु 'छात्रावास' बना देना ही प्रर्याप्त नहीं है, उन्हें ठीक से चलाना और भी ज़्यादा आवश्यक है। छात्रावासों की आम शिकायत रहती है कि वहाँ सफ़ाई नहीं रहती, भोजन अच्छा नहीं मिलता, संगत बुरी होती है। इन्हीं को दूर करने के लिये तो 'छात्रावास' बनाये जाते हैं, केवल छात्रों की सुविधा के लिये नहीं बनाये जाते। आश्रमाध्यक्ष का कर्तव्य है कि स्वयं सारी सफ़ाई देखे—कहीं जाले तो नहीं, कहीं मकान पर घास-फूस तो नहीं उगने लगा, टट्टियां साफ़ हैं या नहीं? भोजन का प्रबन्ध लड़कों के हाथ में ही दे देने से भोजन की समस्या बहुत-कुछ हल हो जाती

हैं। बुरी संगत से बच्चों को बचाना वहुत आवश्यक है। बाहर के किसी व्यक्ति को छात्रावास में कभी नहीं रहने देना चाहिये, भले ही वह उसी स्कूल का छात्र रहा हो, किसी का मित्र हो, सगा-सम्बन्धी हो, नाही विद्यार्थियों को रात को बाहर रहने की आज्ञा देनी चाहिये। 'छात्रावास' के बालकों को कभी शादी पर, कभी सिनेमा में, कभी बाज़ार में जाने की आज्ञा देना 'छात्रावास' को विगाड़ देना है। इस दृष्टि से गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की तरफ़ अभी हमारी सरकार का ध्यान जाने की आवश्यकता है।

प्रश्न

१. शिक्षा के जिन 'साधक-अंगों' का स्कूल से संबंध नहीं उनका परि-गणन करते हुए प्रत्येक पर कुछ लिखिये।
२. शिक्षा के जिन 'साधक-अंगों' का स्कूल से संबंध है उनका परिगणन करते हुए 'विषय की तैयारी' के संबंध में हर्बार्ट के पांच शिक्षा-क्रमों पर विस्तार से प्रकाश डालिये।
३. प्रधानाध्यापक का कर्तव्य, समय-विभाग, माता-पिताओं का सहयोग —इन सब पर शिक्षा की दृष्टि से अपने विचार लिखिये।

६

शिक्षा के आधार-भूत सूत्र

(MAXIMS OF METHODS)

बालकों को क्या शिक्षा दी जाय, यह तो राज-शक्ति के आधीन है। जैसी शिक्षा देश के कर्ता-धर्ता लोग देना चाहेंगे शिक्षक को वैसी ही शिक्षा बालकों को देनी होगी। हाँ, उस शिक्षा को किस प्रकार बालकों के हृदय तथा मस्तिष्क में बैठा दिया जाय, यह कार्य शिक्षक कर सकता है। इस सम्बन्ध में शिक्षा-मनोविज्ञान को आधार बनाकर शिक्षा-शास्त्रियों ने कुछ सूत्र, कुछ नियम बनाये हैं जिनके अनुसार पढ़ाने से बालक प्रत्येक विषय को आसानी से समझ सकता है। वे सूत्र निम्न-लिखित हैं:—

१. विश्लेषण से संश्लेषण की तरफ़ जाओ (From Analysis to Synthesis)
२. अवयवी से अवयव की तरफ़ जाओ (From Whole to Part)
३. तार्किक-क्रम की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक-क्रम की तरफ़ जाओ (From Psychological to Logical order)
४. विशेष से सामान्य की तरफ़ जाओ (From Particular to General)
५. स्थूल से सूक्ष्म की तरफ़ जाओ (From Concrete to Abstract)
६. ज्ञात से अज्ञात की तरफ़ जाओ (From Known to Unknown)
७. सरल से विषम की तरफ़ जाओ (From Simple to Complex)
८. अनिश्चित से निश्चित की तरफ़ जाओ (Indefinite to Definite)
९. परीक्षणों से परिणामों की तरफ़ जाओ (Empirical to Rational)

विश्लेषण से संश्लेषण की तरफ़—

प्राय: समझा जाता है कि हमारा ज्ञान भिन्न-भिन्न अवयवों से मिल कर बनता है। पेड़ के ज्ञान का अभिप्राय है, टहनियों, पत्तों, फूलों तथा फलों का अलग-अलग ज्ञान। परन्तु बालक का ज्ञान इस प्रकार किसी वस्तु के अलग-अलग अंगों से मिल कर नहीं बनता। वह वृक्ष को देखता है, और टहनियों, पत्तों, फूलों, फलों वाली जो चीज़ सामने खड़ी है, उस सम्पूर्ण वस्तु को वृक्ष कहता है। वृक्ष के भिन्न-भिन्न अंगों का ज्ञान तो उसे बाद में होता है। परन्तु ज्ञान का अस्ली रूप तो तभी प्रकट होता है जब किसी वस्तु के सब अंगों का अलग-अलग ज्ञान हो, उन अंगों के परस्पर सम्बन्ध का भी ज्ञान हो। क्योंकि शुरू-शुरू में बालक को यह ज्ञान नहीं होता इसलिए उसका ज्ञान अस्पष्ट, अनिश्चित तथा असंबद्ध होता है। शिक्षक का काम बालक के ज्ञान को स्पष्ट, निश्चित तथा सम्बद्ध बनाना है। इसका क्या उपाय है? इसका उपाय यह है कि बालक को वृक्ष का 'विश्लेषण' करके बतलाया जाय, और विश्लेषण करने के बाद उसके सम्मुख उन्हीं अंगों का 'संश्लेषण' करके वृक्ष को खड़ा कर दिया जाय। इस प्रकार 'विश्लेषण' होने के बाद जब 'संश्लेषण' होता है तब बालक का ज्ञान स्पष्ट, निश्चित तथा सम्बद्ध हो जाता है। अगर किसी ने वृक्ष की ओर संकेत करके उसे बता दिया है कि यह आम का पेड़ है, तो वह हरेक पेड़ को आम का ही पेड़ समझता है। यह इसलिए, क्योंकि हरेक पेड़ की आकृति लगभग एक-सी होती है। इसी अस्पष्टता को दूर करने के लिए आवश्यक है कि आम के पेड़ के सम्बन्ध में उसके ज्ञान का उसके संमुख विश्लेषण किया जाय। जब बालक विश्लेषण करके पता लगायेगा कि आम के पेड़ पर तो आँबिया आती हैं, शीशम के

पेड़ पर नहीं, तब वह शीशम के पेड़ को आम का पेड़ नहीं कहेगा, और तब उसके ज्ञान में अनिश्चितता और अस्पष्टता भी नहीं रहेगी। 'विश्लेषण' से 'संश्लेषण' करके किसी वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकट कर देने से बालक को उस वस्तु के भिन्न-भिन्न अंगों, अवयवों का आपस का सम्बन्ध भी मालूम हो जाता है इसलिये उसका ज्ञान असम्बद्ध, बेमेल भी नहीं रहता।

'अवयवी' से 'अवयव' की तरफ़—

हमने अभी कहा था कि बालक का जो ज्ञान होता है वह अवयवी का होता है, अवयव का नहीं। मनोविज्ञान की परिभाषा में इस सिद्धांत को 'अवयवी-वाद' (Gestalt theory) कहते हैं। बालक जब किसी चीज़ को देखता है तब वह वस्तु अपने संपूर्ण रूप में उसके सामने आती है, अपने भिन्न-भिन्न अंगों के रूप में नहीं। 'अवयवी' का बालक को ज्ञान होता है अतः 'अवयवी' से ही उसे समझाना शुरू करना चाहिये, और 'अवयवी' (Whole) से प्रारम्भ करके 'अवयव' (Part) की तरफ़ आना चाहिये। इसी सिद्धान्त के आधार पर आजकल पहले शब्दों का ज्ञान कराया जाता है, फिर अक्षरों का। इस सिद्धांत का यह अर्थ नहीं है कि भूगोल पढ़ाते हुए 'पृथिवी' के ज्ञान से पढ़ाई शुरू करनी चाहिये, अपने देश या गांव से नहीं। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि बालक जिस 'अवयवी' (Whole) को जानता है उससे पढ़ाई शुरू करनी चाहिये, और क्योंकि इस दृष्टाँत में बालक के लिये पृथिवी 'अवयवी' नहीं है, अपितु उसके इर्द-गिर्द जो भू-भाग है वही उसका 'अवयवी' है, अतः उसीसे उसे भूगोल का ज्ञान शुरू कराना चाहिए।

'तार्किक-क्रम' की अपेक्षा 'मनोवैज्ञानिक-क्रम' की तरफ़—

हम बच्चों को पढ़ना सिखाते हैं। पहले अ-आ-ई सिखाया

जाय, या पहले 'आम' पढ़ना सिखा दिया जाय, और फिर 'शब्द-ज्ञान' के बाद 'अक्षर-ज्ञान' सिखाया जाय ? हमने अभी कहा था कि 'अवयवी' सें 'अवयव' की तरफ़ आना चाहिये क्योंकि 'अवयवी' को बालक जानता है, 'अवयव' को नहीं जानता। इसीलिये हमने यह भी कहा था कि पहले 'शब्द' सिखाने चाहियें, पीछे 'अक्षर'। इसी भाव को दूसरे-शब्दों में यह कह कर प्रकट किया जाता है कि बच्चों की शिक्षा मनोवैज्ञानिक-क्रम (Psychological order) से चलनी चाहिये, तार्किक-क्रम (Logical order) से नहीं। तार्किक दृष्टि से तो अक्षरों से शब्द बनते हैं, अतः अक्षर पहले सिखाने चाहियें। परन्तु नहीं, सिखाने में हमें तार्किक-क्रम को सम्मुख नहीं रखना, यह देखना है कि बालक के ज्ञान-ग्रहण का मनोवैज्ञानिक क्रम क्या है। इतिहास पढ़ाते हुए तार्किक-क्रम तो यह है कि संसार के प्रारंभ से इतिहास पढ़ाना शुरू किया जाय, परन्तु बालक को संसार के प्रारंभ में क्या रुचि हो सकती है ? बालक तो यह जानना चाहता है कि अपने देश में क्या हो रहा है ? कौन प्रधान-मन्त्री है, कैसा विधान बन रहा है, चुनाव कैसे होता है ? इसलिये संसार के प्रारंभ से इतिहास पढ़ाना शुरू करने के स्थान में अपने देशका इतिहास पहले पढ़ाना ही मनोवैज्ञानिक-क्रम है।

'विशेष' से 'सामान्य' की तरफ़—

हमारा सम्पूर्ण ज्ञान सामान्य का ही ज्ञान है। हम देवदत्त, यज्ञदत्त, ब्रह्मदत्त को देख कर 'मनुष्य' के ज्ञान पर पहुचते हैं, अगर हमें देवदत्त, यज्ञदत्त का ही ज्ञान हो, 'मनुष्य' का ज्ञान न हो, तो हम भवदत्त के सामने आने पर यह न समझ सकें कि यह क्या बला है। यज्ञदत्त आदि कई 'विशेष' रूपों को देख कर

हम जान जाते हैं कि ऐसे ही व्यक्ति को 'मनुष्य' कहा जाता है, और जब वैसा कोई व्यक्ति दिखाई देता है तो हम झट-से उसे भी 'मनुष्य' कह देते हैं। मनुष्य—इस 'सामान्य' विचार तक पहुंचने के लिये अनेक 'विशेष' मनुष्यों को देखना आवश्यक है। आम का पेड़, शीशम का पेड़, वट का पेड़—इन 'विशेष' पेड़ों को देखकर पेड़ का 'सामान्य' ज्ञान होता है। पढ़ाने का नियम यही है कि बच्चों को भिन्न-भिन्न चीजें दिखाकर, भिन्न-भिन्न उदाहरण देकर एक 'सामान्य'-नियम का ज्ञान करा दिया जाय, और 'सामान्य'-नियम को फिर भिन्न-भिन्न स्थानों पर घटा कर भी दिखा दिया जाय। केवल 'सामान्य'-नियम का ज्ञान करा देना पर्याप्त नहीं है, उसे घटा कर दिखाना उससे भी ज़्यादा आवश्यक है, क्योंकि जब बालक 'विशेष' से 'सामान्य' तक पहुँच जाता है, तब उस 'सामान्य' को फिर अन्य 'विशेषों' पर घटा कर अपने ज्ञान को अधिक परिष्कृत बना लेता है।

'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की तरफ़—

हम स्थूल बात को आसानी से समझते हैं, सूक्ष्म को कठिनता से। राजा हरिश्चन्द्र ने अपना वचन निबाहने के लिये अपने को बेच दिया—यह किस बालक को समझ में नहीं आता। अगर हरिश्चन्द्र की कथा सुनाये बिना बालकों को इतना ही कहा जाय कि 'सत्य' के लिये सब-कुछ करना चाहिये, तो वे कुछ नहीं समझेंगे। जो व्याख्याता कथा-कहानी सुनाता है उस की बात से कोई ऊबता नहीं, जो सिर्फ़ फ़िलासफ़ी छाँटता है उसके व्याख्यान में आधे से अधिक उठ जाते हैं। कथा-कहानी सुनाकर उसे किसी सूक्ष्म सत्य पर घटाया जाय, तो सब बड़े प्रसन्न होते हैं, इसके बिना सूक्ष्म-तत्वों के निरूपण को नीरस कहा जाता है। उपनिषदों की वर्णन-शैली 'स्थूल' से 'सूक्ष्म' की

तरफ़ चलती है। कहाँ 'ब्रह्म' का निरूपण और कहाँ कथा-कहानी, परन्तु उपनिषदों के ऋषियों ने कथा-कहानी से ही ब्रह्म-ज्ञान को रोचक बना दिया है। जब बड़ों के लिये उदाहरण, दृष्टान्त, किस्से आवश्यक हैं, जब वे स्थूल के बिना सूक्ष्म की तरफ़ नहीं जा सकते, तब बच्चों का तो कहना ही क्या है?

'विशेष से सामान्य' तथा 'स्थूल से सूक्ष्म'—इन दोनों सूत्रों में भेद यह है कि 'विशेष से सामान्य' में तो हम एक 'नियम' का पता लगाते हैं, 'स्थूल से सूक्ष्म' में यह आवश्यक नहीं कि 'नियम' का ही पता लगाया जाय। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, परोपकार आदि सूक्ष्म 'विचार' हैं, जो 'विशेष से सामान्य' द्वारा नहीं, परन्तु 'स्थूल से सूक्ष्म' की तरफ़ चलने से प्राप्त होते हैं।

'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़—

जो बात बालक के लिए बिल्कुल नई है उसे वह समझ नहीं सकता, समझने के लिए आवश्यक है कि वह बात उसके पहले प्राप्त किए हुए ज्ञान से मिलती-जुलती हो। पहला प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही नए ज्ञान प्राप्त करने में सहायक होता है। पंडित के लिए वेद के मंत्रों का कुछ अर्थ हो सकता है, एक जुलाहे के आगे वेद-मंत्रों की व्याख्या करने वाला ही मूर्ख कहाता है।

बालक का यह स्वभाव है कि वह बिल्कुल नई वस्तु को ग्रहण नहीं करता, इसलिए उसे जो-कुछ सिखाया जाय वह उसके लिए बिल्कुल नया नहीं होना चाहिये, साथ ही बालक अत्यन्त परिचित वस्तु को भी बार-बार नहीं सुनना चाहता, इसलिए जो-कुछ पढ़ाया जाय उसमें नवीनता का अंश होना भी आवश्यक है। 'ज्ञात' से अज्ञात' की तरफ़ जाने का यह अर्थ नहीं है कि अध्यापक अपने विषय में नवीनता का संचार न करे। नवीनता ही तो बालक की रुचि उत्पन्न करती है, नवीन बात को जानने

के लिए ही तो बालक उत्सुक रहा करता है, अतः 'ज्ञात' से 'अज्ञात' की तरफ़ जाते हुए जहाँ एकदम 'अज्ञात' से प्रारम्भ नहीं करना चाहिए वहाँ 'नवीनता' को भी ध्यान में रखना चाहिये।

'सरल' से 'विषम' की तरफ़—

जो बातें एकदम समझ में आ जाँय वे सरल हैं, जिन्हें समझने में देर लगे वे विषम हैं। 'सरल' से ही 'विषम' को समझा जा सकता है। जो शिक्षक छोटी-छोटी बातें समझा कर आगे बढ़ता है, वह कठिन-से-कठिन बातों को समझा लेता है। सब से मुख्य बात यह है कि बालक को जो-कुछ पढ़ाया जाय वह उसे समझ जाय। जब बालक किसी बात को समझ जाता है तब उसमें आत्म-गौरव की भावना उत्पन्न होती है, उत्साह होता है, आगे पढ़ने में रुचि होती है, और वह आगे बढ़ने लगता है। जब उसे कुछ समझ नहीं पड़ता तब वह हिम्मत ही हार बैठता है, और पढ़ाई में पछड़ने लगता है।

हाँ, अध्यापक के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो बात उसके लिए सरल है वह बालक के लिए विषम हो सकती है। 'सरल' से 'विषम' की तरफ़ जाने का अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक जिसे सरल समझे वह सरल है, जिसे विषम समझे वह विषम है। सरल और विषम बालक की दृष्टि से होता है, और बालक के लिये भी एक आयु में जो विषम है, वह दूसरी आयु में सरल हो जाता है।

'अनिश्चित' से 'निश्चित' की तरफ़—

बालक का मानसिक-विकास किस प्रकार होता है ? पहले उसका सम्पूर्ण ज्ञान अनिश्चित-सा होता है, फिर धीरे-धीरे निश्चित होता चला जाता है। गणित की संख्या से वह यही समझता है कि कोई 'बहुत बड़ी संख्या' है, भूगोल का ज्ञान

उसका अपने इर्द-गिर्द के इलाके के अनिश्चित-से ज्ञान के रूप में होता है। मद्रास के लोगों से जब कहा जाता है कि हम देहरादून से आ रहे हैं, तो वे कहते हैं, वही देहरादून जो अमृतसर के आस-पास है! शिक्षक का काम इस 'अनिश्चित' को हाथ में लेकर एक चतुर कला-विज्ञ की तरह 'निश्चित' का निर्माण करना है।

'परीक्षणों' से 'परिणामों' की तरफ़—

प्राय: देखा जाता है कि पानी के जो नलके ज़मीन में गड़े नहीं रहते वे भयंकर सर्दी पड़ने पर फट जाते हैं। यह एक घटना है, इसे देखकर बालक स्वाभाविक तौर पर जानना चाहता है कि ऐसा क्यों होता है। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह जान जाता है कि पानी जम कर फैलता है। क्योंकि नलका सब तरफ़ से बन्द है, अन्दर का पानी जम कर फैल गया है, अन्दर फैलने को जगह नहीं थी, अत: नलका फट गया है। इस प्रकार संसार में हो रही घटनाओं को देख कर या स्वयं परीक्षण करके बालक जब किसी परिणाम पर पहुँचता है तब वह उस विषय के ज्ञान को पा लेता है। शिक्षक का कर्तव्य है कि वह बालकों को परीक्षण करने में प्रोत्साहित करे ताकि वे स्वयं परिणाम निकाल सकें।

प्रश्न

१. शिक्षा के आधार भूत ९ सूत्र लिखिये।
२. 'तार्किक-क्रम की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक क्रम से बालकों को पढ़ाना चाहियें'—इस कथन को उदाहरण देकर समझाइये।
३. प्राय: बच्चों और बड़ों के ज्ञान में भी अस्पष्टता रहने का क्या कारण है?
४. अवयवीवाद (Gestalt theory) क्या है? शिक्षा पर इसका क्या प्रभाव है?

७

आगमन तथा निगमन पद्धति

(INDUCTIVE AND DEDUCTIVE METHOD)

पिछले अध्याय में हम शिक्षा के जिन आधार-भूत सूत्रों का वर्णन कर आये हैं, उन्हें 'आगमन' तथा 'निगमन'—इन दो में विभक्त किया जा सकता है। क्योंकि उन सब का इन दोनों से सम्बन्ध है अतः इस अध्याय में हम इन दोनों का वर्णन करेंगे।

मनुष्य किसी विचार पर दो मार्गों से पहुँच सकता है। एक मार्ग तो यह है कि कोई दूसरा हमें रास्ता बता दे, दूसरा यह है कि हम खुद ही रास्ते का पता लगायें। उदाहरणार्थ, हम 'भाषा' सीखना चाहते हैं। एक उपाय यह है कि भाषा का व्याकरण हमें पढ़ा दिया जाय, भाषा के नियम हमें बता दिये जाँय, और ज्यों-ज्यों हम भाषा सीखते जाँय, उन नियमों को घटा कर देखते जाँय। दूसरा उपाय यह है कि हम छोटे-छोटे वाक्यों की परस्पर तुलना कर भाषा के नियमों का स्वयं पता लगायें। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है, दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। भूगोल पढ़ते हुए एक उपाय यह है कि हमारे हाथ में पाठ्य-पुस्तक दे दी जाती है, उसमें पृथिवी, सूर्य, भूमध्य-रेखा आदि के लक्षण दिये गये हैं, हम उन्हें स्मरण कर लेते हैं, और उनके बाद पृथिवी के भिन्न-भिन्न भागों का अध्ययन करते हैं, एशिया, योरुप आदि का भूगोल पढ़ते हैं। दूसरा उपाय यह है कि जिस परिस्थिति का हमारे साथ

निकटतम सम्पर्क है उसका हमें ज्ञान करा दिया जाता है, हमें अपने गाँव का, फिर ज़िले का, फिर प्रान्त का, फिर देश का, फिर एशिया का, फिर योरुप का, और फिर भू-मंडल का ज्ञान कराया जाता है। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है, दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। बालक को पढ़ना-लिखना सिखाते हुए एक उपाय यह है कि पहले अक्षर सिखा दिये जाँय, फिर उन्हें मिलाना सिखाया जाय, फिर शब्द और फिर वाक्य सिखाये जाँय; दूसरा उपाय यह है कि बालक जिन वाक्यों को बोलता ही रहता है उन वाक्यों से ही पढ़ाना शुरू किया जाय, वाक्यों से शब्द, शब्दों से अक्षर सिखाये जाँय। पहला 'निगमन' (Deduction) का मार्ग है, दूसरा 'आगमन' (Induction) का मार्ग है। ज्यामिति पढ़ाते हुए परिभाषाएं याद करायी जा सकती हैं, या पहले उदाहरण देकर परिभाषाएं बनवायी जा सकती हैं; रसायन-शास्त्र आदि सब विज्ञानों में या अध्यापक पहले सब-कुछ बता दे, या विद्यार्थी से परीक्षण करा कर जो-कुछ बताना है उसीसे निकलवाये। विचार तक पहुँचने के ये दो ही मार्ग हैं, और इन दोनों को तर्क-शास्त्र में 'निगमन-शास्त्र' (Deductive Logic) तथा 'आगमन-शास्त्र' (Inductive Logic) कहते हैं।

'निगमन-पद्धति' (Deductive Method)—

'निगमन'-पद्धति में नियम पहले बता दिया जाता है। नियम को संस्कृत में 'व्याप्ति' कहते हैं, अतः 'निगमन'-पद्धति को 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' कहा जाता है। 'निगमन' में विचार निम्न तीन क्रमों में से गुज़रता है:—

(१) पहले तो हमारे सामने जो 'प्रश्न' है उसे हमें ठीक तौर पर समझ लेना चाहिये। हम क्या जानना चाहते हैं, कौन-

सी समस्या हल करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, हम जानना चाहते हैं कि पहाड़ पर आग लगी हुई है, या नहीं ?

(२) इस प्रकार समस्या के स्पष्ट हो जाने पर हम देखना चाहते हैं कि इस समस्या पर कौन-सा 'नियम' लागू होगा। हम जानते हैं, 'जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है।' यह एक नियम है, एक सत्य है, एक सिद्धान्त है। हमारे सामने जो समस्या है वह इस नियम से हल होने वाली है।

(३) इस नियम को लेकर हम पहाड़ के विषय में 'अनुमान' कर लेते हैं कि क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है, पहाड़ पर धुआँ दीख रहा है, अतः वहाँ भी आग अवश्य होगी। 'निगमन' में यह तीसरा कदम है। इन तीनों को क्रमशः 'समस्या' (Problem), 'नियम' (Generalisation) तथा 'अनुमान' (Inference) कहते हैं।

'आगमन-पद्धति' (Inductive Method)—

'आगमन-पद्धति' में दृष्टांत पहले बताये जाते हैं, अतः संस्कृत में इस पद्धति को 'दृष्टांत-पूर्वक अनुमान' कहा जाता है। 'निगमन' की तरह 'आगमन' में भी विचार तीन क्रमों में से गुज़रता है:—

(१) जिस नियम को बताना हो उसे सीधा न बताकर, अपने मन में ही रखकर, शिक्षक पहले अनेक उदाहरण बतलाता जाता है। अध्यापक ने बालकों को यह बतलाना है कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है', परन्तु वह उन्हें सीधे तौर पर यह नहीं बतलाता। इस विचार को तो वह मन में रखता है, और उन्हें बतलाता है कि देखो, रसोई में धुआँ होता है, वहाँ आग भी होती है; ऐंजिन से धुआँ निकलता है, वहाँ भी आग होती है; सिगरेट से धुआँ निकलता है, वहाँ भी आग है; ईंट के भट्ठे से धुआँ निकलता है, वहाँ भी आग है।

(२) इतने दृष्टांत, उदाहरण, देकर वह बालकों से कहता है कि इन सब जगह तुम क्या नियम देख रहे हो ? वे अपने-आप कह उठते हैं कि इन सब स्थानों को देखकर हम समझते हैं कि 'जहाँ-जहाँ धुआँ निकलता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है।'

(३) फिर वह इस नियम को मौजूदा समस्या पर घटाता है। हमारे सामने समस्या यह है कि पहाड़ पर धुआँ दिखाई दे रहा है। हम जानना चाहते हैं कि वहाँ धुआँ क्यों है ? बालकों ने जिस नियम को 'आगमन-पद्धति' से स्वयं निकाला है, उसे वे वर्तमान समस्या पर घटाकर स्वयं परिणाम निकाल लेते हैं कि क्योंकि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है, पहाड़ पर भी धुआँ दिखाई दे रहा है, इसलिए पहाड़ पर आग अवश्य है।

'निगमन' तथा 'आगमन' में भेद—

'निगमन' (Deduction) में सीधा नियम बता दिया जाता है, 'आगमन' (Induction) में बालक स्वयं नियम को निकालते हैं, 'निगमन' में अपने ज्ञान को हम एक नई जगह पर घटाते हैं, 'आगमन' में नया ज्ञान मिलता है; 'निगमन' में नियम पहले ही निकला होता है, 'आगमन' में नियम बाद को निकलता है; 'निगमन' में हम नियम के लिए दूसरों पर आश्रित हैं, 'आगमन' में हम स्वयं अनुसंधान करते हैं; 'निगमन' बड़ों का तरीक़ा है, 'आगमन' छोटों का तरीक़ा है; 'निगमन' में प्रायः सारा काम अध्यापक को करना होता है, 'आगमन' में प्रायः सारा काम विद्यार्थी को करना होता है।

आगमन-निगमन पद्धति (Inductive-Deductive Method)—

ऊपर जो-कुछ कहा गया है इससे स्पष्ट हो गया होगा कि शिक्षा में इन पद्धतियों का सम्मिश्रण करने से ही काम चल सकता है। छोटे बालकों को उदाहरण दे-देकर समझाना ही ठीक

रहता है, परन्तु जो वालक ऊंची श्रेणियों में पहुंच चुके हैं उनका समय वार-वार उदाहरण देकर नष्ट करना ठीक नहीं। बच्चों के लिए 'आगमन-पद्धति' (Inductive Method) तथा बड़ों के लिए 'निगमन-पद्धति' (Deductive Method) ही ठीक है।

१९वीं शताब्दी में जर्मनी में हर्बार्ट नामक शिक्षा-शास्त्री हुआ जिसने शिक्षा के क्षेत्र में आगमन तथा निगमन पद्धति का मेल कर दिया और वालक की शिक्षा के 'पंच-सोपान' (Five Steps of Herbart) का प्रति-पादन किया। इनका वर्णन हम पहले कर आये हैं। भारत के तर्क-शास्त्रियों ने भी इन्हीं पाँच का वहुत पहले वर्णन किया था। इन्हें वे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन कहते थे। हर्बार्ट के 'पंच-सोपान' तथा भारतीय तर्क-शास्त्र के 'पंचावयव' निम्न-लिखित हैं :—

प्रतिज्ञा—Preparation

हेतु
उदाहरण } —Presentation

उपनय—Comparison and Generalisation

निगमन—Application

प्रश्न

१. निगमन-पद्धति क्या है ?
२. आगमन-पद्धति क्या है ?
३. 'निगमन' तथा 'आगमन' में भेद क्या है ?
४. हर्बार्ट की पद्धति में 'आगमन' तथा 'निगमन' का समन्वय है—इसे समझाइये।

८

स्वयं-ज्ञान-पद्धति

(HEURISTIC METHOD)

हमने पिछले अध्याय में कहा था कि 'आगमन-पद्धति' (Inductive Method) का अर्थ यह है कि बालक अपने-आप नियम निकाले। इसी अपने-आप ज्ञान प्राप्त करने की भावना को आधार बनाकर आर्मस्ट्राँग ने एक विशेष पद्धति को जन्म दिया है जिसे 'ह्यूरिस्टिक-मैथड' या 'स्वयं-ज्ञान-पद्धति' कहा जाता है। ग्रीक भाषा में 'ह्यूरिस्को' शब्द का अर्थ है—'मैं मालूम करता हूँ', इसी से 'ह्यूरिस्टिक' शब्द बना है। 'ह्यूरिस्टिक' पद्धति के अनुयायियों का कथन है कि बालक की शिक्षा में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। पहली यह कि बालक हरेक बात को स्वयं मालूम करे, दूसरी यह कि संसार ने जिस क्रम से जिस बात को जाना है उसी क्रम से वह ज्ञान प्राप्त करे।

(१) इस पद्धति के पृष्ट-पोषक पहली बात यह कहते हैं कि बालक को इस प्रकार की परिस्थिति से घेर देना चाहिये जिससे वह स्वयं अन्वेषण कर सके, विज्ञान की हर बात को स्वयं मालूम कर सके, अध्यापक की तरफ़ से इसे कुछ बताना न पड़े। जब कोई बालक किसी सिद्धान्त का स्वयं पता लगाता है तब उसमें एक अदम्य उत्साह भर जाता है, उसकी शक्ति का कोई ठिकाना नहीं रहता, सीखने में जो विघ्न-बाधाएं हैं वे एकदम समाप्त हो जाती हैं।

(२) दूसरी बात वह यह कहते हैं कि बालक को पढ़ाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसे पहिले वे ही विषय पढ़ाये जाँय जो मनुष्य के विकास में पहले थे, वे पीछे पढ़ाये जाँय जो उसके विकास में पीछे आये। इसी प्रकार बालक किसी बात को ठीक समझ सकता है, और इसी प्रकार वह उनका स्वयं ज्ञान प्राप्त कर सकता है। उनका यह कथन विकास-वाद के आधार पर है। विकासवादियों का कथन है कि प्राणी पिछली पीढ़ियों में जिन-जिन अवस्थाओं में से गुज़रा है, वे सब इस जन्म में कुछ-कुछ देर के लिए, बचपन में प्रकट होती हैं, और उनमें से गुज़र कर ही हम बड़े होते हैं। गर्भावस्था में शिशु भिन्न-भिन्न शक्लों में से गुज़रता है जो लगभग पशुओं से मिलती-जुलती हैं। गर्भस्थ-शिशु की मछली, मेंढक, कुत्ता आदि की शक्लें बनती हैं। इस सिद्धान्त को 'पुनरावृत्ति' (Recapitulation) का सिद्धांत कहा जाता है। इस पीढ़ी में पिछली सब पीढ़ियों का संक्षिप्त 'उपसंहार', उनकी संक्षिप्त 'पुनरावृत्ति' हो जाती है। अगर शरीर के विकास में इस प्रकार की 'पुनरावृत्ति' होती है, तो मन के विषय में भी ऐसी 'पुनरावृत्ति' मानना असंगत नहीं है। इसी सिद्धान्त को शिक्षा के क्षेत्र में घटाते हुए 'ह्यूरिस्टिक-पद्धति' के समर्थकों का कहना है कि बालक को उसी क्रम से सिखाना चाहिए जिस क्रम से जाति ने सीखा है। इसी सिद्धान्त को 'कल्चर ईपक थियोरी' (Culture Epoch Theory) कहा जाता है। जाति अपने विकास में सभ्यता के जिन युगों में से निकली है बालक संक्षिप्त तौर पर उन्हीं युगों में से गुज़रता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पहले किस्से-कहानियाँ, फिर साहित्य, और फिर विज्ञान का जाति ने विकास किया, बालक भी इसी क्रम में से गुज़र कर सुगमता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस विचार-प्रक्रिया का हर्बर्ट ने प्रतिपादन किया। इसी विचार को आधार बनाकर ह्यूरिस्टिक-पद्धति के समर्थक आर्मस्ट्रौंग का कथन था कि विद्यार्थी को उस सब प्रक्रिया में से गुज़रना चाहिये जिसमें से गुज़रते-गुज़रते पिछले विचारकों ने किसी नियम का आविष्कार किया था, बालक को आविष्कारक की मानसिक-प्रक्रिया में से गुज़ार देना चाहिये।

'स्वयं-ज्ञान-पद्धति' का वर्तमान शिक्षा पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ रहा है। गणित में पहाड़े रटाने के स्थान में बालकों से पहाड़े बनवाये जाते हैं। वे 'दो अट्ठे सोलह' याद करने के स्थान में दो को आठ बार जोड़ते हैं, और इस प्रकार स्वयं पता लगाते हैं कि दो अट्ठे सोलह क्यों, और कैसे होते हैं। इस प्रकार जिस बात को वे स्वयं कर लेते हैं उसका उनके मस्तिष्क पर स्थायी प्रभाव तो पड़ ही जाना है, साथ जिस बात का वे पता लगाते हैं उसका कारण भी जान जाते हैं। कार्य-कारण-भाव जान कर जो बात दिमाग़ में बैठती है वह मस्तिष्क के सम-विकास के लिये ठीक भी है।

परन्तु इस पद्धति पर बहुत अधिक बल देना ठीक नहीं है। हर विद्यार्थी हर बात को स्वयं नहीं मालूम कर सकता। कोई-कोई प्रतिभाशाली विद्यार्थी ही आविष्कारक की स्थिति में आ सकता है। अनेक बातें विद्यार्थी को बतानी ही पड़ती हैं, नहीं तो समस्याओं का स्वयं हल ढूंढ़ता-ढूंढ़ता वह ग़लत हल भी निकाल लेता है, और ज्ञान बढ़ाने के स्थान में ग़लत ज्ञान में भी उलझ सकता है। साथ ही प्रत्येक विद्यार्थी के पास इतना समय भी नहीं है कि वह हर बात का स्वयं ही पता लगाता रहे। अगर स्वयं ही पता लगाना है तो पिछलों का पता लगाना ही बेकार हो जाता है। हाँ, इस पद्धति का इतना ही अर्थ है कि

विद्यार्थी को स्वयं-ज्ञान प्राप्त करने में उत्तेजित किया जाय, और सब-कुछ शिक्षक की तरफ़ से ही उसके मन में न भर दिया जाय।

प्रश्न

१. 'ह्यूरिस्टिक-पद्धति' का क्या अभिप्राय है? आर्मस्ट्रांग का इस पद्धति से क्या संबंध है?

२. 'पुनरावृत्ति' (Recapitulation) के सिद्धान्त का क्या अर्थ है?

३. 'कलचर ईपक थियोरी' का 'पुनरावृत्ति' के सिद्धान्त से क्या सम्बन्ध है?

६

निरीक्षण तथा सरस्वती यात्राएं

(OBSERVATION AND EXCURSIONS)

हमने देखा कि विद्या-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन अपने-आप किसी बात का पता लगाना है, गुरु-मुख से याद कर लेना ही ही नहीं। प्राचीन तथा नवीन शिक्षा-प्रणाली में यह आधार-भूत भेद है। अगर विद्यार्थी ने हर बात का अपने आप पता लगाया है, तो उसके दो ही प्रकार हो सकते हैं। पहला तो यह कि वह हरेक बात का निरीक्षण करे, उसे देखे, उसे समझे; दूसरा यह कि वह अपने निवास के आस-पास घूमे-फिरे, और हरेक वस्तु की जिसे वह न जानता हो, जाँच-पड़ताल करे, धन और समय हो तो सरस्वती की आराधना के लिये दूर-दूर की यात्राएं करे, हो सके तो विदेश में जाकर अपनी आँखों से हर बात को देख कर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस दृष्टि से 'निरीक्षण' तथा 'सरस्वती यात्राएं' भी विद्या प्राप्त करने की विधियाँ ही हैं।

१—निरीक्षण

'निरीक्षण' (Observation) क्या है? बालक हाथी को आते हुए देखता है, उसने हाथी पहले कभी नहीं देखा, भैंसा देखा है। वह एकदम चिल्ला उठता है, देखो कितना बड़ा भैंसा आ रहा है। परन्तु फिर कहता है, इसके सींग तो हैं ही नहीं। उसने 'समानता' देखी, फिर 'भिन्नता' भी देख ली। वह कहता

है, मैंने जो काला-काला भैंसा देखा था, उससे यह मिलता है, पर उसके सींग थे, इसके सींग नहीं, इसलिये उससे नहीं मिलता। अपने पूर्व-अनुभवों के साथ 'समानता' (Similarity) तथा 'भिन्नता' (Dissimilarity) को देख लेना निरीक्षण के कारण होता है। जब वालक ने हाथी और भैंसे का पता लगा लिया, यह देख लिया कि इसके तो सूंड है, भैंसे की सूंड नहीं, इसके तो सींग नहीं, भैंसे के सींग हैं, यह तो बहुत बड़ा है, भैंसा तो इससे बहुत छोटा होता है—तब हाथी और भैंसे की 'विभिन्निता' को वह जान जाता है। इसी को 'विश्लेषण' (Analysis) कहते हैं। 'विश्लेषण' के बाद सब 'विभिन्नताओं' का वह 'संश्लेषण' (Synthesis) कर लेता है, सब 'विभिन्नताओं' को इकट्ठा कर लेता है। विचार की इसी प्रक्रिया को 'निरीक्षण' (Observation) कहा जाता है।

'निरीक्षण' तीन प्रकार का है: 'प्रयोजन-पूर्ण' (Purposeful), 'प्रयोजन-रहित' (Non-Purposive) तथा 'प्रयोजन-प्रेरक' (Purposive)। 'प्रयोजन-पूर्ण'-निरीक्षण तब होता है जब हमें मालूम हो कि हम किस प्रयोजन से निरीक्षण कर रहे हैं। हम जड़ी-बूटियों का ज्ञान प्राप्त करने जंगल में निकले, यह 'प्रयोजन-पूर्ण'-निरीक्षण है। हम व्याख्यान सुन रहे हैं, इतने में एक मोटर गुज़री, सब उधर देखने लगे, यह 'प्रयोजन-रहित' निरीक्षण है। हम जंगल में जड़ी-बूटियाँ खोज रहे हैं, इतने में एक हरिण निकल आया, विद्यार्थियों को हरिण के सम्बन्ध में जानने की उत्कट इच्छा हो गई, सब उधर देखने लगे, अध्यापक ने भी यह देखकर कि इनकी इस समय जागृत जिज्ञासा का लाभ उठाना चाहिए, उन्हें हरिण के सम्बन्ध में अनेक बातें बतला दीं। यह 'प्रयोजन-प्रेरक' निरीक्षण है। निरीक्षण का

मुख्य प्रयोजन यह नहीं था, बीच में आ पड़ा, परन्तु आ पड़ने पर भी ज्ञान में कुछ वृद्धि ही कर गया। शिक्षा की दृष्टि से 'प्रयोजन-पूर्ण' तथा 'प्रयोजन-प्रेरक' निरीक्षण ही उपयोगी हैं, 'प्रयोजन-रहित' सर्वथा निरुपयोगी हैं।

बालक की भिन्न-भिन्न आयु को दृष्टि में रख कर शिशु-वर्ग तथा लोअर-प्राइमरी, अपर प्राइमरी एवं मिडिल कक्षाओं का पाठ्यक्रम निश्चित किया जाता है। अध्यापक का कर्तव्य है कि बालक की भिन्न-भिन्न आयु में उसके अनुकूल सामग्री उपस्थित करता रहे ताकि वह 'निरीक्षण' की सान पर बुद्धि की धार को तेज़ करता रहे।

शिशु-वर्ग तथा लोअर प्राइमरी के लिये—

छोटे बच्चों के निरीक्षण के लिए जो-कुछ चुना जाय वह उनके घर, पाठशाला के आस-पास होना चाहिये, उसकी उनके जीवन से अत्यन्त निकटता होनी चाहिये। वे घर के कुत्ते, अपनी गाय-भैंस-बिल्ली के सम्बन्ध में निरीक्षण कर अपना संग्रह तय्यार कर सकते हैं। घर में खेती हो, तो साग-सब्ज़ी, फूल-पत्ती के विषय में निरीक्षण कर सकते हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा में क्या-क्या ऋतु परिवर्तन होता है—अपने निरीक्षण के आधार पर इसका भी संग्रह बना सकते हैं।

अपर प्राइमरी के लिये—

कुछ बड़े बालकों को स्वतंत्र रूप से निरीक्षण करने पर प्रेरित करना चाहिए। गेहूँ, चना, सरसों के बीज बोकर प्रत्येक पौधे के अंकुर फूटने, तना निकलने, बढ़ने, सूखने के संपूर्ण इतिहास को सिलसिलेवार लिखने की उन्हें प्रेरणा करनी चाहिये। प्राणियों में मेंढक के जीवन का इतिहास बड़ा महत्वपूर्ण है। वह विकास-क्रम की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में से गुज़रता है।

अपर प्राइमरी के बच्चों से मेंढक के संपूर्ण जीवन का निरीक्षण कराना चाहिये, और उनसे उस इतिहास को क्रम-बद्ध लिखने को कहना चाहिये। शहतूत के पत्तों पर रेशम के कीड़े छोड़-कर उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का निरीक्षण करते हुए विद्यार्थी बहुत-कुछ सीख जाते हैं।

मिडल कक्षा के लिये—

मिडिल कक्षा के विद्यार्थियों से विज्ञान के साधारण नियमों को स्पष्ट करने वाली घटनाओं का निरीक्षण कराना चाहिये। भौतिकी, रसायन-शास्त्र, यान्त्रिकी, चुम्बक, विद्युत् आदि के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने की घटनाओं का निरीक्षण किया जा सकता है। अगर निकट कोई पानी से बिजली पैदा करने वाला प्लान्ट हो तो बालकों को वहाँ ले जाकर उसका निरी-क्षण कराना चाहिये।

इससे भी ऊँची श्रेणियों के विद्यार्थियों के लिये अनेक ऐसे प्रयोग कराये जा सकते हैं, जिन से निरीक्षण करते-करते बालक अपनी इन्द्रियों को साध सकें, और साधते-साधते अनेक क्रियात्मक बातें सीख जाँय। कुछ प्रयोग नीचे दिये जाते हैं:—

(१) बालकों से पाठशाला में सब्जियों का एक बग़ीचा बनवाया जाय। वे हर मौसम की शाक-भाजी पैदा करें, और उस से जो आय हो वह उनके खाते में जमा की जाय।

(२) उनसे भूमि सम्बन्धी प्रयोग कराये जाँय। एक जगह गहरा गढ़ा खोदकर दिखाया जाय कि कितनी तहें दीख पड़ती हैं। वर्षा होने के बाद पानी के बहाव को देखकर भौगो-लिक नक्शा बनवाया जाय। भिन्न-भिन्न मिट्टियों में पानी कितनी जल्दी या देर में प्रविष्ट होता है—इस पर परीक्षण

तथा निरीक्षण किया जाय।

(३) मौसमों का निरीक्षण किया जाय। समय का ज्ञान करने के लिए छड़ी गाड़ कर उसकी छाया का निरीक्षण करके घड़ी बनाई जाय। छाया की सहायता से दिशाओं का पता लगाया जाय। वायु-मापक यन्त्र बनाया जाय।

(४) वृक्षों का अध्ययन किया जाय। किन्हीं वृक्षों का एक ही तना होता है, किन्हीं के दो, किन्हीं के अनेक। अपने निरीक्षण से बालक वृक्षों के नाम लिखकर उनका वर्गीकरण करें।

(५) इसी प्रकार पशुओं, पक्षियों, कीटों, पतंगों का निरीक्षण करके उन्हें अपनी नोट-बुकों में लिखना तथा उसके आधार पर परिणाम निकालना विद्यार्थियों को क्रियात्मक बनाने में बहुत सहायक है।

(६) पाठशाला में 'जलाशय' (Aquaria) बनाकर उसमें जल-जन्तु तथा जल-वृक्ष रखे जा सकते हैं। काँच के बड़े बर्तन में भी इसी प्रकार का संग्रहालय तैयार किया जा सकता है। इन सब का 'निरीक्षण' करना चाहिए।

'निरीक्षण' के आधार पर बालकों को भूगोल, विज्ञान आदि अनेक विषय पढ़ाये जा सकते हैं। निरीक्षण की हुई वस्तु का वर्णन करने को, उसे लिखने को कहा जा सकता है। इस प्रकार निरीक्षण अन्य विषयों के लिए भी सहायक है।

२—सरस्वती यात्राएँ

कोई समय था जब कि पाठशालाओं में 'वस्तु-पाठ' पढ़ाया जाता था, और इसमें जड़-चेतन दोनों का पाठ होता था। जड़ में ईंट, पत्थर, पहाड़, नदी-नाले तथा वृक्ष, फूल, फल, पत्ती; चेतन में मनुष्य-पशु-पक्षी। इन पाठों में चित्रों, ड्राइंग

तथा मॉडल बना कर बालकों को वस्तु का परिचय कराया जाता था। परन्तु चित्रों, ड्राइंग तथा मॉडल की अपेक्षा भी वस्तु को अपनी प्राकृतिक अवस्था में देख कर, उसका निरीक्षण करके, जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, और प्रत्यक्ष ज्ञान सब ज्ञानों से उत्कृष्ट है। जीराफ़ का चित्र देखो, उस का मॉडल बनाओ, सब-कुछ करो, परन्तु सचमुच के ज़ीराफ़ को देखना और बात है, और चित्र को देखना दूसरी बात है। हम तो यहाँ तक कहेंगे कि चिड़ियाघर के ज़ीराफ़ को देखना और जंगल में मस्त फिर रहे ज़ीराफ़ को देखना इन दोनों में भी महान् भेद है। आजकल की शिक्षा 'वस्तु-पाठ' (Object Lesson) तथा 'प्रकृति-पाठ' (Nature Lesson) में भेद करती है। 'वस्तु-पाठ' पढ़ाते हुए हम निस्सन्देह आम को लाकर पाठशाला में बालकों को दिखाते हैं, परन्तु अगर हम बालकों को गाँव के बगीचे में ले जाँय, वहाँ उन्हें आम का बाग दिखायें, आम से लदे हुए, कोई पके, कोई अध-पके, कोई कच्चे आम के फल पेड़ों पर लद रहे हों—इस 'प्रकृति-पाठ' से, प्राकृतिक परिस्थिति में वस्तु जिस रूप में है, उसका 'निरीक्षण' करने से बालक जो-कुछ सीख जायगा, वह स्कूल में आम लाकर दिखा देने से नहीं सीखेगा। बालक पढ़ाने से उतना नहीं सीखता जितना निरीक्षण से सीखता है, और निरीक्षण का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे गाँव के आस-पास घूमने को ले जाया जाय, वहाँ जो कुछ है वह उसे देखे, और संभव हो तो उसे दूर-दूर 'सरस्वती-यात्राओं' (Excursions) के लिये ले जाया जाय।

बालकों को सरस्वती-यात्रा पर जाने का जब भी अवसर मिलता है तो वे एकदम चेतन हो जाते हैं, उत्साह से भर जाते

हैं। परन्तु यह यात्रा सार्थक हो, 'प्रयोजन-पूर्ण' हो, इस के लिये शिक्षक को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। यात्रा का कोई विशेष उद्देश्य, विशेष प्रयोजन होना चाहिये। मुगल बादशाहों ने दिल्ली के आसपास कौन-सी इमारतें बनवायीं—इस उद्देश्य से दिल्ली की यात्रा की जा सकती है। सब से अच्छा यह है कि अध्यापक पहले ही उन स्थानों पर हो आये जहाँ यात्रा करनी है ताकि वह हर बात में बालकों को ठीक दिशा की तरफ़ निर्देश दे सके। इस बात पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है कि यात्रा में बालक अपना समय यों ही नष्ट न कर दें। एक अध्यापक के साथ २० से अधिक बालक नहीं होने चाहियें। बालकों के पास नोट-बुक हो जिसमें वे सब-कुछ लिखते जाँय। इन यात्राओं से ही पता लगता है कि आँखें रखता हुआ भी अन्धा कौन है, और कान रखता हुआ भी बहरा कौन है? अगर गाँव के आस-पास की जड़ी-बूटियों की जानकारी के लिये यात्रा की गई है तो फूल-पत्ती के नमूने रखना बड़ा ज़रूरी है। इन सरस्वती-यात्राओं से बालकों की 'निरीक्षण-शक्ति' तीव्र होती है, और यह निरीक्षण की आदत विज्ञान के विद्यार्थी को एक महान् वैज्ञानिक, साहित्य के विद्यार्थी को एक महान् साहित्यकार तथा मनुष्य-समाज की गति-विधि के विद्यार्थी को एक महान् नेता बना देती है।

प्रश्न

१. निरीक्षण के कौन-से तीन प्रकार हैं?
२. शिशु-वर्ग, मध्य-कक्षा तथा उच्च-कक्षा के छात्र-छात्राओं को किस प्रकार के निरीक्षण के लिए प्रेरित करना चाहिये?
३. छात्र-छात्राओं को यात्रा कराने से क्या लाभ है?
४. यात्रा कराते हुए किन-किन बातों पर ध्यान रखना चाहिये?

१०

'व्यक्ति' तथा 'कक्षा'-शिक्षण पद्धति

(INDIVIDUAL AND CLASS-TEACHING METHOD)

बालक को किस प्रकार शिक्षा दी जाय, इसके अनेक उपाय हमने देखे। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे व्यक्ति रूप से इकले को शिक्षा दी जाय, या कई बालकों को इकट्ठे? व्यक्ति रूप से एक-एक बालक पर अलग-अलग ध्यान देकर शिक्षा देना 'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति' (Individual Teaching Method) है; अनेक बालकों को इकट्ठे एक-समान शिक्षा देना 'कक्षा-शिक्षण-पद्धति' (Class Teaching Method) है।

१—व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति

'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति' के दो रूप हो सकते हैं। या तो एक बालक के लिए एक अध्यापक रखा जाय, या अनेक बालकों के रहते हुए भी उन सब को अलग-अलग ही पढ़ाया जाय। हर बालक के लिये अलग-अलग शिक्षक रखना संभव नहीं है। राजा-महाराजा ऐसा कर सकते थे, अब ऐसा कोई नहीं कर सकता। हाँ, अनेक बालकों को एक-साथ रहते हुए भी उन पर अलग-अलग ध्यान दिया जा सकता है। योरोप तथा भारत में प्राचीन काल में इसी प्रकार की शिक्षण-पद्धति प्रचलित थी। एक अध्यापक होता था, भिन्न-भिन्न पाठ पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी होते थे। बड़े विद्यार्थी छोटों को पढ़ाते थे, और बड़े विद्यार्थी अध्यापक के पास पढ़ते थे। अध्यापक ने जिस विद्यार्थी को पढ़ाना होता

था, उसे अपने पास वुलाकर पढ़ा देता था। क्योंकि इस शिक्षण-पद्धति में एक ही अध्यापक सव विद्यार्थियों को सव विषय स्वयं या अपने शिष्यों की सहायता से पढ़ा लेता था, इसलिए यह सस्ती तो थी परन्तु इसमें निम्न दोष थे :—

(१) क्योंकि स्कूल के छोटे-बड़े सव विद्यार्थी एक ही कमरे में होते थे ताकि अध्यापक सब पर दृष्टि रख सके, इसलिए व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था ज़्यादा रहती थी। जिस समय अध्यापक किसी बड़े वालक को अपने पास वुला कर पढ़ा रहा होता था उस समय दूसरे बालक शोर मचाने के सिवाय कुछ न करते थे।

(२) क्योंकि वड़े लड़के छोटों को पढ़ाते थे, इसलिए पढ़ाई वहुत अच्छी नहीं हो सकती थी। अध्यापक के पढ़ाने और विद्यार्थी के पढ़ाने में अन्तर तो रहता ही है।

(३) इकट्ठे पढ़ाने पर एक-दूसरे का मुकाबिला करने, एक-दूसरे से आगे वढ़ने आदि के गुण विद्यार्थियों में नहीं उत्पन्न होते थे।

२—कक्षा-शिक्षण-पद्धति

इस पद्धति के गुण—

'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति' के उक्त दोषों को देखकर इंगलैंड में १८६२ में यह नियम बनाया गया कि स्कूल को भिन्न-भिन्न कक्षाओं में विभक्त किया जाय, प्रत्येक कक्षा की अलग-अलग पाठविधि हो, उसका अलग अध्यापक हो, और एक स्तर के विद्यार्थी एक साथ पढ़ें। तभी से 'कक्षा-शिक्षण-पद्धति' (Class teaching) का प्रारम्भ हुआ। इस पद्धति के निम्न गुण हैं :—

(१) बालक स्वभाव से अपनी आयु के बालकों के साथ

रहना पसन्द करता है। घर में भी बड़ी आयु का बालक अपने से छोटी आयु के भाई-बहन के साथ रहने के बजाय अपनी आयु के दूसरे बच्चों को साथी बना लेता है। उनके साथ वह ऐसा अनुभव करता है मानो अपनों के बीच में हो। यह सब इसलिये होता है क्योंकि बालक हम सब की तरह एक सामाजिक प्राणी है, वह मानो अपना समाज ढूंढ लेता है। 'कक्षा' एक समाज है, इसलिये इस समाज में उसका अपने को घर-का-सा अनुभव करना स्वाभाविक है।

(२) जब मनुष्य समाज में बैठता है तब उसकी क्रिया-शक्ति तथा अनुभव-शक्ति पहले से बढ़ जाती है। इकला गाने में और सैकड़ों व्यक्तियों के साथ देश-भक्ति का गीत गाने में कितना अन्तर है! जब सब मिल कर एक-साथ कोई काम करते हैं तब प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति अलग-अलग भी बढ़ी हुई होती है। एक का उत्साह दूसरे को, और दूसरे का तीसरे को स्फूर्ति देता है।

(३) इसके अतिरिक्त सामूहिक कार्य में प्रतिस्पर्धा के कारण एक-दूसरे से आगे निकलने की प्रवृत्ति आ जाती है और विद्यार्थियों में हर समय उत्साह बना रहता है।

(४) जैसे अनेक विद्यार्थियों के बीच में अपने को पाकर प्रत्येक विद्यार्थी में स्फूर्ति, उत्साह फूट पड़ता है, वैसे ही अध्यापक भी एक विद्यार्थी को पढ़ाते हुए उतना उत्साह नहीं अनुभव कर सकता जितना एक कक्षा के सम्मुख अनुभव करता है। अच्छा व्याख्याता भरी सभा में बोलता हुआ अपने से बहुत ऊंचे उठ जाता है; अच्छा अध्यापक भी भरी कक्षा को पढ़ाता हुआ बहुत ऊँचा उठ जाता है। साथ ही अध्यापक को जब मालूम है कि कक्षा में कोई भी विद्यार्थी कैसा भी प्रश्न

कर सकता है तब उसे पाठ तैयार करना ही पड़ता है।

इस पद्धति के दोष—

'कक्षा-शिक्षण-पद्धति' पर्याप्त समय तक चल चुकी है, अतः अब शिक्षा-विज्ञों का ध्यान इस पद्धति के दोषों की तरफ़ आकृष्ट हुआ है। इस पद्धति के निम्न दोष कहे जाते हैं:—

(१) इस पद्धति में विद्यार्थियों के वैयक्तिक भेदों को सम्मुख नहीं रखा जाता, सब भेड़ों को एक ही लाठी से हाँका जाता है। अध्यापक अपनी एक चाल से चलता है, विद्यार्थियों की अनेक चालें होती हैं। एक ही कक्षा में कोई गणित में तेज़, कोई कमज़ोर, कोई विज्ञान में तेज़, कोई कमज़ोर। किसी की आलेख्य में रुचि, किसी की साहित्य में, किसी की इतिहास में। जिसकी विज्ञान में रुचि है, उसके लिए विज्ञान के घण्टे बढ़ाये नहीं जाते, जिसकी रुचि नहीं उसके लिए घटाये नहीं जाते। विद्यार्थियों के व्यक्तिगत भेदों में सब से मुख्य भेद उसका तेज़ और कमज़ोर होना है। अगर अध्यापक तेज़ बालकों की रफ्तार से चलता है तो कमज़ोर के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, अगर कमज़ोरों की रफ्तार से चलता है, तो तेज़ लड़के ऊब जाते हैं, शरारतों में लग जाते हैं।

(२) इस पद्धति में अधिकतर काम अध्यापक ही करता है। वह कक्षा में आया, और व्याख्यान देने लगा। आध घण्टा, पौन घण्टा बोलता रहा, विद्यार्थी चुप-चाप सब-कुछ सुनता रहा, विद्यार्थी को स्वतन्त्रता-पूर्वक कुछ करने की खुली छूट नहीं होती। वर्तमान शिक्षा-शास्त्री अध्यापक को इतनी खुली छूट देने के स्थान में विद्यार्थी को छूट देना चाहते हैं, विद्यार्थी पुस्तक-पाठ करे, परीक्षण करे, जो-कुछ करना हो वह करे, अध्यापक न करे, क्योंकि जो करेगा वही सीखेगा,

सीखना विद्यार्थी को है, अध्यापक को नहीं।

(३) इस पद्धति में गुरु-शिष्य का तो कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। अध्यापक को पढ़ाने से मतलब, किन को पढ़ा रहा है, इससे मतलव नहीं। शिक्षक के व्यक्तित्व की छाप विद्यार्थी पर पड़े, ऐसा-कुछ इस पद्धति में नहीं होता। गुरु-शिष्य को एक दूसरे को जानने का, एक-दूसरे को समझने का अवसर ही नहीं मिलता। अनेक अध्यापक तो अपने विद्यार्थियों के न नाम जानते हैं, न उन्हें पहचानते हैं; वे 'कक्षा' को जानते हैं, 'व्यक्ति' को नहीं।

३—नवीन शिक्षण-पद्धतियां

'कक्षा-शिक्षण-पद्धति' के उक्त दोषों के कारण शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान फिर 'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धतियों' (Individual Teaching) की तरफ़ जा रहा है। हाँ, इस बार यह वैयक्तिक-शिक्षण प्राचीन काल के वैयक्तिक-शिक्षण से भिन्न है। व्यक्ति की भिन्नताओं को सम्मुख रखते हुए जो नवीन शिक्षण-पद्धतियाँ चल रही हैं उनका वर्णन आगे किया जायगा। मुख्य-मुख्य 'व्यक्ति-शिक्षण-पद्धतियाँ' निम्न-लिखित हैं :—

(क) किन्डरगार्टन या बालोद्यान-शिक्षा
(ख) मॉन्टीसरी-पद्धति
(ग) प्रौजेक्ट-पद्धति
(घ) डाल्टन-पद्धति
(ङ) बेसिक-शिक्षा-पद्धति

प्रश्न

१. व्यक्ति-शिक्षण-पद्धति क्या है ? इसके क्या दोष हैं ?
२. कक्षा-शिक्षण-पद्धति के क्या गुण-दोष हैं ?

११

सानुबन्ध-शिक्षा

(METHOD OF CORRELATION OF STUDIES)

चालू दृष्टि—

विद्यालय की प्रत्येक कक्षा में अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं। पढ़ाई, लिखाई—ये दो विषय हैं; इतिहास, भूगोल—ये दो विषय हैं। अंक-गणित, बीज-गणित, ज्यामिति—ये तीन विषय हैं; सुलेख, शीघ्र-लेख, व्याकरण, निबन्ध, साहित्य—ये पाँच विषय हैं। इस प्रकार विषयों को गिना जाय तो उनकी संख्या बीस के लगभग हो जाती है। इतने विषयों को थोड़े-से समय में कैसे पढ़ाया जाय—यह शिक्षक की सब से बड़ी समस्या है। चालू दृष्टि से ये अलग-अलग विषय हैं। परन्तु क्या वास्तव में ये सब विषय अलग-अलग हैं? ज़रा ध्यान देने से प्रतीत होगा कि इन विषयों में से अनेक का आपस में सम्बन्ध है, इतना सम्बन्ध कि एक को पढ़ाने में दूसरा स्वयं पढ़ाया जाता है। पढ़ाई-लिखाई एक ही विषय में आ जाते हैं; इतिहास-भूगोल एक-दूसरे के साथ रले-मिले हैं; सुलेख-शीघ्रलेख साथ-साथ रहते हैं; व्याकरण-निबन्ध-साहित्य को बाँधा जा सकता है। भिन्न-भिन्न विषयों का एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक संबन्ध है। विषयों को एक दूसरे के साथ बाँध कर पढ़ाना ही 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Studies) कहाती है।

शिक्षक १५-२० विषयों को कैसे पढ़ाये—केवल इसी समस्या को हल करने के लिये 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Studies) के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जाता, अपितु इस सिद्धान्त के आधार में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विचारधारा भी काम कर रही है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि—

'मनोवैज्ञानिक-दृष्टि' से विचार किया जाय तो बालक का ज्ञान भिन्न-भिन्न विषयों का अलग-अलग ज्ञान नहीं होता, उसका ज्ञान एक समूचे जगत् का ज्ञान है; 'अवयवी' का ज्ञान होता है, 'अवयव' का नहीं, 'अवयव' का ज्ञान 'अवयवी' के ज्ञान के बाद होता है। गाना सुनते हुए मधुर संगीत का ज्ञान होता है, उसके ताल और लय का ज्ञान तो बहुत मेहनत से प्राप्त किया जाता है। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बालक के मन की रचना के अनुसार चले—जब उसके मन में ज्ञान अलग-अलग भागों में नहीं बँटा हुआ तब उसी प्रकार चलने से वह ज्ञान को आसानी से प्राप्त कर लेता है। बालक के लिये सब विषय एक हैं, ज्यों-ज्यों वह विकसित होता जाता है त्यों-त्यों वह एकता में अनेकता का अनुभव करता जाता है। शिक्षक को भी इसी प्रकार चलना होगा। पहले सब विषयों को एक-साथ रला-मिला कर बालक के सम्मुख रखना होगा, और ज्यों-ज्यों वह विकसित होता जायगा त्यों-त्यों उन विषयों को एक-दूसरे से अलग-अलग करना होगा।

दार्शनिक दृष्टि—

'दानिर्शक-दृष्टि' से विचार किया जाय तो भी मनुष्य का ज्ञान एक अभिन्न इकाई है। ज्ञान में विविधता नहीं, एकता है। जब तक कोई नई बात मन में आकर मन की पुरानी

संचित बातों के साथ अपना किसी-न-किसी तरह का सम्बन्ध नहीं बाँध लेती तब तक वह अलग पड़ी रहती है, अखरती है, मन का हिस्सा नहीं बनती। हमारे घर में कोई अतिथि आये तो उसे हमारे या हमारे सगे-सम्बन्धी-मित्रों के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध बतलाना होगा तभी उसे घर में आश्रय मिलेगा, रास्ते में चलते-फिरते को कोई अपने घर में स्थान नहीं देता। यही विचारों का हाल है। जिन विचारों ने मन में पहले घर किया हुआ है, नये विचारों को उनके साथ किसी-न-किसी प्रकार का संबंध जोड़ना होगा। संबंध जुड़ जायगा तो उनका स्वागत होगा, नहीं जुड़ेगा तो उन्हें वहाँ स्थान नहीं मिलेगा। इसी विचार को जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षा-शास्त्री हर्बार्ट ने अपनी विचार-धारा से पुष्ट करके 'केन्द्रीकरण' (Concentration) तथा 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Studies) के सिद्धान्तों को जन्म दिया।

केन्द्रीकरण का सिद्धान्त—

हर्बार्ट का कथन था कि 'मन' का 'विश्लेषण' किया जाय तो कुछ नहीं रहता, सिर्फ़ 'विचार' रह जाते हैं—विचारों के 'संश्लेषण' का नाम ही मन है। जैसे ईंटों को जोड़ने से घर वनता है वैसे विचारों को जोड़ने से मन वनता है। परन्तु ईंटों को किसी भी क्रम से रख देने से तो घर नहीं वनता, ईंटों का ढेर वन जाता है; विचारों को भी किसी भी प्रकार भर देने से 'व्यवस्थित-मन' नहीं वनता, विक्षिप्त मन वन जाता है, व्यवस्थित मन तभी वनता है जव इन विचारों को किसी क्रम से रखा जाय, उन्हें आपस में एक दूसरे से वाँध दिया जाय। विचारों को इस प्रकार क्रम से वाँधने से मानो एक 'विचारों का वृत्त' (Circle of thought) वन जाता है। जैसे

सुन्दर वृत्त चारों तरफ़ से गोल होता है, कहीं से उभरा, कहीं से चपटा नहीं होता, इसी प्रकार क्रम से पड़े हुए और आपस में स्वाभाविक शृंखला में बंधे हुए विचार एक 'विचारों के वृत्त' का निर्माण करते हैं। जिस व्यक्ति के विचार जितने शृङ्खला में बँधे होते हैं, उसका उतना सुन्दर 'विचार-वृत्त' (Circle of thought) बनता है, और विचारों का जितना सुन्दर 'वृत्त' होता है उतना ही उस व्यक्ति का मन सुव्यवस्थित होता है, सुव्यवस्थित मन से ही मनुष्य में 'व्यवसाय-शक्ति' (Will-power) उत्पन्न होती है, 'व्यवसाय-शक्ति' से ही वह किसी कार्य के करने में सफल होता है। 'विचार-वृत्त' के बनने का अभिप्राय यही है कि मन में जो-कुछ प्रवेश करे वह पहले के विचारों के साथ अपना संबंध स्थापित कर ले। वृत्त में जसे एक केन्द्र होता है, केन्द्र से ही वृत्त बाहर को फैलता है, वैसे 'विचारों के वृत्त' का भी कोई केन्द्र होना चाहिये। इस केन्द्र के साथ प्रत्येक विचार को जोड़ कर मन का सुन्दर विकास होता है। अगर सदाचार को 'विचारों के वृत्त' का केन्द्र बना कर उसे विकसित किया जाय तो सम्पूर्ण जीवन चरित्र-मय बन जाता है। जब 'विचार-वृत्त' का केन्द्र-बिन्दु सदाचार है, दूसरे सभी विचार इसी से गुँथे हुए हैं, इससे बिना जुड़ा कोई भी विचार नहीं, तब दुराचार का विचार मन में आकर अपने सरीखा कोई विचार न देखकर अन्दर टिक ही नहीं सकता। प्राय: देखने में आता है कि सुशिक्षित व्यक्ति भी दुराचारी होते हैं, अशिक्षित भी सदाचारी होते हैं। इस का कारण यही है कि सुशिक्षित होते हुए भी उस व्यक्ति के विचारों के वृत्त का विकास सदाचार के केन्द्र से नहीं हुआ और अशिक्षित होते हुए भी दूसरे व्यक्ति के विचारों के वृत्त का

विकास सदाचार के केन्द्र से हुआ है। शिक्षा के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को घटाने को ही 'केन्द्रीकरण' (Concentration) का सिद्धान्त कहा जाता है। जैसे 'विचारों के वृत्त' का एक 'केन्द्र' है, सब 'विचार' उसी से जुड़े रहते हैं, वैसे अध्यापन में भी किसी विषय को 'केन्द्र' बनाकर अन्य सब विषयों को उसके साथ जोड़ देना मन को सुव्यवस्थित बना देना है। हर्बार्ट ने इतिहास को केन्द्र बना कर अन्य विषयों को उसके साथ पिरो दिया था। इतिहास को केन्द्र बनाने का कारण यह था कि इस से महान् पुरुषों का चरित्र पढ़कर विद्यार्थी ऊँचे चरित्र का भी बनता जाता है, और इतिहास के साथ जुड़ा सारा ज्ञान भी प्राप्त करता जाता है। साहित्य में ऐतिहासिक काव्य-नाटक, गणित में प्राचीन सेनाओं के सिपाहियों की संख्या, वेतन आदि का हिसाब, भूगोल में जिन-जिन मार्गों से आक्रांताओं को गुज़रना पड़ा उनका वर्णन, विज्ञान में युद्धों के समय बंदूक आदि का वर्णन करके सब विषयों को इतिहास के इर्द-गिर्द बाँध दिया जाता है। अमेरिका में हर्बार्ट के अनेक अनुयायियों ने 'इतिहास' के स्थान में 'प्रकृति-पाठ' (Nature Study) को सब विषयों का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया है। 'निरीक्षण तथा सरस्वती-यात्रा' के अध्याय में हम देख चुके हैं कि किस तरह 'प्रकृति-पाठ' को केन्द्र बनाकर अन्य विषय पढ़ाये जा सकते हैं।

सानुबन्ध-शिक्षा का सिद्धांत—

'केन्द्री-करण' (Concentration) का अर्थ है किसी एक विषय को केन्द्र बना कर पढ़ाना, 'सानुबन्ध' का अर्थ है उस केन्द्रीय विषय के साथ अन्य विषयों का सम्बन्ध जोड़ कर पढ़ाना। किसी विषय को केन्द्र बनाने का उद्देश्य यही है कि

उस केन्द्र के साथ अन्य विषयों का संबन्ध जोड़ा जाय, इसलिये 'केन्द्री-करण' (Concentration) 'अनु-बन्ध' (Correlation) स्थापित करने के लिये ही है। भारत में जिस बेसिक-शिक्षा-प्रणाली पर ज़ोर दिया जा रहा है उसमें कातना आदि किसी काम को 'केन्द्रीय-विषय' (Central Subject) बना कर अन्य विषयों का उसके साथ 'अनुबन्ध' (Correlation) अर्थात् सम्बन्ध स्थापित करना ही उद्देश्य है।

'केन्द्री-करण' के विषय में यह आपत्ति की जाती है कि सब विषयों को एक ही विषय के साथ नहीं टाँका जा सकता, परन्तु 'अनुबन्ध' स्थापित करते जाना, एक विषय का दूसरे के साथ सम्बन्ध जोड़ते जाना तो कोई कठिन काम नहीं है। यह ठीक है कि जहाँ सम्बन्ध न हो वहाँ भी ज़बर्दस्ती किसी-न-किसी तरह से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न करना ठीक नहीं, परन्तु जहाँ सम्बन्ध हो वहाँ सम्बन्ध दिखाना 'व्यावहारिक', 'मनोवैज्ञानिक' तथा 'दार्शनिक' दृष्टि-कोण से सर्वथा उचित है।

प्रश्न

१. भिन्न-भिन्न विषयों के सम्बन्ध में चालू-दृष्टि क्या है?
२. क्या सब विषय अलग-अलग हैं? उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं?
३. 'सानुबन्ध-शिक्षा' का क्या सिद्धान्त है? इसके आधार में मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि क्या है?
४. जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक तथा शिक्षा-शास्त्री हर्बार्ट के 'केन्द्रीकरण' तथा 'सानुबन्ध-शिक्षा' के सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखिये।
५. साहित्य, इतिहास या प्रकृति-पाठ में से किसी एक विषय को केन्द्रीय विषय बनाकर अन्य विषयों का उसके साथ कैसे अनुबन्धन किया जा सकता है—इसे समझाइये।

१२

क्रिया द्वारा शिक्षा की पद्धति

(DYNAMIC OR ACTIVITY METHOD IN EDUCATION)

पुराने और नये शिक्षा-शास्त्र में यह भेद है कि पहले 'अपने-आप करके सीखने और खेल द्वारा सीखने' (Learning by doing and learning by play)—इन दोनों को शिक्षा का अंग नहीं माना जाता था। जो-कुछ करता था शिक्षक करता था, बालक नहीं; शिक्षक परीक्षण करके दिखाता था, बालक देखता था; शिक्षक पाठ पढ़कर सुनाता था, बालक सुनता था। आजकल यह समझा जाता है कि बालक परीक्षण करे, शिक्षक देखे, जहाँ अशुद्धि हो वहाँ बता दे; बालक पाठ पढ़े, शिक्षक सुने, जहाँ अशुद्धि हो वहाँ बता दे। जितनी नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ निकली हैं—'प्रोजेक्ट', 'डाल्टन', 'किंडरगार्टन', 'मान्टीसरी', 'बेसिक'—सब के आधार में ये दोनों दृष्टि-कोण काम कर रहे हैं। इस अध्याय में हम 'क्रिया' द्वारा, और अगले अध्याय में 'खेल' द्वारा शिक्षा देने का वर्णन करेंगे।

'शिक्षा' एक विशेष प्रकार की 'क्रिया' का नाम है। बालक लिखता है, हम कहते हैं, यों न लिखो, यों लिखो; वह पढ़ता है, हम कहते हैं, यों न पढ़ो, यों पढ़ो; वह जो-कुछ करता है, हम कहते हैं, यों न करो, यों करो—बालक 'क्रिया' कर रहा है, हम उस 'क्रिया' को ठीक दिशा दे देते हैं, यही 'शिक्षा' है।

अगर बालक के भीतर चल रही अपनी क्रिया—'आभ्य-

न्तर-क्रिया'—(Self-activity) न होती, तो शिक्षा का प्रश्न एक 'मनोवैज्ञानिक' प्रश्न न होकर एक 'यान्त्रिक' प्रश्न होता। ईंट-पत्थर में अपनी कोई 'आभ्यन्तर-क्रिया' (Self-activity) नहीं है, उनसे हम जैसा मकान चाहें खड़ा कर देते हैं; बालक की 'आभ्यन्तर-क्रिया' क्योंकि अपनी ही किसी दिशा की तरफ़ जा रही है इसलिए उस 'क्रिया' को ध्यान में रखकर चलना हमारे लिए आवश्यक हो जाता है। या तो जिस दिशा की तरफ़ उसकी 'आभ्यन्तर-क्रिया' जा रही है हमारी क्रिया भी उसी दिशा की तरफ़ चले, या उस क्रिया को रोककर उसे कोई दूसरी दिशा दे। अगर हमारी क्रिया बालक की क्रिया की दिशा में ही चलती है तब तो बालक हंसी-खुशी से हमारी बात का स्वागत करता है, अगर उसके विरोध में चलती है, तब बालक और शिक्षक की क्रियाओं में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान शिक्षा-शास्त्र यही कहता है कि शिक्षक को बालक की 'आभ्यन्तर-क्रिया' (Self-activity) का पता लगाकर, उसके साथ चलकर, उसे ठीक दिशा देनी चाहिए, और आवश्यकता पड़ने पर ऐसी 'आभ्यन्तर-क्रिया' उत्पन्न कर देनी चाहिये जिससे वह ठीक दिशा की तरफ़ स्वयं चल पड़े।

हम सड़क पर चले जा रहे हैं, इतने में कोने से एक चोर निकला। हमने उसे अपनी तरफ़ बुलाया, वह भाग खड़ा हुआ। ठीक इसी समय एक दूसरा आदमी दिखाई दिया, वह भूखा था, उसे भी हमने पुकारा, वह झट बढ़ कर आगे आ गया। क्या कारण है कि पुकारने से एक आदमी भाग गया, दूसरा निकट आ गया? कुत्ता भूखा है, हमने खाली हाथ आगे करके उसे पुचकारा, वह उछलता हुआ आया; वह भूखा नहीं

है, हमने हाथ में रोटी लेकर उसके सामने की, उसने हमारी तरफ़ देखा भी नहीं ! क्या कारण है कि वही कुत्ता एक हालत में भागता आता है, दूसरी हालत में हमें पहचानता भी नहीं ? इन सबका यही कारण है कि संसार में 'विषय' (Stimulus) के सामने आते ही मनचाही 'प्रतिक्रिया' (Response) नहीं उत्पन्न होती, इसलिए नहीं होती क्योंकि जिस 'व्यक्ति' (Organism) ने प्रतिक्रिया करनी है उसकी अपनी क्रिया—'आभ्यन्तर-क्रिया' (Self-activity) भी चल रही होती है, और उसकी भीतरी क्रिया और हमारी दी हुई क्रिया के परिणाम से जो क्रिया हो सकती है वही क्रिया उत्पन्न होती है। कई क्रियाओं का परिणाम कौन-सी क्रिया होगी इसका निश्चय करने में 'व्यक्ति' के भीतर चल रही क्रिया का सबसे मुख्य प्रभाव पड़ता है।

बालक शान्त नहीं, क्रिया-शील होता है, उसके भीतर बड़ी भारी क्रिया चल रही है, उसे बाँध कर बैठा देना उसे मानो जेल में डाल देना है। चतुर शिक्षक के हाथ में बालक की यह असीम 'क्रिया-शीलता' मसाले का काम करती है जिससे चतुर राज की भाँति वह एक भव्य-भवन का निर्माण कर देता है। यह देखा गया है कि बालक दिन में १५ हज़ार शब्द तो बोल ही डालता है, उसका शब्द-कोष बहुत परिमित है, परन्तु एक ही बात को बार-बार बोलता जाता है। बालक अपने शरीर के द्वारा साधारण व्यक्ति से ५ गुना ज़्यादा शारीरिक गति करता है। बचपन में एक-एक 'ज्ञान-वाहक-तन्तु' (Sensory Nerve) के लिए एक-एक 'चेष्टा-वाहक-तन्तु' (Motor Nerve) होता है, क्योंकि उस समय क्रिया-ही-क्रिया करनी होती है, पीछे जाकर कई 'चेष्टा-वाहक-तन्तुओं'

के स्थान में एक-एक 'चेष्टा-क्षेत्र' (Motor area) बन जाता है क्योंकि उस समय उतनी अधिक क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। बालक शान्त बैठते हैं तो भी कुछ-न-कुछ बोलते ही जाते हैं। उनमें क्रिया का यह अदम्य झरना इसीलिये फूटा पड़ता है क्योंकि बालक ने क्रिया द्वारा ही सब-कुछ सीखना होता है। बालक करते पहले हैं, सोचते पीछे हैं; बड़े होने पर पहले सोचते हैं, फिर करते हैं। जब तक बालक किसी काम को करके नहीं सीखता तब तक वह उसे पूरी तरह सीख ही नहीं पाता। किंडरगार्टन तथा मॉन्टीसरी पद्धति में बालक की क्रियाशीलता से ही लाभ उठाया गया है, इनमें ज़बानी शिक्षा नहीं दी जाती। 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by Doing) की पद्धति का सब विषयों में प्रयोग किया जा सकता है। थॉर्नडाइक ने इसके सम्बन्ध में कुछ नियमों का प्रतिपादन किया है जिनका वर्णन हम 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में कर चुके हैं। व्यावहारिक गणित पढ़ाने का पुराना तरीका बड़े-बड़े प्रश्न हल करवाने का था जिन्हें बालक कुछ नहीं समझता था। नवीन प्रणाली के अनुसार बालक से खरीदना-बेचना करवाया जाता है, स्कूल में अपना बैंक खोला जाता है, बालकों का उस में हिसाब रहता है, वे चेक काटते हैं, स्कूल में छोटे-छोटे बाज़ार लगाते हैं, लाभ-हानि की समस्याओं को 'क्रिया-पद्धति' द्वारा स्वयं सीख जाते हैं। आजकल 'विचारात्मक' (Theoretical),

थार्नडाइक
(१८७४-१९४९)

के साथ-साथ 'क्रियात्मक' (Practical) पढ़ाई पर विशेष बल दिया जाता है। लड़के परीक्षण करते हैं, नाटक खेलते हैं, बालचर बनते हैं, बढ़ई और जिल्दसाज़ी का काम सीखते हैं, यह सब इसलिये क्योंकि आज की शिक्षण-प्रणाली ने शिक्षा में हाथ से काम करने के तत्व को समझ लिया है।

प्रश्न होता है कि बालक के मन में क्या चीज़ है जो उसे हर समय क्रिया-शील बनाये रखती है? भूखा कुत्ता रोटी देखकर क्यों उछल कर आता है, चोर हमें देखकर क्यों भाग जाता है? यह इसलिये कि कुत्ते को 'भूख' लगी है, चोर को 'भय' लगा है। क्रिया-शीलता की आधार यही 'भूख'-'भय'-'जिज्ञासा' आदि 'मूल-शक्तियाँ' (Instincts) हैं, यही हमारे भीतर बैठी-बैठी हमें इधर-से-उधर चलाया करती हैं। जिस समय ये हमें प्रेरणा दे रही होती हैं, हमें क्रिया के लिये बाधित कर रही होती हैं, तब इन्हें 'प्रेरक-कारण' (Urges, Motivations) कहा जाता है। ये 'प्रेरक-कारण' ही हम से 'क्रिया' (Activity) कराते हैं। शिक्षक का काम पढ़ाते हुए 'प्रेरक-कारण' उत्पन्न कर देना या उन्हें प्रबल कर देना है। कक्षा में आकर यह कहकर पढ़ाना कि आज हम अमुक-अमुक पाठ पढ़ेंगे पढ़ाने का उत्तम तरीका नहीं है। पढ़ाने का तरीका यह है कि बालकों की 'क्रिया-शीलता' को उत्तेजित करने वाले 'प्रेरक-कारणों' (Motivations) की सहायता से उसे काम में इस प्रकार लगा दिया जाय कि वह उससे चिपट जाय, और फिर काम को पूरा करके ही दम ले। 'मॉन्टीसरी'-'प्रोजेक्ट' आदि पद्धतियों में इसी विचार को दृष्टि में रखा गया है। बालक के मन में 'प्रयोजन' (Purpose) उत्पन्न करके उसे उसके हल करने में लगा

देने से वह काम करेगा, उससे थकेगा नहीं, और करत-करते बहुत-कुछ सीख जायगा।

प्रश्न

१. 'क्रिया द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त को समझने के लिए बालक के भीतर चल रही 'आभ्यन्तर-क्रिया' को जानना चाहिए—इसे समझाइये।
२. क्रिया-द्वारा सीखने के सिद्धान्त पर थॉर्नडाइक के विचार लिखो।
३. क्रिया-द्वारा सीखने के विचार के साथ 'मूल-प्रवृत्तियों' का क्या सम्बन्ध है ?

१३

खेल द्वारा शिक्षा की पद्धति

(PLAY-WAY IN EDUCATION)

कोई समय था जब खेलना पाप समझा जाता था। माता-पिता प्रायः कहा करते थे, बच्चा हर समय खेल में लगा रहता है, पढ़ने में इसका दिल नहीं। जर्मनी के प्रो० कार्ल ग्रूस ने कहा कि खेलना पाप नहीं, खेलना तो प्राणी को शिक्षा देने का एक साधन है, इसीलिये प्रकृति ने इसे सरक्षित रखा है। जो चीज़ बेकार है वह संसार में टिकती नहीं—यह नियम है। संसार के प्रारंभ दिन से आज तक बच्चा खेलता ही चला आया है, आज से लाखों साल पहले जंगली का बच्चा हो, आज के बादशाह का बच्चा हो—सभी खेलते हैं। खेल का प्रकृति में कोई भारी उपयोग है, तभी तो, हमें निकम्मी-सी जंचने वाली यह चीज़ आज तक बनी हुई है। पिछले अध्याय में हमने देखा था कि 'क्रिया-शीलता' (Activity) की उपयोगिता 'शिक्षा' के लिये है, इसी प्रकार 'खेल' की भी उपयोगिता यही है कि इस से पशु तथा मनुष्य का बालक सीखता है, भावी जीवन में जो-कुछ उसे करना है उस के लिये खेल द्वारा अपने को तैयार करता है। 'क्रिया-शीलता' ही किसी विशेष बात को सीखने के लिये 'खेल' का रूप धारण कर लेती है। जिन प्राणियों को कुछ सीखना नहीं वे खेलते भी नहीं। मच्छर को, खटमल को क्या सीखना है? खाना और जीना—इन दो के सिवाय उनका

कोई काम नहीं, इन दोनों को वे जन्म से ही जानते हैं, इसलिये उनके जीवन में खेल का कोई स्थान नहीं। जिस प्राणी को जीवन-यात्रा के लिए अधिक सीखने की आवश्यकता है वह उतना ही अधिक खेलता है, जिसे जितना कम सीखने की आवश्यकता है वह उतना ही कम खेलता है। खेलना तो सीखने का भारी साधन है।

खेलना बालक के लिये सीखने का साधन क्यों है? वह इसलिए कि सिर्फ़ सीखना तो एक 'काम' हो जाता है, कोई भी 'काम' बालक के लिए थकाने वाली चीज़ हो सकती है। बालक 'खेलना' चाहता है, 'काम' नहीं करना चाहता; हाँ, खेलने का अगर इस प्रकार उपयोग कर लिया जाय जिससे वह खेलता-खेलता काम भी कर ले तब उसे कोई आपत्ति नहीं होती। वह क्यों 'खेलना' चाहता है, और क्यों 'काम' नहीं करना चाहता, इसके लिए 'खेल' और 'काम' के भेद को स्पष्ट रूप में समझ लेना आवश्यक है। 'खेल' और 'काम' में ये भेद हैं :—

(१) 'खेल' का उद्देश्य खेलमात्र होता है, 'काम' का उद्देश्य काम नहीं होता, कुछ और होता है। बालक गेंद से खेल रहा है, खेलने के अतिरिक्त उसका क्या उद्देश्य है? वकील वकालत कर रहा है। वह वकालत इसलिए करता है क्योंकि इससे पैसा पैदा होता है। 'खेल' में उद्देश्य सिद्ध होगा या नहीं होगा, यह भावना नहीं बनी रहती, क्योंकि बालक के मन में खेल के अतिरिक्त कोई उद्देश्य ही नहीं होता, 'काम' में उद्देश्य सिद्ध होगा या नहीं होगा, यह भावना बनी रहती है। 'खेल' में परिणाम की चिन्ता नहीं, 'काम' में परिणाम की चिन्ता है, इसलिये 'खेल' में बालक लगा रहता है, 'काम' से से जी चुराता है।

(२) 'खेल' अपनी इच्छा पर आश्रित है, 'काम' दूसरे की इच्छा पर। बालक खेलता है, कभी इधर भागता है, कभी उधर, वह 'स्वतंत्र' होता है। अगर खेल में बन्धन भी हैं तो अपने बनाने हुए, या अपने माने हुए। जो-कुछ है, अपनी इच्छा से है। काम में तो मनुष्य बंधा रहता है, न इधर हिल सकता है, न उधर। जो बात अपनी इच्छा पर निर्भर करती है उसमें दिलचस्पी बनी रहती है, उसे आदमी देर तक करता चला जाता है, जो दूसरे की इच्छा पर निर्भर करती है, उसे देर तक नहीं कर सकता। दुकानदार की मर्ज़ी है जब चाहे दुकान खोले, जब चाहे बन्द कर दे। दुकानदार की इस स्वतंत्रता पर बड़े-बड़े नौकरी-पेशा आहें भरा करते हैं। वे कहते हैं, बड़ी तनख्वाहें पाते हैं तो क्या, आज़ादी तो नहीं है। दुकानदार अपने काम से जी नहीं चुराता, वे जी चुराते हैं। अध्यापक पढ़ाने आता है तो सोचता है, कब स्कूल बन्द हो और वह घर भागे, क्लर्क दफ्तर आता है तो सोचता है कब चार बजें और वह उठे। यही लोग जब अपना काम अपनी मर्ज़ी से करने लगते हैं तो दिन-रात काम करते हुए भी नहीं थकते। यह दूसरा कारण है कि बालक 'खेल' में लगा रहता है, 'काम' में नहीं। यही कारण है कि जब 'खेल' बालकों के लिए आवश्यक कर दिया जाता है तब खेल के लिए जान देने वाले बालक भी खेल से जी चुराने लगते हैं, तब उनके लिए 'खेल' ही 'काम' बन जाता है।

(३) 'खेल' में आनन्द आता है, 'काम' में नहीं। 'खेल' में हारने पर भी बालक उछला-कूदा-हंसा करते हैं, 'काम' में तो आनन्द तभी आता है जब सफलता हो। जो सफल नहीं है, उस बेचारे को भी काम तो करना ही पड़ता है, जी मार कर

काम करना पड़ता है क्योंकि कुछ किए बग़ैर गुज़ारा नहीं। यह तीसरा कारण है कि बालक 'खेल' में जुटे रहते हैं, थककर चकनाचूर हो जाने पर भी क्योंकि आनन्द आ रहा है इसलिये खेलने से नहीं थकते, और थोड़ा-सा 'काम' करने पर ही क्योंकि आनन्द नहीं आ रहा है इसलिए काम से ऊब जाते हैं।

हमने देखा कि 'परिणाम की चिन्ता का न होना', 'स्वतंत्रता' तथा 'आनन्द' —ये तीन बातें हैं जिनसे बालक खेल में लगा रहता है, उससे थकता नहीं। यह स्पष्ट है कि अगर इन तीनों को 'काम' के साथ जोड़ा जा सके तो बालक काम में भी लगा रहेगा, उससे थकेगा नहीं। 'काम' के साथ इन तीनों भावनाओं का सम्बन्ध जोड़ देना ही 'काम' को 'खेल' बना देता है, और इसी को 'खेल द्वारा शिक्षा देना' कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'खेल' कितने प्रकार के हैं, और उन्हें 'काम' के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है ?

कार्लग्रूस ने खेलों को पाँच भागों में विभक्त किया है :—

(१) परीक्षणात्मक खेल (Experimental Plays)
(२) दौड़-धूप वाले खेल (Movement Plays)
(३) रचनात्मक खेल (Constructive Plays)
(४) लड़ने-झगड़ने वाले खेल (Fighting Plays)
(५) मानसिक खेल (Intellectual Plays)

'परीक्षणात्मक खेल' वे हैं जिनमें बालक चीज़ों को उठाने-धरने में लगा रहता है। इससे वह भावी जीवन की तैयारी कर रहा होता है। पशु ऐसे खेल खेलते हैं। बिल्ली का बच्चा किसी भी चीज़ को कभी इधर से पकड़ता है, कभी उधर से—वह मानो चूहे के शिकार का अभ्यास कर रहा होता है। कुत्ते का पिल्ला दूसरे पिल्ले को खेल-खेल में दाँतों से धर दबोचता

है। उसे भी तो बड़े होकर शिकार खेलना होता है। इस प्रकार के खेलों से प्राणी को वस्तु के आकार-प्रकार, रंग-रूप का ज्ञान हो जाता है। ऐसे खेल बालक व्यक्ति रूप से, इकले खेला करते हैं। मॉन्टीसरी पद्धति में परीक्षणात्मक-'खेल' को 'शिक्षा' के साथ जोड़ दिया गया है। बालक ने वस्तुओं को उठाना-धरना तो है ही, फिर उसके गिर्द ऐसे उपकरण क्यों न रख दिये जाँय जिनसे वह इनके साथ खेलता-खेलता वस्तुओं के आकार-प्रकार, रंग-रूप आदि के विषय में व्यवस्थित रूप से कुछ सीख भी जाय। मॉन्टीसरी स्कूल में जाने वाले बच्चे से हमने एक बार पूछा, तुम वहाँ क्या पढ़ते हो? उसने कहा, हम पढ़ते नहीं, खेलते हैं। बात भी ठीक है, वे खेलते हैं, और खेलते-खेलते पढ़ जाते हैं।

'दौड़-धूप वाले खेल' वे हैं जिनमें बालक एक-दूसरे के पीछे भागते हैं, पत्थर उठाकर फेंकते हैं, वे यूं ही इधर-उधर फिरा करते हैं, कुछ-न-कुछ बोला करते हैं। ये खेल बालक इकले भी खेलते हैं, दूसरों के साथ भी, साथ खेलने से इन खेलों में तीव्रता और वेग आ जाता है। इन खेलों से उनके शरीर का गठन दृढ़ होता है, शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक सहयोग बढ़ता है। किंडरगारटन-पद्धति में इसी भावना को ओत-प्रोत किया गया है, यहाँ तक कि माता से भी यह आशा की जाती है कि वह बालकों के साथ खेल सके। इस प्रकार के खेलों से बालकों में सहयोग, सहानुभूति आदि की भावनाओं को उत्पन्न किया जा सकता है।

'रचनात्मक-खेलों' में बालक मिट्टी का घर बनाते हैं, स्काउटिंग सीखते हुए पुल बनाते हैं, हाथ से काम करते हुए पुस्तकों की अपेक्षा बहुत अधिक सीख जाते हैं। ये खेल बड़ों

के हैं। बालचर-संस्था रचनात्मक खेलों का सबसे अच्छा दृष्टांत है। बालक जंगल में जाते हैं, कैम्प लगाते हैं, हाथ से लकड़ी काटते हैं, रोटी बनाते हैं, और यह सब करते हुए बहुत-कुछ सीख जाते हैं। प्रोजेक्ट-शिक्षा-प्रणाली में बालक किसी रचनात्मक कार्य को सामने रखकर खेल-खेल में कर डालते हैं, और पुस्तकें जो-कुछ नहीं सिखा सकतीं 'प्रोजेक्ट' उन्हें सिखा देते हैं।

'लड़ने-झगड़ने के खेल' कबड्डी, कुश्ती, हाकी, फुटवाल आदि हैं। ये वड़ों के खेल हैं समूह में खेले जाते हैं, और इनसे बालक इतना-कुछ सीख जाता है जो दूसरी किसी तरह सीख ही नहीं सकता। मिलकर काम कैसे करना चाहिए, हार कर भी कैसे हंसते रहना चाहिये, जीवन फूलों की शय्या ही नहीं है, उससें काँटे भी हैं, परन्तु काँटों में उलझ कर भी उन्हें कैसे सुलझाना चाहिये— ये गुण कबड्डी, कुश्ती आदि खेलों से ही सीखे जा सकते हैं। नैलसन ने वाटरलू का युद्ध क्रिकेट के मैदान में जीता था। कैसे ? क्योंकि युद्ध में जिन गुणों की आवश्यकता है, उसने वे खेल के मैदान में पाये थे।

'मानसिक खेल' तीन तरह के हैं : पहले, 'विचारात्मक' (Intellectual), जैसे, शतरंज, ताश, ड्राफ्ट। शब्द-रचना का खेल खेलते-खेलते बालक शुद्ध हिज्जे सीख जाता है, शतरंज से युद्ध की चालें समझ में आजाती हैं। दूसरे, 'उद्वेगात्मक' (Emotional), जैसे, नाटक खेलना। आजकल नाटक का शिक्षा में बड़ा स्थान है। इतिहास सिखाने का सर्वोत्तम उपाय ऐतिहासिक नाटकों का खेलना है। नाटक खेलते हुए घटनाएं बालक के मस्तिष्क पर अमिट छाप छोड़ जाती हैं। उसके साथ उसे स्पष्ट तथा उच्च स्वर से बोलना पड़ता है, वीर, रौद्र,

हास्य रस के भावों को व्यक्त करना पड़ता है। इससे बालक स्पष्ट बोलना सीख जाता है, भिन्न-भिन्न भावावेशों को प्रकट करना उसे अनायास आ जाता है। तीसरे 'कृत्यात्मक' (Volitional), जैसे, कोई हंसाने वाली कहानी कह कर न हंसने की शर्त लगा दी जाय, जो हंस पड़े, वह हारा समझा जाय, जो न हंसे, वह जीता। इससे अपने को नियमित करने का अभ्यास हो जाता है।

बालक को खेल-खेल में सब-कुछ सिखाने के विषय में कई लोग आपत्ति करते हैं, और कहते हैं कि यह 'मृदु-शिक्षा-विज्ञान' (Soft Pedagogy) है, बालक को हमने जीवन में कठिनाइयों का सामना करने योग्य बनाना है, न कि हर-एक बात को आसान बना कर उसे कठिन कार्य के सर्वथा अयोग्य बना देना है। कठिन कार्य का अभ्यास करा कर हमें उसमें कठिन कार्य करने की 'शक्ति' उत्पन्न करनी चाहिये ताकि वह सब कठिन कार्यों को कर सके। परन्तु यह बात ठीक नहीं। आजकल का मनोविज्ञान मनुष्य के मन की इस प्रकार की भिन्न-भिन्न 'शक्तियों' (Faculties) को नहीं मानता, इसलिए वह यह भी नहीं मानता कि कठिन विषयों के अभ्यास से कठिनाई का सामना करने की कोई 'शक्ति' उत्पन्न हो सकती है। असल बात तो यह है कि हमने बालक को शिक्षा देनी है, और शिक्षा को खेल से जोड़ देना शिक्षा देने का सहल उपाय है। सब से पहले काल्डवेल कुक (Caldwell Cook) ने 'क्रीड़ा-पद्धति' (Play-way) शब्द का प्रयोग किया था। उस ने देखा कि अंग्रेज़ी पढ़ाते हुए लड़कों का ध्यान पाठ की तरफ़ नहीं होता था। उसने शेक्सपीयर के नाटकों को बालकों से करवाना शुरू किया। फिर क्या था, अंग्रेज़ी पढ़ना उनके

लिए खेल हो गया। इसी पद्धति को आज शिक्षा के हर क्षेत्र में घटाया जा रहा है, और खेल को शिक्षा के साथ जोड़कर अनेक शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित हो रही हैं। उन्हीं का वर्णन हम इससे अगले अध्यायों में करेंगे।

प्रश्न

१. 'खेल' और 'काम' में क्या भेद है ?
२. 'खेल' के कार्लग्रूस ने कौन-कौन-से भेद किए हैं और उन्हें 'काम' के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है ?

१४

किंडर-गारटन पद्धति

(KINDERGARTEN METHOD)

[किंडरगारटन पद्धति के आविष्कर्ता फ्रोबेल का जन्म २१ अप्रैल १७८२ में जर्मनी के ओबरवेसवैक स्थान पर हुआ। उसकी माता का बचपन में ही देहान्त हो गया। पिता पादरी था, वह अपने काम में इतना लगा रहता था कि उसे बालक की देख-रेख का ध्यान ही नहीं था। दस वर्ष की आयु में वह स्कूल में भर्ती हुआ जहां उसे निकम्मा और आलसी समझा जाता था। चार वर्ष तक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उसने पढ़ना-लिखना छोड़ दिया और आजीविका के लिए एक जंगल के ठेकेदार के यहां काम करना शुरू किया। प्रकृति से उसे बचपन से ही प्रेम था, अब उसे प्रकृति में रहने का अवसर मिला। १८ वर्ष की आयु में उसने फिर जेना विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। ग़रीबी के कारण वह विश्वविद्यालय में अपनी शिक्षा को जारी न रख सका। इस बीच उसने एक नक्शेनवीस के यहाँ नौकरी कर ली। इन्हीं दिनों मौडल स्कूल के ग्रुनर नामक व्यक्ति से उसका परिचय हुआ। ग्रुनर ने फ्रोबेल को कहा—नक्शानवीसी का काम छोड़कर अध्यापकी करो, तुम इसी योग्य हो। फ्रोबेल ने झट स्कूल में अध्यापन कार्य शुरू कर दिया और जिस दिन ३०–४० बालकों को पढ़ाने के लिए वह बैठा उसी दिन उसने अनुभव किया कि जैसे तड़पती मछली पानी में आ पहुंची हो। इस समय उसने सोचना शुरू किया कि अपने कार्य को कैसे सफलता-पूर्वक चलाये ? उसने पैस्टेलोज़ी के ग्रंथ पढ़े। पैस्टेलौज़ी (१७४६–१८२७) स्विटज़रलैंड का रहने वाला था और बरडून में उसने एक शिक्षा-केन्द्र खोला था जहां युरोप के भिन्न-भिन्न देशों के शिक्षा-विज्ञ आकर उसके शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षणों का अध्ययन करते थे। फ्रोबेल बरडून जाकर पैस्टेलोज़ी के साथ दो साल रहा। जिस काम को

पैस्टेलोज़ी ने शुरु किया था परन्तु अन्त तक न पहुंचा सका था उसे पैस्टेलोज़ी के शिष्य फ्रोबेल ने पूरा किया और किंडरगारटन-पद्धति को जन्म दिया। १८४० में रुडोलस्टेड के निकट ब्लैकनवर्ग में उसने एक शिक्षणालय की स्थापना की जिसका नाम उसने किंडरगारटन--बच्चों का उद्यान—रखा।]
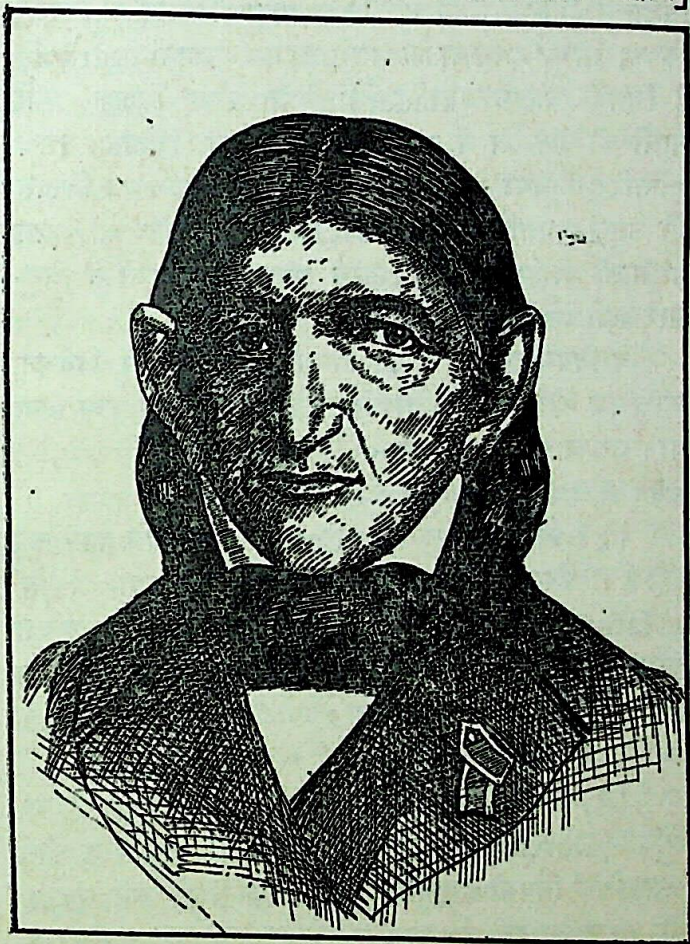
फ्रोबेल (१७८२–१८५२)

जर्मनी के शिक्षा-शास्त्री फ़्रेडरिक फ्रोबेल (१७८२-१८५२) ने 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (Learning by doing) तथा 'खेल द्वारा शिक्षा' (Learning by play-way) के सिद्धान्तों को आधार वनाकर 'किंडर-गारटन'-पद्धति का निर्माण किया। उस का कथन था कि पाठशाला एक 'उद्यान' (garten) है जिसमें 'बालक' (kinder) रूपी पौधा शिक्षक रूपी माली की देख-रेख में बढ़ता है। पौधे का विकास उसके आन्तरिक नियमों से होता है, इसी प्रकार बालक का विकास भी उसके आन्तरिक नियमों से होता है। शिक्षक का काम तो माली की तरह पौधे को उसके आन्तरिक नियमों के अनुसार बढ़ने देने में सहायता देना है।

वे नियम क्या हैं ? इन नियमों के सम्बन्ध में विवेचना करते हुए फ्रोबेल ने एक दार्शनिक विचार-धारा को जन्म दिया था। उसका कथन था कि :—

फ्रोबेल की दार्शनिक विचार-धारा—

(१) विश्व में 'एकता' (Unity) का नियम काम कर रहा है। 'ईश्वर' (God), 'जीव' (Spirit) तथा 'प्रकृति' (Nature) में आधार-भूत तत्व 'एक' ही है। यह एकता का तत्व 'ईश्वर' है। 'ईश्वर' से ही 'जीव' तथा 'प्रकृति' का विकास होता है, वही सब का आदि स्रोत है। भारत के वेदान्तियों का भी यही सिद्धान्त है।

(२) 'एकता' के अतिरिक्त दूसरा नियम 'विकास' का, 'वृद्धि' (Development) का नियम है। प्रत्येक वस्तु अपने 'आन्तरिक' नियमों के अनुसार विकसित होती हुई उसी 'एकता' की तरफ़ जा रही है। 'एकता' से 'अनेकता' उत्पन्न होती है, परन्तु फिर इस 'अनेकता' की गति 'एकता' की तरफ़ हो रही

है, संसार 'पूर्णता' की तरफ़, 'ब्रह्म' की तरफ़ गतिमान है।

(३) यह 'वृद्धि' (Development), यह 'पूर्णता' कैसे होती है ? इस 'वृद्धि' का आधार 'आभ्यन्तर-गति' (Self-activity) है। हम 'खेल द्वारा सीखने' के अध्याय में लिख आये हैं कि मनुष्य जन्म ही से ऐसी 'प्रेरणाओं' (Urges, Motivations) को लेकर पैदा होता है जो उसे हर समय कुछ-न-कुछ करने के लिए बाधित करती हैं। यह 'आभ्यन्तर-गति' मनुष्य को 'विकास' की तरफ़, 'पूर्णता' की तरफ़, 'ब्रह्म' की तरफ़ ले जाने के लिये है—यह फ्रोबेल का कथन है।

(४) 'आभ्यन्तर-गति' (Self-activity) के पूर्ण विकसित होने का साधन 'समाज' (Social Institutions) है। परिवार में, स्कूल में, समाज में ही 'आभ्यन्तर-गति' अपने को विकसित करने के लिये उत्तेजित होती है, इकलेपन में 'आभ्यन्तर-गति' को वेग नहीं मिलता।

बालक को जब स्कूल में दूसरे बच्चों के साथ रखा जाता है तब उसकी 'आभ्यन्तर-गति' को उत्तेजना मिलती है। यह गति अपने को खेल द्वारा प्रकट करती है। 'आभ्यन्तर-गति' (Self-activity) तथा 'खेल (Play) द्वारा बालक का 'विकास' (Development) करना और उसे परमार्थ-'एकता' (Unity) की तरफ़ ले जाना ही शिक्षा है। इस दृष्टि से फ्रोबेल का शिक्षा संबंधी मुख्य सिद्धान्त बालक की 'आभ्यन्तर-गति' (Self-activity) को शिक्षा में मुख्य स्थान देना है। इसके बजाय कि शिक्षक अपने को मुख्य रखे उसे बालक को मुख्य रखना चाहिए, और बालक की 'आभ्यन्तर-गति' को ठीक दिशा देने में सहायक होना चाहिए। बालक जो-कुछ करे अपने आप करे, और अपने आप करके सीखे।

इस इस उद्देश्य से फ्रोबेल ने बालकों के लिये खेलने की कुछ चीज़ें बनायी थीं जिन्हें वह 'उपहार' (Gifts) कहता था। इन 'उपहारों' (Gifts) से बालक खेलने लगता था। इन खेलों को वह बालक की 'क्रीड़ा' (Occupation) कहता था। इस प्रकार इन 'उपहारों' के साथ खेल में लगे रहने से उसे परिमाण, रंग, रूप, गिनती आदि का ज्ञान स्वयं खेलते-खेलते हो जाता था।

फ्रोबेल के 'उपहारों' (Gifts) की संख्या २० है, परन्तु उन में मुख्य ७ ही हैं और सात भी 'लम्ब-गोल' (Cylinder), 'गोल' (Sphere) और 'घन' (Cube)—इन तीन आकृतियों के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

सात 'उपहार' (Gifts) निम्न हैं—

(१) पहले 'उपहार' में छः रंगदार ऊन की गेंदें हैं जो लाल, पीले, नीले, नारंगी, हरे, बैंजनी रंग की होती हैं। इनके साथ 'क्रीड़ा' (Occupation) का अर्थ है कि बालक इन गेंदों के साथ खेले। इस खेल में उसे रंग, रूप, गति, दिशा, स्पर्श का ज्ञान हो जाता है।

दूसरे 'उपहार' में किसी कड़ी वस्तु के 'गोल' (Sphere) 'घन' (Cube) तथा 'लम्ब-गोल' (Cylinder) दिये जाते हैं जिनसे उसे 'घन' की स्थिरता तथा 'गोल' की गति-शीलता का परिचय प्राप्त होता है, और 'लम्ब-गोल' में वह 'स्थिरता' तथा 'गति' दोनों को देखता है। इस 'उपहार' से उसे 'समानता' और 'भिन्नता' देखने का अभ्यास भी हो जाता है।

(३) तीसरे 'उपहार' में एक बड़ा 'घन' दिया जाता है जो ८ छोटे-छोटे समान घनों से मिलकर बनता है। इनसे वह अनेक उपयोगी उपकरण बनाता है, बेंच, सीढ़ी, दरवाज़ा, पुल

बनाने लगता है। इससे उसे योग और ऋण के प्रारंभिक विचार भी मिल जाते हैं।

(४) चौथे 'उपहार' में बालक को एक 'घन' दिया जाता है जो ८ 'प्रिज़्म' के मिलने से बनता है। 'प्रिज़्म' और छोटे-छोटे 'घनों' के मेल से वह कई चीज़ें बनाना सीख जाता है, और उसके ज्ञान में नवीनता आ जाने के कारण स्पष्टता आती जाती है।

(५) पाँचवें 'उपहार' में एक बड़ा 'घन' दिया जाता है जो २७ छोटे-छोटे घनों से मिलकर बनता है। इनमें से तीन घन फिर आधे-आधे हिस्सों में, और तीन घन चौथाई हिस्सों में कटे होते हैं। इतना सामान हो जाने पर बालक भिन्न-भिन्न रचनाएं बनाता है, और 'आकृति' तथा 'संख्या' के ज्ञान में बहुत जल्दी उन्नति करता है। यह 'उपहार' तीसरे 'उपहार' से लगभग मिलता है।

(६) छठे 'उपहार' में एक बड़ा 'घन' दिया जाता हैं जो १८ बड़े और ९ छोटे 'विषम चतुर्भुजों' (Oblongs) से मिलकर बनता है। इससे आकृतियों की विविधता का उसे ज्ञान हो जाता है।

(७) सातवें उपहार में 'वर्ग' तथा 'त्रिभुज' दिये जाते हैं जिनसे वह ज्यामिति की भिन्न-भिन्न शक्लें बनाना सीख जाता है। फ्रोबेल जानता था कि छोटे बच्चे 'खेल' (Play) को, और बड़े बालक 'काम' (Work) को पसन्द करते हैं। इसलिये बच्चों के खेलों के अतिरिक्त उसने बड़े बालकों के लिए कागज़ काटना, धागे में मनके पिरोना, चटाई बुनना, टोकरी बनाना, मिट्टी से भिन्न-भिन्न आकृतियाँ बनाना तथा खेती करने को भी 'उपहारों' में सम्मिलित किया है। शिक्षक को चाहिए कि बालक

से काम कराये, और काम कराते हुए जैसा काम हो उसके सम्बन्ध में कोई गाना गाये, गाने के भाव को प्रकट करने वाली क्रियाएं करता जाय, क्रियाओं को भी भाव-भंगी से जानदार बनाता जाय।

यद्यपि आज फ्रोबेल के 'उपहारों' का प्रयोग नहीं किया जाता, तो भी फ्रोबेल ने शिक्षा के क्षेत्र में सदा के लिए स्थान बना लिया है। जगह-जगह किंडर-गारटन स्कूल खुले हुए हैं। आज जो हाथ से काम करने पर, खेल द्वारा, जिल्दसाज़ी, चमड़े, कागज़, मिट्टी के काम सिखाने पर, खेल खेल द्वारा शिक्षा देने पर ज़ोर दिया जाता है, स्कूल में बालकों से बगीचे लगवाये जाते हैं—यह सब फ्रोबेल की ही विचार-धारा का फल है। फ्रोबेल प्रकृति को परमात्मा का ही एक रूप समझता था, और प्रकृति-पाठ को परमात्मा तक पहुंचाने का साधन मानता था। इसलिए उसने 'प्रकृति-पाठ' (Nature Study) पर बल दिया, और उसी बल देने का परिणाम है कि आज हमारी पाठ-विधि में 'प्रकृति-पाठ' एक मुख्य विषय बन गया है।

प्रश्न

१. किंडर-गार्टन के प्रवर्तक फ्रोबेल की दार्शनिक विचार-धारा क्या थी ?

२. इस विचार-धारा का उसके शिक्षा-संबंधी विचारों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३. फ्रोबेल के सात उपहार क्या हैं ?

१५

मॉन्टेसरी शिक्षा-पद्धति

(MONTESSORI METHOD)

[श्रीमती डा० मेरिया मांटेसरी संसार की उन लोकप्रिय और ख्याति प्राप्त महिलाओं में से एक थीं, जिनका नाम उनकी सेवाओं के कारण अमर रहेगा। इनका जन्म १८७० में इटली में हुआ था। यह प्रथम इटालियन महिला थीं, जिन्होंने अपने समय की शिक्षा सम्बन्धी रुकावटों के बावजूद भी रोम से डाक्टरी पास की। यह आजन्म अविवाहित रहीं। बचपन से ही इन्हें बच्चों से बड़ा प्रेम था, इसलिए इनकी समस्याओं को हल करने में ही, इन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। इन्होंने बाल-मनोविज्ञान का बहुत बारीकी के साथ अध्ययन किया था और अपने अनुभव के बल पर बच्चों की शिक्षा में कई सुधार किये तथा एक नई प्रणाली चलाई जो कि मांटेसरी प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् १९३९ में वह अदियार (मद्रास) के इंडियन ट्रेनिंग कोर्स इंस्टीट्यूट की डायरेक्टर होकर भारत आईं। उन दिनों द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया था, अतएव उन्हें भारत में नज़रबन्द कर दिया गया। उन दिनों मांटेसरी अहमदाबाद में लगभग एक हज़ार व्यक्तियों को मांटेसरी-प्रणाली की ट्रेनिंग दे रही थीं। तब से मांटेसरी-पद्धति का भारत में काफ़ी प्रचार हुआ। डा० मांटेसरी एक कर्मठ महिला थीं। उन्होंने अपनी सेवाओं से मानव मात्र को लाभ पहुंचाया। संसार के सभी बच्चों के मानसिक विकास में उन्होंने दिलचस्पी ली और अपने अमूल्य सुझावों से शिक्षा को अधिक-से-अधिक बच्चों के अनुकूल बनाने की चेष्टा की।

उनकी शिक्षा-प्रणाली का मूल सिद्धान्त यह है कि बालकों और शिक्षकों को चाहिए कि वे अपने बच्चे के शारीरिक और मानसिक

विकास के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करें। बच्चों को एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है, डिक्टेटर की नहीं। ज्ञान उनके मस्तिष्क में ठूंसना नहीं चाहिए, परन्तु उनकी रुझान को समझकर उनकी शक्तियों को विकसित होने का अवसर देना चाहिए। वे बच्चों के जीवन में खेल को बहुत अधिक महत्व देती थीं। इसलिए उन्होंने अपने ढंग से चलाए हुए स्कूलों में ऐसे उपकरण बच्चों को दिए, जिनके सहयोग से बच्चे खेल-खेल में ही आकार, ध्वनि, रंग-रूप, ऊंचाई-निचाई आदि का ज्ञान प्राप्त कर सकें। साथ ही मोती, मनके और गुटकों की सहायता से वे गिनना, जमा, जोड़, घटाना और भाग भी सीख लें। इन स्कूलों में पढ़ाई बच्चों के लिए खेल के सदृश ही मनोरंजक बना दी जाती है। फलस्वरूप बच्चों की रुचि पढ़ाई की ओर दिन-पर-दिन बढ़ती जाती है।

डा० मांटेसरी ने इस बात को भी स्पष्ट किया कि बड़े अपने बच्चों को समझने में कितनी ग़लती करते हैं। अपनी सुविधा और अधिकारों को बनाए रखने के लिए वे, बच्चे की सुविधा को कुचल कर रख देते हैं। उन्होंने बच्चों को बड़ों की इस धाँधली से मुक्त होने का रास्ता दिखाया और बच्चों के जीवन को आनन्दमय बनाने के सुझाव दिये। उन्हें अपने ध्येय से इतना प्रेम था कि जब तक वे जीवित रहीं, लगन के साथ अपने काम में जुटी रहीं। बाल-शिक्षा-क्षेत्र में उनके विचारों का महत्त्व अब सभी समझने लगे हैं।

उनका जन्म चाहे इटली में हुआ था, परन्तु इस सेवापरायण नारी ने सारे संसार के बच्चों की भलाई के लिए बीड़ा उठाया था। वे मानव जाति की महान सेविका थीं। ८१ वर्ष की आयु में उनका ता० ६ मई १९५२ को नार्डविक (हालैंड में) स्वर्गवास हो गया।]

मेरिया मॉन्टीसरी (१८७०-१९५२) इटली की रहने वाली थीं। उन्होंने 'हीन-बुद्धि' (Feeble-minded) बालकों की शिक्षा को हाथ में लिया और अपनी पद्धति के अनुसार शिक्षा दी। उन्होंने देखा कि जो बालक 'हीन-बुद्धि' कहे जाते थे, 'मॉन्टीसरी प्रणाली' के अनुसार शिक्षा पाने पर वे 'अच्छे-

भले' (Normal) लड़कों के समान काम करते थे। उनके हृदय में प्रश्न हुआ कि 'अच्छे-भले' बालकों के साथ उनकी प्रणाली का प्रयोग किया जाय तब तो शायद वे और भी ज़्यादा काम करेंगे। यह सोचकर उन्होंने अपनी पद्धति का 'अच्छे-

मोरिया मॉन्टीसरी (१८७२-१९५२)

'भले' बालकों पर प्रयोग शुरू किया और देखा कि इसका बालक को शिक्षा देने में चमत्कारपूर्ण प्रभाव था।

१—मॉन्टीसरी के शिक्षा-सिद्धान्त

मॉन्टीसरी ने फ्रोबेल की 'क्रीड़ा तथा क्रिया' (Play and Activity) को आधार बना कर चलने वाली किंडर गार्टन-पद्धति को ही परिमार्जित कर उसे नवीन रूप दिया। 'मॉन्टीसरी-पद्धति' के शिक्षा-सिद्धान्त निम्न हैं:—

(१) शिक्षा, 'विकास' (Development) का नाम है। बालक के जन्म-काल से ही उसके भीतर अपने पूर्ण विकास का सामर्थ्य रहता है, ठीक इस तरह जैसे वृक्ष के रूप में विकसित होने का सामर्थ्य बीज में रहता है। बीज अपनी 'आभ्यन्तर-गति' से बढ़ता है, बालक भी उसी 'आभ्यन्तर-गति' से विकसित होता है। माली का काम पौधे को पकड़ कर बढ़ाना नहीं, शिक्षक का काम भी बालक को ज़बर्दस्ती ठोक-पीट कर पंडित बनाना नहीं। उसका अन्दर से विकास हो रहा होता है, और शिक्षक उस विकास में सहायक मात्र है।

(२) विकास 'स्वतंत्रता' (Freedom) पर आश्रित है। क्योंकि बालक के विकास का बीज उसके भीतर मौजूद है, इसलिए उसके विकसित होने के लिए उसे पूर्ण 'स्वतंत्रता' मिलनी चाहिए, नियन्त्रण का बोझ डाल कर उसके स्वतंत्र विकास को रोकना नहीं चाहिए। परन्तु स्वतंत्रता किस प्रकार दी जाय इसे भी मॉन्टीसरी ने स्पष्ट किया है। बालक में जो आधारभूत 'मूल-शक्तियाँ तथा प्रवृत्तियाँ' (Instincts and Tendencies) हैं उनके अनुसार उसे स्वतंत्रता-पूर्वक चलने देना, और उन प्रवृत्तियों को दबाने के स्थान पर उन्हें शिक्षा का आधार बनाना ही वास्तविक स्वतंत्रता है। पाठशाला में

बालक को घर की-सी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए तभी उसका विकास उस दिशा की तरफ़ होगा जिसकी तरफ़ चलने के लिए उसका जन्म हुआ है।

(३) बालक के 'व्यक्तित्व' (Individuality) का ध्यान रखना हमारा मुख्य कर्तव्य है। अगर बालक का स्वतंत्र-विकास होने दिया जाय, तो प्रत्येक बालक का अपने पृथक्-पृथक् 'व्यक्तित्व' के अनुसार पृथक्-पृथक् विकास होता है। आज समूह में शिक्षा देकर उसके 'व्यक्तित्व' को कुचल दिया जाता है। जिस समय पाठशाला में सब बालकों को एक लकड़ी से हाँका जा रहा था उस समय मॉन्टीसरी ने बालक के 'व्यक्तित्व' की आवाज़ उठाकर एक नवीन दिशा की तरफ़ संकेत किया।

(४) मॉन्टीसरी ने 'आत्म-शिक्षण' (Auto-education, Self-education) पर बल दिया। शिक्षक बालक के विकास में इतना अधिक हस्तक्षेप करता है कि बालक के लिए आत्म-विकास असम्भव-सा हो जाता है। इस पद्धति में शिक्षक को स्थान नहीं है, बालक अपने-आप शिक्षा ग्रहण करता है, शिक्षक तो उसके सामने सिर्फ़ उपकरण रख देता है। मॉन्टीसरी ने इन 'शिक्षोपकरणों' (Didactic apparatus) का निर्माण इस ढंग से किया है कि उनका प्रयोग एक ही प्रकार से हो सकता है, दूसरी प्रकार से नहीं। एक लकड़ी में तीन छेद हैं। प्रत्येक छेद में एक ही परिमाण की खूंटी आ सकती है। अगर वह बड़े छेद में पतली खूंटी डाल देता है, तो अन्त में छोटे छेद के लिए मोटी लकड़ी बच रहती है जो उसमें नहीं आ सकती---झट वह अपनी ग़लती समझ कर उसे सुधार लेता है। इन उपकरणों की सहायता से बालक स्वयं अपना गुरु बन जाता है।

(५) 'कर्मेन्द्रियों की शिक्षा' (Muscular training) पर भी मॉन्टीसरी बहुत बल देती है। बालक के अंगों की भिन्न-भिन्न मांस-पेशियों को जब तक साधा न जाय तब तक उसे सब कामों में कठिनाई प्रतीत होती है, इनके साधने से लिखना, चलना, दौड़ना आसान हो जाता है, और वह छोटी ही आयु में सब-कुछ सीख जाता है।

(६) 'ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा' (Sense training) भी ज्ञान के लिए आवश्यक है। ज्ञानेन्द्रियाँ ही तो हमें ज्ञान पहुँचाने के मार्ग हैं, ये कमज़ोर हुईं तो ज्ञान में अस्पष्टता रहती है। मॉन्टीसरी का कथन है कि ७ वर्ष की आयु में बालक की ज्ञानेन्द्रियाँ बहुत क्रिया-शील रहती हैं और इसी समय वह बहुत-सा ज्ञान बटोर लेता है। इन्द्रियों को साधने के लिए उससे ऐसे अभ्यास कराने चाहियें जिनसे वह आँख से रंग-रूप, कान से शब्द, त्वचा से स्पर्श, तोल, ताप आदि का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सके।

२—मॉन्टीसरी की शिक्षा-पद्धति

उक्त सिद्धान्तों को आधार बनाकर मॉन्टीसरी ने जो शिक्षा-पद्धति प्रचलित की है उसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है:—

क. कर्मेन्द्रियों की शिक्षा (Motor Education)

ख. ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा (Sensory Education)

ग. भाषा की शिक्षा (Language Teaching)

कर्मेन्द्रियों की शिक्षा—

कर्मेन्द्रियों की शिक्षा के लिए बालक को ऐसी 'परिस्थिति' (Environment) में रखा जाता है जिससे उसके सब अंग अपने-आप सध जाँय। इस 'परिस्थिति' का नाम मॉन्टीसरी ने 'बच्चों का घर' (Children's House) रखा है। मॉन्टी-

सरी का कथन है कि इस समय बालकों को बड़े-बड़े मकानों में पढ़ाया जाता है, ऐसे मकान जिनकी खिड़कियों को वे खोल नहीं सकते, अलमारियों तक पहुँच नहीं सकते। छोटे-छोटे बालक बड़े-बड़े सामान से घिरे रहते हैं। कहने को तो ये सामान बालक के लिए बने होते हैं, परन्तु अस्ल में वे शिक्षक की दृष्टि से बनाये जाते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए उसने 'बालकों के घर' बनाने के विचार को जन्म दिया। 'बालकों का घर' स्कूल का ही नाम है, परन्तु इसे स्कूल कहने के स्थान में वह 'घर' कहती है ताकि बालक वहाँ घर की-सी स्वतन्त्रता अनुभव करे। ये घर छोटे होते हैं, इनमें मेज़-कुर्सियाँ भी छोटी, अल्मारियाँ भी छोटी, हर सामान ऐसा होता है जिसे बालक अपने-आप धर-उठा सके, छोटे-छोटे बर्तन, प्याले, चम्मच, छोटे-छोटे उद्यान। इन घरों में बालक की कर्मेन्द्रियों को साधने की सब शिक्षा दी जाती है। चलने-फिरने जैसी छोटी-छोटी बातों से लेकर, अपने से सम्बन्ध रखने वाली, तथा दूसरों से सम्बन्ध रखने वाली सभी क्रियाएं सिखा दी जाती हैं। कपड़ा पहनना, उतारना, अपनी हरेक चीज़ को क्रम से, संभालकर रखना, खाना परोसना आदि सब काम बच्चे अपने-आप सीख जाते हैं, और तीन वर्ष की आयु में इस चतुराई से करने लगते हैं जो बड़े भी नहीं कर सकते। कहा जाता है कि मॉन्टी-सरी स्कूल के अढ़ाई वर्ष के बालक भी चाय परोसते हुए भरे हुए प्याले की चाय न गिरने देते हैं, न प्याले तोड़ते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा—

'ज्ञानेन्द्रियों' की शिक्षा के लिए मॉन्टीसरी ने 'शिक्षोपकरण' (Didactic apparatus) बनाये हैं जिनका निर्माण इस ढंग से हुआ है कि एक उपकरण से एक ही प्रकार का काम हो

सके, दूसरा न हो सके। इसका परिणाम यह होता है कि बालक को यह कहने की आवश्यकता नहीं होती कि ऐसा न करो, ऐसा करो। उपकरण स्वयं उसे कह देता है, ऐसा करो! ये 'उपकरण' फ्रोबेल के 'उपकरणों' के परिष्कृत रूप हैं।

'स्पर्शेंद्रिय' को साधने के लिए एक डिब्बे में ऊनी, रेशमी, मख़मली खद्दर के दो-दो रुमाल रख दिये जाते हैं। सब का रंग-रूप-आकार-प्रकार एक-सा रहता है, इससे बालक का ध्यान स्पर्श की तरफ़ ही जाता है, दूसरी तरफ़ नहीं। उसे एक रुमाल निकाल कर दे दिया जाता है और वैसा ही दूसरा रुमाल निकालने को कहा जाता है। वह स्पर्श से वैसा ही रुमाल निकालता है, इससे स्पर्श-शक्ति सध जाती है।

'नेत्रेन्द्रिय' को साधने के लिए एक ही आकार-प्रकार की भिन्न-भिन्न रंगों की टिकियाँ बनायी जाती हैं, जो और सब बातों में एक-सी, सिर्फ़ रंग में भिन्न-भिन्न होती हैं। एक रंग की टिक्की उसे दे दी जाती है, और वैसी ही दूसरी निकालने को कहा जाता है। नेत्र की ज्ञानेन्द्रिय की तरह अन्य ज्ञानेन्द्रियों को भी मॉन्टीसरी शिक्षा-पद्धति में साधा जाता है।

मॉन्टीसरी का कथन है कि इस प्रकार इन्द्रियों को साधने के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि प्रत्येक इन्द्रिय को ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने का अभ्यास हो जाता है। हमारे ज्ञान में अपूर्णता इसलिए रहती है क्योंकि हम इन्द्रियों से अधकचरा ज्ञान प्राप्त करने के आदी हैं। दूसरा लाभ यह है कि इन्द्रियों को साधने से सिर्फ़ इन्द्रियाँ ही नहीं सधतीं, मनुष्य की सम्पूर्ण बुद्धि का विकास होता है; एक इन्द्रिय की सधी हुई 'शक्ति' (Faculty) सब इन्द्रियों को, बुद्धि-मात्र को 'शक्तिदान' करती है। यह एक तरह का बौद्धिक व्यायाम है।

भाषा की शिक्षा—

भाषा की शिक्षा में 'लिखना' तथा 'पढ़ना'—ये दो चीज़ें आती हैं। मॉन्टीसरी का कथन है कि 'लिखना' पहले सिखाना चाहिए। लिखने में दो बातें हैं, कलम-पेंसल आदि लिखने के साधन को पकड़ कर उसे ठीक-ठीक चलाना सीखना, और अक्षर लिखना। कर्मेन्द्रियों की शिक्षा से बालक की मांस-पेशियों को ठीक गति करने का अभ्यास तो पहले ही कराया जा चुका होता है, अब उसके हाथ में पेंसल देकर ज्यामिति के उपकरणों के बीच के भाग में पेंसल फेरने को कहा जाता है। क्योंकि उपकरणों के बीच में निश्चित स्थान होता है इसलिए बालक उतनी ही पेंसल फेरता है जितना पेंसल फेरने के लिए स्थान है, यों ही इधर-उधर उसे नहीं चलाता। जब पेंसल फेरते-फेरते उसकी माँस-पेशियाँ सध जाती हैं, और वह पेंसल पकड़ना सीख जाता है, तब उसे अक्षर लिखना सिखाया जाता है। शिक्षिका उसके सामने गत्ते का बना अक्षर रखकर उस पर उंगली फेरने को कहती। वह उंगली फेरता जाता है, और उसी समय शिक्षिका उस अक्षर को बोलती जाती है। अक्षर को लिखना सीखने में हाथ काम कर रहा होता है, आँख काम कर रही होती है, कान भी काम कर रहा होता है। इन तीनों इन्द्रियों के इकट्ठा काम करने का परिणाम यह होता है कि लिखना तो वह सीख ही रहा होता है, पढ़ना भी वह उसी समय सीख जाता है। एक तरह वह बिना सिखाये पढ़ना सीख जाता है। मॉन्टीसरी का कथन है कि यह एक आश्चर्य की बात है कि उसकी पद्धति के अनुसार बालक 'लिखना' सीख रहा होता है, 'पढ़ना' नहीं, परन्तु लिखना सीखते-सीखते वह एकदम पढ़ना स्वयं सीख जाता है।

मॉन्टीसरी-पद्धति के आलोचकों का कथन है कि 'शिक्षोप-

करण' (Didactic apparatus) इतने मंहगे हैं कि उन्हें हर स्कूल नहीं रख सकता। इसके अतिरिक्त मॉन्टीसरी का 'बौद्धिक-व्यायाम' का विचार 'शक्ति-मनोविज्ञान' (Faculty Psychology) का विचार है जिसे आज का मनोविज्ञान स्वीकार नहीं करता। इस सम्बन्ध में हमारे 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का द्वितीय अध्याय पढ़ें। अन्यथा यह पद्धति बच्चों की शिक्षा के लिए बहुत उपयोगी है।

३—किंडर-गारटन और मॉन्टीसरी पद्धति की तुलना

क. समानता

किंडर-गारटन-पद्धति	मॉन्टीसरी-पद्धति
१. तीन वर्ष से सात वर्ष के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है।	१. तीन वर्ष से सात वर्ष के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है।
२. बालक के आन्तरिक विकास के लिए 'उपहार' (Gifts) का प्रयोग होता है।	२. बालक के आन्तरिक विकास के लिए 'शिक्षोपकरणों' (Didactic apparatus) का प्रयोग होता है।
३. इन्द्रियों की साधना (Sense training) पर बल दिया जाता है।	३. इन्द्रियों की साधना (Sense training) पर बल दिया जाता है।

ख. भिन्नता

किंडर-गारटन-पद्धति	मॉन्टीसरी-पद्धति
१. बालक को 'सामाजिक' वातावरण में, दूसरे बच्चों के साथ शिक्षा दी जाती है।	१. बालकों को 'वैयक्तिक' रूप में शिक्षा दी जाती है।
२. फ्रोबेल के 'उपहारों' के विना भी वैसे उपकरण बना कर शिक्षा दी जा सकती है और	२. मॉन्टीसरी के 'शिक्षोपकरणों' के विना शिक्षा नहीं दी जा सकती।

३. 'खेल' इस शिक्षा का आधार हैं। 'संगीत' (Song), 'गति' (Movement) तथा 'भाव-गति'(Gesture) द्वारा खेल अभिव्यक्त होता है।	३. 'खेल' पर विशेष बल नहीं दिया जाता। 'शिक्षोपकरण' ही ऐसे बनाये गये हैं जिनमें बालक लगा रहता है, और वे ही उस की ग़लती उसे बता देते हैं।

प्रश्न

१. मॉन्टीसरी-पद्धति के शिक्षा-सिद्धान्त क्या हैं ?

२. मॉन्टीसरी ने अपने शिक्षा के सिद्धान्तों के आधार पर जिस पद्धति को जन्म दिया उसका वर्णन कीजिए।

३. इस पद्धति के 'शिक्षोपकरणों' के विषय में आप क्या जानते हैं ?

४. किंडरगार्टन तथा मॉन्टीसरी पद्धति में समानता तथा भिन्नता क्या है ?

१६

योजना-पद्धति

(PROJECT METHOD)

[पिछली आधी शताब्दी से ज्यादा देर से जॉन ड्यूई का नाम शिक्षा के प्रगतिशील विचारों से जुड़ा हुआ है। उनका जन्म १८५९ में अमरीका में हुआ था और ९२ वर्ष की आयु में सन् १९५२ में उनकी मृत्यु हुई। वे संसार के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री तथा विचारक थे। १८९४ में जब वे शिकागो विश्व-विद्यालय में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक हुए तब शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने नवीन विचारों को जन्म दिया और तब से उनके विचारों ने अमरीका की शिक्षा-प्रणाली को इतना प्रभावित किया कि अगर यह कहा जाय कि पिछले पचास सालों में अमरीका की शिक्षा-दीक्षा पर उन्हीं का अखण्ड प्रभाव रहा तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने बच्चों पर क्रियात्मक परीक्षण करने के लिए अपने विश्व-विद्यालय में एक प्रयोग-शाला खोली जिसके आधार पर 'स्कूल एन्ड सोसाइटी'-नामक ग्रंथ लिखा। इन प्रयोगों का शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। पचास साल पहले अमरीका में भी यही समझा जाता था कि अध्यापक ही सब-कुछ जानता-समझता है, बच्चे सब एक-से हैं, वैयक्तिक विभिन्नताएँ कोई ध्यान देने वाली वस्तु नहीं है, स्कूल में बच्चे को नहीं, जो विषय पढ़ाये जाते हैं उन्हीं को प्रधानता थी। अगर लड़का अन्य विद्यार्थियों के साथ नहीं चल सकता था, तो बस, बच्चे का ही कसूर था। इस बात की किसी को पर्वा नहीं थी कि बच्चा पढ़ने के लिये तैय्यार है या नहीं, उसे कोई तकलीफ़ तो नहीं, उसके उद्वेगों में कोई ऐसी गड़बड़ तो नहीं जो उसे पढ़ने की तरफ़ ध्यान ही नहीं देने देते। ड्यूई ने कहा कि इस सब का परिणाम तो यह होगा कि कुछ इने-गिने ही पढ़ सकेंगे, जिन बच्चों को कुछ तकलीफ़ है, जिनके मानसिक विकास में कुछ रुकावट

हैं, वे न पढ़ते हैं और न पढ़ सकेंगे। परन्तु जन-सत्ता-वाद के इस युग में क्या यह उचित है ? आज तो जनता का राज्य है । जनता के राज्य में शिक्षा को ऐसा बनाना होगा जिसमें हर व्यक्ति पढ़ सके, ऐसे तरीके निकालने होंगे जिनसे पढ़ सकना हरेक के लिये आसान और संभव हो सके। जिसकी स्मृति-शक्ति तीव्र हो वह रट कर पढ़ जाय, जिसकी कमज़ोर हो वह रट न सकने के कारण पढ़ना छोड़ दे—यह आज के युग में फबने वाली चीज़ नहीं है। इन्हीं सब विचारों के संघर्ष का परिणाम हुआ कि ड्यूई ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नवीन विचार-धारा को जन्म दिया। उसने कहा कि अमीर आदमियों और लायक बालकों को ही पढ़ने का अधिकार नहीं, समाज के हर बच्चे को, अमीर-ग़रीब, लायक-नालायक सब को इस जन-तंत्र के युग में शिक्षा का अधिकार है, अधिकार ही नहीं उन्हें शिक्षा ऐसे उपायों से दी जा सकती है जिससे सब शिक्षित हो जाँय। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए ड्यूई ने कहा, (१) विषय की अपेक्षा बालक का महत्व अधिक है, 'विषय-केन्द्रीय' (Subject-centred) स्कूलों के स्थान पर 'बालक-केन्द्रीय' (Child centred) स्कूल खोलने चाहियें, (२) प्रत्येक विषय का अध्यापन बालक की रुचि को केन्द्र बना कर होना चाहिये, सिर्फ़ रटाते जाना शिक्षा नहीं है, (३) शिक्षणालय को समाज के क्रियात्मक जीवन से जोड़ देना चाहिये, बच्चों से ऐसी चीज़ें बनवानी चाहियें जो काम आ सकें, बिक सकें, जिनकी कीमत उठ सके, (४) काम करके सिखाना चाहिये क्योंकि बच्चे ज़बानी सुनकर उतना नहीं सीखते जितना किसी काम को करके सीख जाते हैं, (५) बच्चों का नियन्त्रण बाह्य साधनों से इतना नहीं हो सकता जितना उनकी आन्तरिक प्रेरणा से हो सकता है, बच्चे कहने से नहीं, स्वयं समझकर अपना प्रबन्ध हमारी अपेक्षा अच्छा कर सकते हैं ।]

हम पहले एक अध्याय में 'कार्य-सिद्धि-वाद' (Pragmatism) का उल्लेख कर आये हैं। जीवन में सत्य क्या है—यह निश्चित रूप से कौन कह सकता है ? हाँ, जो बात उपयोगी सिद्ध हो, काम दे, वह सत्य अवश्य है, क्योंकि उससे कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, मतलब निकलता है, क्रिया सिद्ध होती है। इस

'वाद' के मुख्य समर्थक अमरीका के जॉन ड्यूई (१८५९-१९५२) हैं। उनके अनुयायी किलपेट्रिक (Kilpatrich) ने शिक्षा के क्षेत्र में कार्य-सिद्धि-वाद को घटाकर 'योजना-पद्धति' (Project method) को जन्म दिया है।
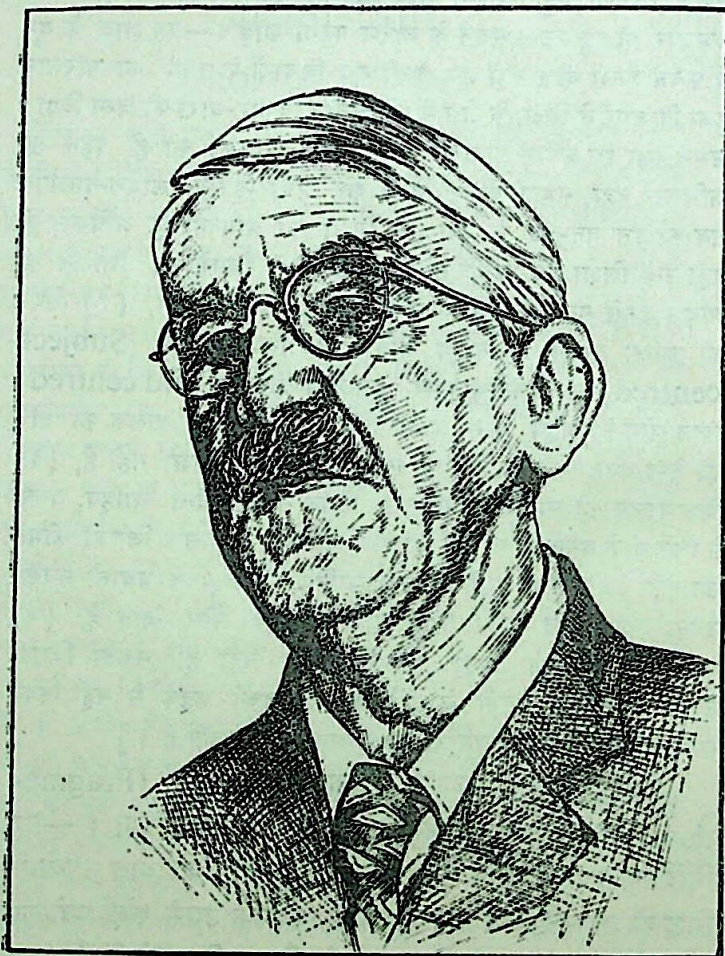
जॉन ड्यूई (१८५९-१९५२)

१—योजना-पद्धति का मनोवैज्ञानिक आधार

इस पद्धति का समर्थन करने वालों का कथन है कि प्रचलित शिक्षा का जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता, कोई उपयोगिता नहीं दिखाई देती। स्कूल में गणित के बड़े-बड़े प्रश्न हल करने पर भी हमारे बालक बनिये से सौदा खरीदते हुए ठीक हिसाब नहीं लगा सकते, दार्शनिक तत्व-विवेचना करने पर भी पोस्ट आफ़िस से पार्सल भेजना नहीं जानते। शिक्षा अव्यावहारिक होती चली ज़ा रही है, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। इस समस्या को हल करने के लिये किलपैट्रिक ने 'योजना-पद्धति' (Project method) का आविष्कार किया है। उनका कथन है कि हम दो प्रकार से काम करते हैं, या तो पहले से 'योजना' बनाकर, या 'बिना किसी योजना' के। जो काम हम पहले से 'योजना' बनाये बिना करते हैं, वे ठीक-से नहीं हो पाते, जिनके लिये हम योजना बना लेते हैं, वे ठीक से हो जाते हैं। 'योजना' वाले काम भी दो तरह के हैं। एक तो वे जिनमें 'योजना' का हमारे अपने जीवन की किसी समस्या को हल करने से सम्बन्ध नहीं होता, दूसरे वे जिनका जीवन की वास्तविक समस्या को हल करने के साथ सम्बन्ध होता है। पाठशाला में लड़कियों को कातना सिखाया जाता है। वे सीख तो जाती हैं, परन्तु आधी से ज़्यादा रुई ख़राब कर देती हैं, धागे जगह-जगह से तोड़ देती हैं। अब अगर उन्हें कह दिया जाय कि जो रुई वे कातेंगी उसकी उन्हें अपने लिये साड़ी बनवा दी जायगी, तो उतने ही समय में वे पहले से चौगुनी रुई कात लेंगी, एक-एक धागा सम्भाल कर रखेंगी, और बहुत जल्दी सीख जायेंगी। कारण यह है कि पहली 'योजना' का जीवन की किसी समस्या के साथ सम्बन्ध नहीं था, दूसरी 'योजना' का जीवन की वास्तविक

समस्या के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया। जब कोई 'योजना' (Project) जीवन की वास्तविक समस्या के साथ जुड़ जाती है तब वह हम में एक अपूर्व शक्ति उत्पन्न कर देती है, और हम उस 'योजना' को पूरा करके ही दम लेते हैं। इसके निम्न मनोवैज्ञानिक कारण हैं :—

१. 'योजना' में 'प्रयोजन' (Purpose) रहता है।
२. 'आप-से-आप-पना' (Spontaniety) रहता है।
३. काम में 'सार्थकता' (Significance) दीखती है।
४. काम में 'रुचि' (Interest) उत्पन्न हो जाती है।

'प्रयोजन' (Purpose Motive)—

किसी काम को करते समय अगर मन में 'प्रयोजन' उत्पन्न हो जाय, तो मनुष्य उसे हल करने में जी-जान से जुट जाता है, यह मनोवैज्ञानिक नियम है। 'प्रयोजन' को उत्पन्न करने का अर्थ है जीवन की किसी 'समस्या' (Problem) को उत्पन्न कर देना। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो समस्या जीवन की वास्तविक समस्या होगी, काल्पनिक नहीं होगी, वही व्यक्ति को सिर से पैर तक हिलाकर काम में भूत की तरह लगा देगी। मैग्डूगल का कथन है कि जब मन में कोई वास्तविक समस्या उत्पन्न हो जाती है, तो मनुष्य उसका कोई-न-कोई हल ढूंढा ही करता है। वह समस्या जीवन में एक विषमता उत्पन्न कर देती है। चलते-फिरते, सोते-जागते हम अपनी परिस्थिति से अपने को कटा हुआ-सा अनुभव करते हैं। हमारे और हमारी परिस्थिति के बीच वह सदा 'अटकाव' के रूप में बनी रहती है। मनुष्य इस 'विषमता', इस 'अटकाव' को दूर करके ही शान्त हो सकता है। 'योजना' (Project) में 'प्रयोजन' (Purpose, Motive) का उत्पन्न हो जाना एक 'विषमता'

का, एक 'प्रश्न' का, एक 'समस्या' का उत्पन्न हो जाना है, और मनुष्य का यह स्वभाव है कि ऐसी परिस्थिति में समस्या को हल करने के लिए उसमें अभूतपूर्व शक्ति उत्पन्न हो जाती है। 'योजना-पद्धति' (Project method) में इसी कारण बालक के सम्मुख एक ऐसा 'प्रयोजन' (Purpose) रख दिया जाता है जिसका जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है, फिर वह उसे अपनी 'समस्या' समझता है, और उसके हल करने में दिन-रात एक कर देता है।

'आप-से-आप-पना' (Spontaniety Motive)—

जब कोई समस्या वास्तविक समस्या होती है तब उसके हल करने में किसी बाहर की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती, तब मनुष्य अपने-आप उसमें जुटा रहता है। स्कूलों में लड़कियों से बिनाई सिखाने के लिये स्वेटर बिनवाये जाते हैं, वे उसमें बीस हील-हुज्जत करती हैं, परन्तु अपने घरवालों के स्वेटर चोरी-चोरी स्कूल के घन्टों में ही बिनती रहती हैं। एक ही काम है, परन्तु जब तक वह स्कूल की तरफ़ से कराया जाता है, वे नहीं करतीं, जब अपना समझ कर करती हैं, तब मना करने पर भी नहीं मानतीं। 'योजना-पद्धति' (Project method) में भी बालक अपनी 'योजना' (Project) अपने-आप बनाते हैं, उसे स्वयं चुनते हैं, इसलिये भी वे उस में लगे रहते हैं।

'सार्थकता' (Significance Motive) तथा 'रुचि' (Interest Motive)—

जब हम अपनी चुनी हुई 'समस्या' को हल करने में लगे होते हैं तब हमें अपना काम 'सार्थक' दिखाई देता है। आज हमारे बालक जो-कुछ पढ़ते हैं उन्हें समझ नहीं पड़ता कि वे उस विषय को क्यों पढ़ते हैं? उन्हें पढ़ाया जाता है इसलिये

वे पढ़ते हैं। जब बालक को मालूम हो कि वह किसी काम को क्यों कर रहा है, तब उसकी सम्पूर्ण शक्ति उस काम को करने में केन्द्रित हो जाती है, और काम करने में 'रुचि' भी उत्पन्न होती है। गहरी दृष्टि से विचार किया जाय तो 'प्रयोजन' का उत्पन्न होना ही अपने आप 'सार्थकता' तथा 'रुचि' को उत्पन्न कर देता है।

२--'योजना' बनाने के आवश्यक अंग

'योजना-पद्धति' में पांच बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :--

- क. बालकों के सम्मुख भिन्न-भिन्न परिस्थितियां उत्पन्न करना जिनमें से वह अनेक योजनाएं बना सकें।
- ख. इन अनेक योजनाओं में से किसी एक को चुनना।
- ग. चुनने के बाद उसे पूर्ण करने का कार्य-क्रम बनाना।
- घ. फिर पूर्ण करने में लग जाना।
- ङ. पूर्ण करने के बाद यह निर्णय करना कि 'योजना' ठीक तौर पर पूरी हुई है या नहीं।

भिन्न-भिन्न परिस्थितियां उत्पन्न करना --

हम बालकों को नुमाइश में घूमने ले गये, वे लौटकर कहने लगे, हम तो स्कूल में नुमाइश करेंगे। महाराणा प्रताप का जीवन-चरित्र सुनते-सुनते बालकों के हृदय में भावना उठी, हम तो प्रताप का नाटक खेलेंगे। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से ये भिन्न-भिन्न 'योजनाएं' (Projects) बालकों के मन में अपने-आप उठीं। शिक्षक का काम बालकों के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देना है जिनसे उन्हें 'योजनाएं' स्वयं सूझें।

भिन्न-भिन्न योजनाओं में से किसी एक को चुनना--

इन योजनाओं में से किसी एक को चुनने का काम बालकों का है। प्रायः अध्यापक योजना चुनने के प्रलोभन में पड़ जाते

हैं। यह 'योजना-पद्धति' के नियमों के विरुद्ध है। बालक जितना यह अनुभव करेंगे कि 'योजना' उनकी अपनी चुनी हुई है उतना ही उसे पूरा करने में वे तन्मय हो जायेंगे। बालकों को ही अपनी योजना चुनने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। अध्यापक को यह देख लेना चाहिए कि जिस 'योजना' को बालक चुनें उसका उनके जीवन से कोई वास्तविक सम्बन्ध हो, नहीं तो उस 'योजना' को वे बीच में ही अधूरा छोड़ देंगे।

'योजना' को पूर्ण करने का कार्य-क्रम बनाना--

'योजना' बन जाने के बाद उसे क्रियान्वित करने का कार्य-क्रम बनाना होता है। अध्यापक के लिए यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को कोई-न-कोई काम मिले, ऐसा न हो कि कई बालक तो सब-कुछ करते जाँय, कई खाली ताकते ही रहें। प्रत्येक बालक को जो कार्य करना हो वह उसे लिखा देना चाहिए।

'योजना' को पूर्ण करने में लग जाना--

प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता के अनुसार काम देना चाहिये। कभी-कभी शिक्षक समय बचाने के लिये अधिक काम बालक के स्थान में स्वयं करने लगता है, ऐसा नहीं करना चाहिये। 'योजना-पद्धति' में बालक 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by doing) के सिद्धान्त से सीख रहा होता है। अगर शिक्षक ही सब-कुछ करने लगे, तो बालक क्या सीखेगा? 'योजना' को पूर्ण करने में ही सब से अधिक समय लगता है। अधिक समय लगता देख कर शिक्षक को उतावला नहीं होना चाहिए। 'योजना' को पूर्ण करने में बालक जितनी देर तक लगे रहेंगे उतना ही कुछ-न-कुछ सीखते रहेंगे।

'योजना' का निर्णय—

'योजना' पूर्ण होने के बाद सब बालकों को उस पर अपनी सम्मति प्रकट करनी चाहिए—अपना 'निर्णय' देना चाहिए, 'योजना' जैसी चाहिए थी वैसी बनी, या नहीं बनी, क्या दोष रह गये, 'योजना' को पूर्ण करते-करते उन्होंने और क्या-कुछ सीख लिया।

इस सम्बन्ध में यह लिख देना आवश्यक है कि किसी भी 'योजना' को पूर्ण करते-करते बालक एक नहीं, अनेक बातें सीख जाते हैं। हम पहले 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of Studies) पर लिख आये हैं। 'योजना-पद्धति' में 'सानुबन्ध-शिक्षा' का सिद्धान्त बहुत अधिक स्पष्ट होता है। बाज़ार लगाने की 'योजना' को पूर्ण करने में बालक ख़रीदने-बेचने का हिसाब रखने से गणित, उस सबका वर्णन लिखने से निबन्ध-लेखन, एवं बाज़ार से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातें सीख जाते हैं।

३—'योजना'-पद्धति का उदाहरण

श्रीयुत् स्टोन ने पोस्ट आफ़िस से पार्सल भेजने की एक योजना का उल्लेख किया है, जिससे समझ आ जायगा कि इस पद्धति द्वारा किस प्रकार बालक सीखते हैं। बहुत बाद-विवाद के बाद बालकों ने तय किया कि वे किसी अनाथालय के बालकों को भेंट के रूप में कुछ पार्सल भेजेंगे। हाथ से काम सिखाने के घंटे में उन्होंने कागज़ मोड़ना, पार्सल पर ठीक-से लपेटना, तागे से बाँधना आदि सीखा। सब लोग ठीक-से पार्सल भी तो नहीं बाँध सकते। भाषा सीखने के अन्तर में उन्होंने पते लिखना सीखा। गणित के अन्तर में पार्सल को तोलना, कितने वज़न पर कितना टिकट लगता है, विदेश भेजने में कितना

व्यय होता है, सवारी गाड़ी, माल गाड़ी या हवाई जहाज़ से भेजने में क्या भेद है, कितने पैसे लगेंगे, कितने बच रहेंगे—यह सब-कुछ सीखा। जहाँ-जहाँ पार्सल भेजना है, वह शहर किस ज़िले में हैं, यह भूगोल के अन्तर में सीखा। अनाथालय के बच्चों को किसी ने मिट्टी के खिलौने बना कर, किसी ने टिकटें इकट्ठी करके भेजीं। इन चीज़ों को बनाना, इकट्ठा करना आदि वे अपने-अपने अन्तर में सीख गये। अनाथालय के बालकों को उन्होंने पत्र लिखे, उनसे उत्तर माँगा। लिखने के अन्तर में उन्होंने पत्र लिखना सीख लिया।

इस पद्धति ने शिक्षा को जीवन की समस्याओं के साथ जोड़ कर व्यावहारिक बना दिया है, जो-कुछ पढ़ाया जाता है उस सबका आपस में सम्बन्ध भी बांध दिया है, परन्तु इसके समालोचकों का कथन है कि इस प्रकार सिखाने से शिक्षा में कोई क्रम नहीं रहता, जो 'योजना' बनती है उसमें वे ही बातें सिखायी जा सकती हैं जो उसमें काम आती हैं, दूसरी नहीं। ऐसी अनेक बातें हैं जो शिक्षा का अंग हैं, परन्तु 'योजना' में नहीं आतीं। इस पद्धति के समर्थक इसका यही उत्तर देते हैं कि ऐसे विषयों की अलग-से शिक्षा देने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं।

'योजना-पद्धति' छोटे बालकों के लिए प्रयोग में लायी जाती है, बड़े बालकों के लिए इसी पद्धति के आधार-भूत नियमों को लेकर 'डाल्टन-पद्धति' का निर्माण हुआ है। अगले अध्याय में हम 'डाल्टन-पद्धति' की चर्चा करेंगे।

प्रश्न

१. 'योजना-पद्धति' को चलाने का श्रेय किसको है? उसके विषय में आप क्या जानते हैं?
२. 'योजना-पद्धति' का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?
३. योजना बनाने के आवश्यक अंग क्या-क्या हैं?
४. किसी ऐसी योजना का वर्णन कीजिये जिससे विद्यार्थियों को गणित, भूगोल, इतिहास तथा सुलेख सीखने में सहायता हो।

१७

डाल्टन-पद्धति

(DALTON PLAN)

[अमरीका की मैसेचुसेट स्टेट में डाल्टन नामक एक शहर है। इस शहर में श्रीमती हेलन पार्कहर्स्ट ने १९१९–२० में डाल्टन हाई स्कूल में अपनी शिक्षा-पद्धति का परीक्षण प्रारंभ किया। इस परीक्षण के आधार में स्वतन्त्रता की वही विचार-धारा काम कर रही थी जो १९१४ के महायुद्ध के वाद सम्पूर्ण भू-मण्डल में व्याप्त हो गई। सव स्वतन्त्रता चाहते हैं, तो बालक को क्यों न स्वतन्त्रता दी जाय, उसे क्यों शिक्षक-कक्षा-पाठ्य पुस्तक आदि के बंधनों में वांधा जाय! इस दृष्टि से डाल्टन-पद्धति एक प्रकार की दार्शनिक विचार-धारा है जिसके अनुसार बालक को बंधनों से मुक्त कर दिया जाता है। अमरीका में इस पद्धति का जन्म हुआ, परन्तु अमरीका की अपेक्षा इंगलैंड में इस पद्धति को अधिक अपनाया गया। जब कि अमरीका में इस पद्धति पर चलने वाले २०० स्कूल थे, उस समय इंग्लैंड में इस पद्धति को २००० स्कूल अपना चुके थे। इस विचार-धारा को हम अपनी भारत की पाठशालाओं में अपने ढंग से अपना सकते हैं। जितने अंश में हम विद्यार्थियों पर अपने-आप अपना काम करने का भरोसा करेंगे उतने अंश में इस पद्धति की आधार-भूत विचार-धारा को अपनायेंगे।]

अमेरिका के डाल्टन नगर में मिस हेलेन पार्कहर्स्ट ने १९१९ में इस पद्धति को जन्म दिया। 'समूह-शिक्षा' (Class-teaching) में जिन दोषों का हम पहले वर्णन कर आये हैं उन्हें दूर करने के लिये 'समूह-शिक्षा' के प्रति विद्रोह के रूप में, 'व्यक्ति-गत' (Individual) शिक्षा देने के लिए

इस पद्धति का निर्माण हुआ। 'डाल्टन-पद्धति' के आधार-भूत सिद्धान्त निम्न हैं—

(१) बालक को कक्षा के बन्धन से मुक्त कर दिया जाय। जिस चीज़ में उसकी रुचि हो उसे पढ़े, जब चाहे पढ़े,
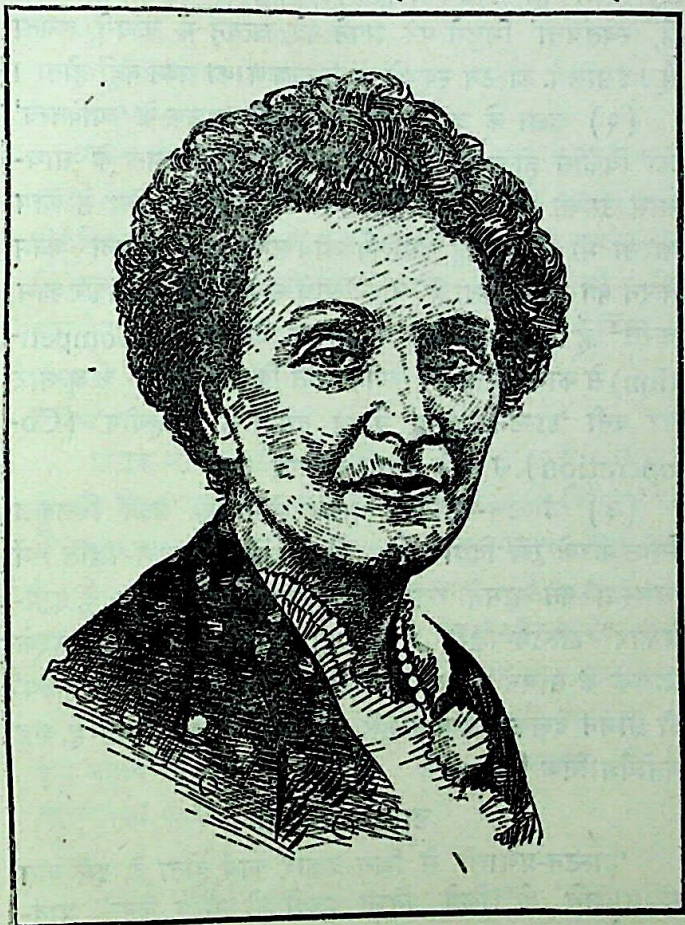
हेलेन पार्कहर्स्ट, ८ मार्च १८९२ जन्म तिथि

जितना चाहे पढ़े, उसके लिये कक्षा का बन्धन नहीं, विषय का बन्धन नहीं, समय-विभाग का बन्धन नहीं । इससे ज़िम्मेवारी अध्यापक पर न रह कर विद्यार्थी पर आ पड़ती है । मनुष्य का स्वभाव है, 'स्वतंत्रता' न मिलने पर वह 'उछृंखल' हो जाता है, 'स्वतंत्रता' मिलने पर अपने को बन्धन में बांधने लगता है । इसलिये डाल्टन स्कूलों में नियन्त्रण का प्रश्न नहीं होता ।

(२) कक्षा के बन्धन से मुक्त होकर बालक के 'व्यक्तित्व' का विकास होता है, परन्तु 'व्यक्तित्व' के विकास के साथ-साथ उसको अन्य सब के साथ मिलकर, उनके सहयोग से काम करना भी सीखना है, इसलिये आधे समय उन्हें इकला काम करने को कहा जाता है, बाकी आधे समय में वे मिलकर काम करते हैं। 'समूह-शिक्षा' में बालक 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) से काम करता है; 'व्यक्ति-गत शिक्षा-प्रणाली' के आधार पर बनी 'डाल्टन-पद्धति' में वह दूसरों के 'सहयोग' (Co-operation) से काम करना सीखता है।

(३) 'डाल्टन-पद्धति' में बालक के सम्मुख 'लक्ष्य' बिलकुल स्पष्ट करके रख दिया जाता है । जैसे 'योजना-पद्धति' में 'समस्या' को सामने रखकर उसे समझा दिया जाता है, इसी-प्रकार 'डाल्टन-पद्धति' में समस्या समझाकर, स्पष्ट करके बालक के सामने रख दी जाती है। 'समस्या', 'प्रश्न', 'लक्ष्य' को सामने देखकर बालक उसे हल करने में जुट जाता है, यह मनोवैज्ञानिक नियम है ।

डाल्टन-प्रणाली

'डाल्टन-प्रणाली' से किस प्रकार कार्य होता है, इस बात को समझने के लिये निम्न शब्दों को समझ लेना आवश्यक है :—

१. पाठ का ठेका (Contract)
२. निर्दिष्ट-पाठ (Assignment)
३. इकाई (Unit)
४. प्रयोग-शालाएं (Laboratories)
५. प्रगति-सूचक-रेखाचित्र (Graph)
६. सम्मेलन (Conference)
७. विमर्ष-सभा (Assembly)

पाठ का ठेका—

प्रत्येक बालक को वर्ष में एक निश्चित पाठ तय्यार करना होता है। इस पाठ को एक-एक मास के हिसाब से १२ हिस्सों में बांट दिया जाता है। एक मास में जितना पाठ तय्यार करना होता है, उतने का विद्यार्थी को 'ठेका' करना होता है, और लिख कर देना होता है कि वह महीने भर में अपनी सुविधा के अनुसार अपने 'ठेके' को पूरा कर देगा।

निर्दिष्ट पाठ—

प्रत्येक मास में ठेके का जो पाठ होता है, उसे कुछ भागों में बाँट दिया जाता है। शिक्षक लिखकर देता है कि इस मास में अमुक-अमुक पुस्तक को पढ़ना है, अमुक-अमुक चित्र देखने हैं। ठेके के इन निर्देशों को 'निर्दिष्ट-पाठ' (Assignment) कहा जाता है। महीने भर के काम को 'ठेका' और प्रत्येक सप्ताह के कार्य को 'निर्दिष्ट-पाठ' कहते हैं। ठेके में चार सप्ताह होने के कारण 'निर्दिष्ट-पाठ' (Assignment) भी चार ही होते हैं। महीने भर का 'निर्दिष्ट-पाठ' लिखकर बालक को देना शिक्षक का काम है।

इकाई—

प्रत्येक 'निर्दिष्ट-पाठ',(Assignment) को 'भाग' (Part) कहा जाता है। महीने में चार निर्दिष्ट-पाठ रहते हैं, अतः चार

ही 'भाग' रहते हैं। प्रत्येक 'भाग' (Assignment or Part) के पाँच उप-विभाग (Minor Part) किये जाते हैं, और एक-एक उप-विभाग को 'इकाई' (Unit) कहा जाता है। महीने भर के ठेके (Contract) में ४ 'निर्दिष्ट-पाठ' (Assignment), और एक-एक 'निर्दिष्ट-पाठ' में ५ 'इकाइयाँ' (Units) रहती हैं, इस प्रकार सारे ठेके में, ४ गुणा ५, अर्थात् २० इकाइयाँ होती हैं।

प्रयोगशाला—

डाल्टन-विधि में कक्षा के लिये कमरे नहीं होते। कमरों के स्थान में प्रयोगशालाएं होती हैं। गणित, इतिहास, भूगोल आदि की 'प्रयोगशालाएं' होती हैं, जिनमें सब प्रकार की सहायक-सामग्री उपस्थित रहती है। किसी विषय का कोई अन्तर निश्चित नहीं होता। बालक अपनी रुचि और सुविधानुसार जिस 'प्रयोग-शाला' में जब चाहे जा सकता है। प्रयोगशाला में प्रत्येक कक्षा का अलग-अलग स्थान रहता है, वहाँ उसी कक्षा के लिए सहायक-सामग्री मौजूद रहती है। वहाँ पर उस विषय का एक विशेषज्ञ विद्वान् उपस्थित रहता है। बालक को जो कठिनाई हो वह उस विशेषज्ञ से पूछ सकता है।

प्रगति-सूचक रेखा-चित्र—

विद्यार्थी ने कितनी उन्नति की है, इसे जानने के लिये तीन प्रकार के रेखा-चित्र प्रयोग में लाए जाते हैं। एक रेखा-चित्र विद्यार्थी के अपने पास रहता है, जिससे उसे पता चलता रहता है कि उसने २० में से पाठ की कितनी 'इकाइयाँ' (Units) कर लीं। दूसरा रेखा-चित्र उस विषय के विशेषज्ञ के पास रहता है, जिसकी प्रयोगशाला में जाकर विद्यार्थी ने काम किया। इससे पता चलता है कि उस विषय में उसने कितनी

इकाइयाँ कर लीं। तीसरा रेखा-चित्र कक्षा में प्रत्येक विद्यार्थी की किस-किस विषय में कितनी-कितनी इकाइयाँ समाप्त हो चुकी हैं, कितनी रहती हैं, यह दर्शाता है। महीने भर में २० इकाइयों को पूरा कर लेने पर 'ठेका' समाप्त हो जाता है।

'सम्मेलन' तथा 'विमर्ष-सभा'—

पाठशाला के समय को दो भागों में बाँटा जाता है। प्रातः-काल विद्यालय में आते ही शिक्षक तथा विद्यार्थियों का 'सम्मेलन' (Assembly) होता है। यह मिलना डाल्टन-पद्धति का आवश्यक अंग है। सायंकाल को सब बालक इतिहास, भूगोल अथवा किसी अन्य विषय की 'विमर्ष-सभा' (Conference) में इक्कट्ठे होते हैं और अपने-अपने अनुभव सुनाते हैं। 'सम्मेलन' में शिक्षक विद्यार्थियों को निर्देश देता है, 'विमर्ष-सभा' में बालक अपने-आप अपने अनुभवों की चर्चा करते हैं।

'योजना-पद्धति' में सब विषयों का 'अनुबन्ध' (Correlation) ध्यान में रखकर पढ़ाया जाता है। 'डाल्टन-प्रणाली' में एक-एक विषय के विशेषज्ञ के आधीन बालक काम करते हैं, अतः इस प्रणाली में 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation of studies) का सिद्धान्त काम में नहीं लाया जाता—यह इस प्रणाली का दोष है। प्रत्येक विषय के लिए प्रयोग-शालाएं बनाना भी सब स्कूलों के लिए सम्भव नहीं है, न प्रत्येक शिक्षक में इतनी योग्यता या लगन होती है कि वह 'निर्दिष्ट-पाठ' (Assignment) बनाने की मेहनत कर सके। अगर ये सब बातें सम्भव हों, तो १२ से ऊपर की आयु के बालकों की शिक्षा के लिए इससे अच्छी कोई पद्धति हो नहीं सकती।

प्रश्न

१. डाल्टन-शिक्षा-प्रणाली का उद्‌भव 'व्यक्तिगत शिक्षा-प्रणाली' के विचार से हुआ—इस कथन को समझाइये ।

२. डाल्टन-शिक्षा-प्रणाली के आधार-भूत सिद्धान्त क्या हैं ?

३. डाल्टन-शिक्षा-प्रणाली के निम्न शब्दों की व्याख्या कीजिए—पाठ का ठेका, निर्दिष्ट पाठ, इकाई, प्रयोगशाला, प्रगति-सूचक-रेखा-चित्र, सम्मेलन, विमर्ष-सभा ।

१८

'बुनियादी-तालीम' या 'वर्धा-योजना'

(BASIC EDUCATION AND ITS METHOD)

[अंग्रेज़ों की चलाई हुई शिक्षा के प्रति भारत में जो विद्रोह हुआ उसका परिणाम अनेक जातीय-शिक्षणालयों की स्थापना हुई। १९०१ में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्ति-निकेतन में एक शिक्षा-संस्था की स्थापना की, १९०२ में महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की, और सत्याग्रह आन्दोलन के प्रारंभिक दिनों में महात्मा गांधी ने साबरमती आश्रम की स्थापना की। महात्मा गांधी जब दक्षिण अफ्रीका में थे, तब भी उन्होंने फ़िनिक्स-नामक आश्रम की स्थापना की थी जिसमें हर व्यक्ति को कुछ-न-कुछ काम अपने हाथ से करना होता था। चिरकाल से महात्मा गांधी का यह विचार था कि बच्चों की शिक्षा अपनी स्वाभाविक परिस्थिति से कटकर नहीं होनी चाहिए। भारत में अधिक संख्या किसानों की है, परन्तु स्कूल में वे अपनी परिस्थिति से बिल्कुल भिन्न वातावरण में शिक्षा ग्रहण करते हैं। प्राथमिक-शिक्षा इस प्रकार बालक की परिस्थिति से कटकर न हो इस संबंध में महात्मा गांधी ने वर्धा में परीक्षण शुरू किया। इस परीक्षण में उन्होंने सिर्फ़ इस बात को ही आधार नहीं बनाया कि बालक की शिक्षा अपनी स्वाभाविक परिस्थिति से कटी हुई न होनी चाहिए, परन्तु इस बात को भी आधार में रखा कि कुछ-न-कुछ काम करते हुए बालक को शिक्षा दे सकना अधिक आसान है। उन्होंने वर्धा के आश्रम में दस्तकारी, कताई, बिनाई तथा कृषि को शिक्षा का केन्द्र बनाया। उनका कहना था कि इन कार्यों को करते-करते बालक जहाँ उपयोगी व्यवसायों को सीख जाता है वहाँ इन्हीं को केन्द्र बनाकर भिन्न-भिन्न विषयों को भी आसानी से सीख जाता है। शिक्षा के लिए बुनियादी बात 'करके सीखना' है। महात्मा गांधी के इस

विचार को आधार बनाकर १९२० में श्री ज़ाकिर हुसैन ने जामिया मिलिया इस्लामिया की दिल्ली में स्थापना की जिसका उद्देश्य वर्धा-योजना के आधार पर शिक्षा देना था। इस संस्था ने दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, बम्बई, आसाम, हैदराबाद, जयपुर आदि के लिए अनेक बुनियादी शिक्षा देने वाले
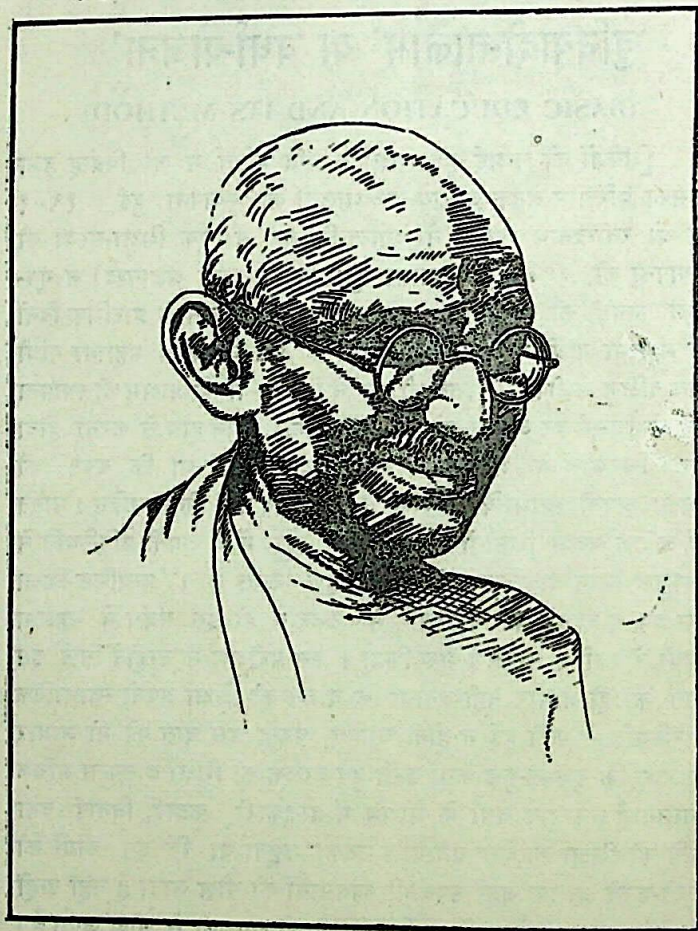
महात्मा गाँधी (१८६९–१९४८)

शिक्षक तय्यार किए। १९३७ में महात्मा गांधी ने वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन बुलाया जिसमें वर्धा-योजना के आधार पर कुछ प्रस्ताव स्वीकृत हुए। १९४८ में भारतीय सरकार की सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन की तरफ़ से बम्बई के तत्कालीन मुख्य-मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक कमेटी इस आशय से बनाई गई कि वह बुनियादी-तालीम को देश में सर्वप्रिय बनाने के उपायों पर विचार करे। इस कमेटी ने सिफ़ारिश की कि अगले सोलह वर्षों में बुनियादी तालीम को सारे देश पर क्रमशः लागू कर दिया जाय और इस उद्देश्य से प्रान्तीय सरकारें व्यय का ७० प्रतिशत भार उठायें और ३० प्रतिशत सहायता केन्द्रीय सरकार दे। उक्त कमेटी की सिफ़ारिशों को केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार किया हुआ है और अब हमारी सरकार का रुख बुनियादी तालीम को १० साल के भीतर सार्वत्रिक बनाने की तरफ़ है।]

भारत का सबसे बड़ा प्रश्न प्राथमिक-शिक्षा का प्रश्न है। अंग्रेज़ों को सब भारतीयों को शिक्षित करने की आवश्यकता न थी, उन्हें अपना काम चलाने के लिए इने-गिने पढ़े-लिखे चाहियें थे, इसलिए अन्य उन्नत देशों के विपरीत यहाँ उच्च-शिक्षा देने वाले विश्व-विद्यालयों का निर्माण पहले हुआ, प्राथमिक-शिक्षा की तरफ़ ध्यान पीछे गया। जब देश में हलचल हुई, जातीयता की भावना जागृत हुई, तब सब बच्चों की शिक्षा का प्रश्न उग्र हो उठा। महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) ने इस दिशा की तरफ़ विशेष ध्यान दिया और जब अंग्रेज़ों के रहते पहली बार कांग्रेस मन्त्री-मण्डल बने, तब मुख्यतया प्राथमिक-शिक्षा के प्रश्न को हल करने के लिए वर्धा-योजना अथवा बुनियादी-तालीम के विचार को जन्म दिया। १९३७ में महात्मा गाँधी के सभापतित्व में वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन हुआ जिसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए :—

(१) इस सम्मेलन की सम्मति में देश भर में प्रत्येक

बालक को ७ वर्ष तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

(३) यह सम्मेलन महात्मा गांधी के इस विचार की पुष्टि करता है कि प्राथमिक-शिक्षा के काल में किसी उत्पादक 'हस्त-कला' को केन्द्र बनाकर शिक्षा देनी चाहिए और अन्य जो भी शिक्षा दी जाय वह इस 'केन्द्रीय हस्त-कला' (Central handi-craft) के साथ 'अनुबद्ध' अथवा 'समन्वित' (Correlate) करके दी जानी चाहिये। केन्द्रीय हस्त-कला चुनते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह बालक की परिस्थिति के अनुकूल हो।

(४) यह सम्मेलन आशा करता है कि इस पद्धति से शिक्षा देने पर अध्यापकों के वेतन पर जो व्यय आयेगा वह विद्यार्थियों द्वारा बनाये हुए हस्त-कला के सामान की बिक्री से पूरा हो जायगा।

वर्धा-सम्मेलन के प्रस्तावों के आधार पर डा० ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में 'ज़ाकिर-हुसैन-कमेटी' बनायी गई, जिसने इन प्रस्तावों पर महात्मा गांधी के सम्मुख १९३७ के अन्त तथा १९३८ के बीच में दो रिपोर्टें पेश कीं। इन रिपोर्टों में जो विस्तृत पाठविधि बनाई गई, उसी का नाम वर्धा-योजना अथवा बुनियादी-तालीम है।

१—बुनियादी तालीम के मूल-सिद्धान्त

'वर्धा-सम्मेलन' तथा 'ज़ाकिर-हुसैन-कमेटी' की दोनों रिपोर्टों के आधार पर 'बुनियादी-तालीम' की जो योजना बनी, उसके अनुसार (१) प्रथम तथा मुख्य स्थान 'केन्द्रीय हस्त-कला' को, (२) द्वितीय इस योजना के 'स्वावलम्बी' होने को,

(३) तृतीय ७ वर्ष तक, 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' शिक्षा को, (४) चतुर्थ 'मातृभाषा' द्वारा शिक्षा देने को प्राप्त है। अब हम इन चारों पर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) 'केन्द्रीय हस्त-कला'—

'बुनियादी-तालीम' का सबसे मुख्य सिद्धांत यह है कि किसी 'हस्त-कला' (Craft) को केन्द्र बनाकर शिक्षा दी जाय। कई लोग यह समझते हैं कि जिस स्कूल में मिट्टी, लकड़ी, चमड़े आदि का कोई काम सिखाया जाता है वहाँ बुनियादी-तालीम चल रही है। यह भ्रम है। पढ़ाई के अन्य विषयों के साथ-साथ हस्त-कला को चलाना बुनियादी-तालीम नहीं है। बुनियादी-तालीम में तो 'हस्त-कला' ही मुख्य विषय है। डा० ज़ाकिर हुसैन ने अपने सिलेबस में प्रस्ताव किया था कि अगर दिन में साढ़े पाँच घण्टे शिक्षा दी जाय, तो उसमें तीन घण्टे बीस मिनट 'हस्त-कला' की ही शिक्षा दी जानी चाहिये क्योंकि वे शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे और 'हस्त-कला' को इतना समय दिये बिना वह स्वावलम्बी नहीं हो सकती थी, परन्तु भिन्न-भिन्न कान्फरेन्सों में विचार करने तथा क्रियात्मक प्रयोगों के अनुभव के आधार पर अब यह निश्चय किया गया है कि 'नीची-कक्षाओं' (Junior basic Classes) में यह समय दो घंटे तथा 'ऊँची-कक्षाओं' (Senior basic Clsses) में यह समय अढ़ाई घंटे रखा जाय ताकि अन्य विषयों के ज्ञान की योग्यता में किसी प्रकार की कमी न आने पाये।

बुनियादी स्कूल में बालक जो चीज़ें बनायेंगे, वे सिर्फ़ स्कूल के अजायब-घर में रखने की नहीं होंगी, वे उन पर इतनी मेहनत करेंगे कि बाज़ार में वे अन्य चीज़ों का मुक़ाबिला कर सकेंगी। महात्मा गांधी का कहना था कि इस सामान का

मुकाबिले में बाज़ार में टिकना कठिन हो सकता है इसलिये इसे ख़रीदना सरकार का कर्तव्य होना चाहिये। सरकार चाहे तो इसे अपने काम में लाये, या इसके लिये बाज़ार तय्यार करे।

बालक जब हस्त-कला सीखेंगे तब पाँच बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

१. वह उसकी परिस्थिति के अनुकूल हो, अर्थात् जिस वस्तु को बनाया जाना है उसका कच्चा माल वहां मिलता है या नहीं, और माल बनने के बाद उसकी निकासी का वहां कोई समुचित प्रबन्ध हो सकता है या नहीं। यह सब-कुछ तब हो सकेगा अगर किसी पाठशाला की 'कला' का निर्धारण करते हुए यह निश्चय कर लिया जाय कि जहां कोई 'कला' शिक्षा का आधार बनाई जा रही है वहां उस वस्तु की ऐसी ज़बर्दस्त मांग है या नहीं कि उसके बनते ही उसकी खपत हो सके। जिस चीज़ की जहां मांग पहले से ही हो उसी को वहां जारी करना चाहिए।
२. वह 'हस्त-कला' उत्पादक होनी चाहिये।
३. उससे बुद्धि को उत्तेजना मिले।
४. वह अनैतिक तो नहीं है ? उदाहरणार्थ, बीड़ी बनाना भी एक हस्त-कला है, इसमें आमदनी भी हो सकती है, परन्तु गांधी जी की दृष्टि से यह अनैतिक होने के कारण हस्त-कला के क्षेत्र में नहीं ली जा सकती।
५. अन्य सब विषय उससे समन्वित किये जांय।

परिस्थिति की अनुकूलता तथा उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए 'कृषि' (Agriculture), 'कताई-बुनाई' (Spinning and weaving), 'लकड़ी का काम' (Wood-work), बेंत या बांस की चीज़ें बनाना (Cane or Basket-work) तथा चमड़े का काम (Leather work) आदि को 'केन्द्रीय-हस्त-कला' (Central handicraft) बनाया गया है। कृषि के संबंध में उत्तर-प्रदेश की सरकार का ध्यान

विशेष रूप से गया है। १९५४ की जुलाई से उत्तर-प्रदेश की सरकार ने गाँवों के सभी प्राथमिक विद्यालयों को कृषि-विद्यालय का रूप दे दिया है। प्रत्येक शिक्षणालय के साथ एक १० एकड़ का फ़ार्म होगा जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक दो घंटे कृषि करेंगे। कृषि सिखाने का यह अभिप्राय नहीं कि माली से सीखा जाय, कताई-बुनाई सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि जुलाहे से सीखा जाय, लकड़ी के काम सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि बढ़ई से सीख लिया जाय। ये लोग यन्त्र चलाना सिखा सकते हैं, हस्त-कला द्वारा बुद्धि को उत्तेजित नहीं कर सकते। इन विषयों को पढ़ाने के लिए ऐसे विशेषज्ञ शिक्षक तैयार करने होंगे जो कृषि, कताई-बुनाई आदि के साथ-साथ बुद्धि को उत्तेजित कर सकें, महात्मा गान्धी के शब्दों में, बढ़ई बालक को बढ़ई ही नहीं, इंजिनीयर बना सके। किसी 'योजना' को आधार बनाकर शिक्षा देना 'योजना-पद्धति' (Project method) है, और 'हस्त-कला' को आधार बनाकर शिक्षा देना 'क्रिया द्वारा शिक्षा' (Learning by doing) के सिद्धांत का ही पालन करना है—'वर्धा-योजना' में इन दोनों को आधार बनाया गया है। इसके साथ-साथ 'केन्द्रीय-हस्त-कला' में गणित, भूगोल, इतिहास, चित्रकला आदि को जोड़ देना 'सानुबन्ध-शिक्षा' (Correlation) का सिद्धांत है। इन सब सिद्धान्तों को 'बुनियादी-तालीम' में ले लिया गया है।

(२) शिक्षा का 'स्वावलम्बी' होना—

'बुनियादी-तालीम' के 'स्वावलम्बी' होने के दो अर्थ हैं :—

(क) विद्यार्थी का ऐसी 'हस्त-कला' को सीखना जो उसे आगामी जीवन में अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना दे।

(ख) स्कूल में जो सामान बने उसे बेचकर अध्यापक का

वेतन निकल आये, ऐसा प्रवन्ध करना।

यह तो ठीक है कि आजकल हमारी शिक्षा विद्यार्थी का बहुत अधिक समय नष्ट कर देती है, उसमें व्यावहारिकता नहीं होती। इसी दृष्टि से 'योजना-पद्धति' (Project method) में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि जो भी 'योजना' बने वह जीवन की किसी-न-किसी वास्तविक समस्या को हल करने वाली होनी चाहिए, और इसी बात को 'बुनियादी-तालीम' ने ले लिया है। सब से बड़ी समस्या तो शिक्षा प्राप्त करके आजीविका कमाना ही है, अतः 'बुनियादी-तालीम' में इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि बालक प्रारंभ से ही ऐसी शिक्षा ग्रहण करे जिससे आगामी जीवन में वह स्वावलम्बी वन सके। हाँ, बालक के बनाये सामान की बिक्री से पाठशाला के अध्यापकों का वेतन भी चल सके यह अव्यावहारिक बात है। जिस समय महात्मा गांधी ने यह स्कीम रखी थी उस समय उन्होंने २५ रुपया मासिक प्राथमिक अध्यापकों का वेतन सोचा था, परन्तु यह बहुत कम था, और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए तो यह बहुत ही कम है, और जितना वेतन अध्यापक की आवश्यकता को देखते हुए मिलना चाहिये यह विद्यार्थियों के बनाये सामान से पैदा भी नहीं हो सकता। इस समय विचार-विनिमय के अनन्तर बुनियादी तालीम के कार्यकर्त्ताओं ने यह निश्चय किया है कि बालकों के बनाये सामान से सारा तो नहीं परन्तु अध्यापक का ३० प्रतिशत वेतन बालकों के बनाये सामान से निकल आना चाहिये। यह रुपया सीधा शिक्षकों के पास आने के स्थान में खज़ाने में जमा होना चाहिये ताकि न तो रुपये का दुरुपयोग हो सके, और न उसका शिक्षक के निश्चित वेतन पर कोई असर पड़े, और न उसकी मान-प्रतिष्ठा को कोई धक्का लगे।

(२) शिक्षा का 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' होना—

म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी शिक्षा 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' थी, फिर भी उनकी तथा 'बुनियादी-तालीम' की शिक्षा में निम्न भेद था :—

क. बोर्डों के नियम के अनुसार ५ वर्ष, परन्तु 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार ७ वर्ष की शिक्षा 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' कर दी गई थी, परन्तु सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार समय ७ वर्ष से भी बढ़ा कर ८ वर्ष कर दिया गया।

ख. बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु का, परन्तु 'बुनियादी तालीम' के अनुसार ७ से १४ वर्ष की आयु का बालक अवश्य स्कूल में होना चाहिए ऐसा कहा गया था, परन्तु सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार यह समझा गया कि ७ वर्ष की आयु तक बिना स्कूल में रहना समय खराब करना है, अतः अनिवार्य-शिक्षा का समय ७ से १४ की जगह ६ से १४ अर्थात् ८ वर्ष कर दिया गया।

ग. बोर्डों के अनुसार यह समझा जाता था कि बालक घर में कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता ; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार यह समझा जाता है कि पहले उसने घर में 'प्रारम्भिक-शिक्षा' ग्रहण कर ली है, ६ वर्ष से १४ वर्ष तक उसकी शिक्षा का दूसरा कदम है।

घ. बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु तक केवल प्राथमिक-शिक्षा दी जाती थी, ५ वर्ष में दी भी इतनी ही जा सकती थी; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार प्राथमिक तथा आंशिक तौर पर माध्यमिक दोनों शिक्षाएं दी जाती हैं।

ङ. बोर्डों की शिक्षा के अनुसार शिक्षा का व्यय कुछ नहीं लिया जाता; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार बालक सामान बनाते हैं, और उसकी बिक्री से अध्यापकों के वेतन का कुछ अंश प्राप्त किया जाता है।

ऊपर दिये गये विवेचन से स्पष्ट है कि 'बुनियादी-तालीम' में शिक्षा का स्तर बोर्डों में दी जाने वाली शिक्षा से ऊँचा कर दिया गया है। केवल प्रारंभिक पाँच वर्ष ही शिक्षा देने से बालकों के फिर सब-कुछ भूल कर अपढ़ हो जाने की संभावना बनी रहती है,

अतः शिक्षा-काल ५ से बढ़ाकर पहले प्रस्ताव में ७ वर्ष था जो पीछे ८ वर्ष कर दिया गया। ६ से १४ वर्ष की आयु ऐसी होती है जो मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से महत्वपूर्ण है, इस समय दी हुई शिक्षा जीवन पर छा जाती है। इसलिए ५ से १० वर्ष के स्थान में अनिवार्य शिक्षा का समय ६ से १४ वर्ष कर दिया गया है। कांग्रेस सरकारों ने बोर्डों की प्राथमिक-शिक्षा में 'बुनियादी-तालीम' को ही प्रायः सब प्रान्तों में जारी कर दिया है, अतः अब बोर्डों की तथा बुनियादी-तालीम में कोई भेद नहीं रहा है। अब सर्वत्र बुनियादी तालीम जारी की जाने वाली है।

(४) मातृभाषा द्वारा शिक्षा—

'बुनियादी-तालीम' में मातृ-भाषा को वह स्थान दिया गया है, जो अब तक अंग्रेज़ी को मिलता रहा है। अब तक प्रत्येक विषय अंग्रेज़ी के माध्यम से पढ़ाया जाता रहा है। इतने बड़े देश में सिर्फ़ गुरुकुलों के संचालकों ने उच्च-से-उच्च शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी है, नहीं तो बड़े-बड़े शिक्षा-धुरन्धरों का ध्यान भी इधर नहीं गया। वर्तमान शिक्षा-संचालकों का कर्त्तव्य है कि गुरुकुलों के सहयोग से मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने में सहायता लें। जिन शब्दों का निर्माण हम लोग करना चाहते हैं, वे गुरुकुलों में अनेक वर्षों से चल रहे हैं। बुनियादी तालीम में मातृ-भाषा के बाद हिन्दी को स्थान दिया गया है, यह एक प्रकार से प्रत्येक प्रांत की द्वितीय भाषा मानी गई है, इसमें अंग्रेज़ी को कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

महात्मा गांधी की योजना में बुनियादी तालीम में अंग्रेज़ी को कोई स्थान नहीं था और इसीलिये 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' का जिसके श्री आर्यनायकम् मंत्री हैं यह कथन है कि बुनियादी तालीम में अंग्रेज़ी को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये, परन्तु

सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड का कथन है कि 'सीनियर बेसिक स्कूलों' में यदि विद्यार्थी चाहें और संस्था उसका प्रबन्ध कर सके तो अंग्रेज़ी एक वैकल्पिक विषय रखा जाय।

२—'बुनियादी-तालीम' और 'योजना-पद्धति'

हम पहले दिखा आये हैं कि बुनियादी-तालीम में 'योजना-पद्धति' (Project method) से बहुत-कुछ लिया गया है। हाथ से करके सीखना, योजना का जीवन के साथ वास्तविक संबन्ध होना तथा विषयों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होना 'योजना-पद्धति' से ही लिए हुए सिद्धान्त हैं। 'योजना-पद्धति' को भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाकर ही बुनियादी-तालीम की रचना की गई है। फिर भी इन दोनों में भेद है। योजना-पद्धति में 'योजना' (Project) शिक्षा देने का साधन-मात्र होती है, उससे शिक्षा का काम चल गया तो उसे वहीं छोड़ बालक एक नई योजना में लग जाते हैं। बुनियादी-तालीम में तो हस्त-कला जीवन का अंग बन जाती है, वह शिक्षा का ही साधन नहीं, आगामी जीवन में जीविका का भी वह साधन है, और पढ़ने के समय अध्यापक की आजीविका का कुछ अंश भी उससे चलता है। जहाँ तक किसी हस्त-कला (Craft) को केन्द्र बनाने का विचार है, यह बहुत उत्तम है, परन्तु जब इससे बालक के आगामी जीवन तथा अध्यापक की आजीविका की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाता है, तब इसके अनेक समालोचक खड़े हो जाते हैं। कई लोग कहते हैं कि बालक छोटी आयु में जीवन भर के लिए किसी हस्त-कला को कैसे चुन सकता है? महात्मा गांधी का कथन यह नहीं था कि केन्द्रीय-हस्त-कला को चुन कर बालक जीवन भर उसके साथ बंध जाय। उनका कहना तो इतना ही था कि शुरू से बालक में उद्योग-धन्धों की

तरफ़ रुचि पैदा कर दी जाय। वह आगामी जीवन में इस रुचि के आधार पर किसी भी 'कला' को चुन सकता है। हाँ, अगर उसे कोई भी धंधा न मिले, तो प्रारंभिक-जीवन में सीखा हुआ व्यवसाय उसे सर्वथा बेकार होने से बचाये रखेगा। कुछ लोगों की समालोचना यह है कि अध्यापक बालक के बनाये खिलौनों की बिक्री पर आजीविका यापन करता हुआ कुछ अच्छा अनुभव नहीं कर सकता। इसी आलोचना को ध्यान में रखकर महात्मा गांधी ने यह निश्चय किया था कि इस सामान की बिक्री से जो धन प्राप्त हो वह अध्यापक के पास न जाकर ख़ज़ाने में जमा हो। यह दूसरी बात है कि इस बिक्री से इतनी आय भी हो सकती है या नहीं कि उसका ख़र्च चल सके? इसीलिए अब अध्यापक के सारे वेतन के स्थान में केवल ३० प्रतिशत को इस सामान की बिक्री से पूरा किये जाने का प्रस्ताव हुआ है। —ये सब ऐसे विचार ज़रूर हैं जिन पर जितना अधिक विचार होगा उतना तालीमी-योजना भी अपना सुधार करती चली जायगी।

प्रश्न

१. बुनियादी-तालीम का संक्षिप्त इतिहास दीजिये।
२. बुनियादी-तालीम के मूल सिद्धान्त क्या हैं?
३. बुनियावी-तालीम का योजना-पद्धति से क्या सम्बन्ध है?

१९

वर्गीकरण

(CLASSIFICATION)

इस समय जिस प्रणाली से बालकों को पढ़ाया जाता है उसका नाम 'समूह-शिक्षा' (Class-teaching) है। 'समूह-शिक्षा' में सब बालकों को एक ही ढंग से पढ़ाया जाता है। परन्तु सब बालक एक ही तरह के तो नहीं होते। कोई तीव्र-बुद्धि, कोई गणित तथा विज्ञान में रुचि रखने वाले, कोई साहित्य में रुचि रखने वाले, जितने कक्षा में बालक उतने उनके भेद। इसी कठिनाई को हल करने के लिए 'डाल्टन-पद्धति' आदि नवीन शिक्षा-प्रणालियाँ प्रचलित हुई हैं जिनका आधार 'वैय्यक्तिक-शिक्षा' (Individual teaching) है। परन्तु 'वैय्यक्तिक-शिक्षा' भी तब तक पूर्ण नहीं कही जा सकती जब-तक एक-एक बालक के लिए एक-एक शिक्षक का प्रबन्ध न किया जाय, क्योंकि कोई से दो बालक एक-से नहीं होते। ऐसी अवस्था में मुख्याध्यापक के सम्मुख सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह 'समूह-शिक्षा' तथा 'वैय्यक्तिक-शिक्षा' का किस प्रकार समन्वय करे। हम प्रत्येक बालक के लिए एक-एक शिक्षक नहीं रख सकते, फिर क्या किया जाय? किस प्रकार 'समूह-शिक्षा' को चलाते हुए प्रत्येक बालक की पृथक् रुचि का, पृथक् प्रकृति का, उसके पृथक् व्यक्तित्व का ध्यान रखा जाय?

इस समस्या को हल करने के लिये तीन बातों पर ध्यान

रखना आवश्यक है :—

१. विद्यार्थियों का 'पृथक्-व्यक्तित्व' (Individuality),
२. योग्यता के अनुसार चढ़ाना-उतारना (Promotions and Degradations),
३. वैय्यक्तिक रुचि के अनुसार विषयों का चुनाव।

१—विद्यार्थी का 'पृथक्-व्यक्तित्व'

प्रत्येक अध्यापक जानता है कि एक ही आयु के एक बालक का दूसरे बालक से महान् भेद होता है। क्योंकि कुछ बालक एक ही आयु के हैं, इस आधार पर उन्हें एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। किसी भी विषय को ग्रहण करने का उनका सामर्थ्य अलग-अलग होता है। एक बालक एक विषय में कमज़ोर है, दूसरे में एकदम चमक उठता है। इन सब भेदों का परिणाम यह होता है कि शिक्षक अगर तेज़ बालकों की चाल से चलता है, तो कमज़ोर बालक देखते रह जाते हैं, वे अपना पढ़ने आना ही बेकार समझने लगते हैं, और अगर वह कमज़ोर बालकों की चाल से चलता है, तो तेज़ बालक एक ही बात को बार-बार सुनकर ऊब जाते हैं, पढ़ाई में ध्यान देना बन्द कर देते हैं। व्यक्तिगत भेदों के कारण शिक्षक के लिए सबको एक चाल से पढ़ाना कठिन हो जाता है, भिन्न-भिन्न प्रकृति के विद्यार्थियों के लिए एक ही चाल से चलने वाले शिक्षक से पढ़ना कठिन हो जाता है। इसी समस्या को हल करने के लिए 'श्रेणी' (Class) के भीतर अवान्तर श्रेणियाँ बनाई जाती हैं, जिन्हें 'भाग' (Section) तथा 'वर्ग' (Draft) कहा जाता है।

'श्रेणी' (Class)-'भाग' (Section)-'वर्ग' (Draft)—

विद्यालय में जितने विद्यार्थी आते हैं, हम उनकी परीक्षा लेते हैं, और मोटे तौर से उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें

भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बाँट देते हैं। एक तरह की योग्यता के विद्यार्थियों को एक श्रेणी में, दूसरी तरह की योग्यता के विद्यार्थियों को दूसरी श्रेणी में रख देते हैं। श्रेणियों में बाँटना भिन्नता में एकता लाने का यत्न करना है ताकि शिक्षक एक चाल से चल सके, और विद्यार्थी एक ही योग्यता के होने के कारण एक-साथ समझ सकें। परन्तु एक ही श्रेणी में भी तो बहुत भिन्नता होती है। कई बालक रोगी रहने के कारण देर तक विद्यालय से अनुपस्थित रहते हैं, और श्रेणी के साथ नहीं चल सकते। कई किसी प्रभाव-शाली व्यक्ति के लड़के होते हैं, अत्यन्त कमज़ोर हैं, योग्यता के कारण नहीं, माता-पिता के प्रभाव के कारण, किसी की सिफ़ारिश के कारण ऊपर की कक्षा में पढ़ रहे हैं। कई कृपांक मिलने से उत्तीर्ण हुए हैं, फ़ेल होते-होते ही बचे हैं, कई १०० में से १०० अंक लेकर चढ़े हैं। इस समस्या को हल करने के लिये श्रीयुत स्टो के कथनानुसार 'श्रेणी' (Class) को 'भागों' (Sections) में बाँटा जाना आवश्यक है। एक ही श्रेणी में जो प्रथम-विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'क' 'भाग', जो द्वितीय-विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'ख' भाग', और जो तृतीय-विभाग में उत्तीर्ण हुए हैं, उनका 'ग' 'भाग' कर देने से शिक्षक को फिर भिन्नता में एकता मिल जाती है, और एक ही श्रेणी के तीनों भागों में शिक्षक तथा बालक ठीक चाल से चल सकते हैं, एक ही पाठ को तीन तरीकों से पढ़ सकते हैं। 'भागों' को केवल संख्या के आधार पर बाँट देना ठीक नहीं। एक ही श्रेणी में १२० बालक शिक्षा पा रहे हैं, इसलिये चालीस-चालीस के यूं-ही 'भाग' बना देना, और 'भागों' में बाँटते हुए विद्यार्थियों की योग्यता पर ध्यान न देना, वास्तविक समस्या का हल करना नहीं है। 'भागों'

में भी जो भिन्नता है उसका इलाज करने के लिये श्रीयुत लैंकास्टर ने 'वर्ग-रचना' (Drafts) के विचार को जन्म दिया है। उनका कथन है कि योग्यता के अनुसार, एक ही 'भाग' के विद्यार्थियों को पाँच-पाँच, दस-दस के 'वर्ग' (Drafts) में बाँट देना चाहिए, और शिक्षक को सम्पूर्ण श्रेणी को पढ़ाते हुए उस 'वर्ग' की अलग-अलग देख-रेख रखनी चाहिये।

इतनी एकता लाना उचित है, या नहीं, इस पर शिक्षा-शास्त्रियों की भिन्न-भिन्न सम्मति है। एकता लाने का उद्देश्य शिक्षा में 'व्यक्तिगत-भेद' को सामने रखना है, परन्तु कई लोगों का कहना है कि बहुत अधिक एकता लाने से विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम हो जायगी, और वे इतने एक-समान हो जायेंगे कि उनमें विषमता के कारण प्रतिस्पर्धा, एक-दूसरे से बढ़ने की इच्छा नहीं रहेगी। मनुष्य का स्वभाव है कि जब तक मुक़ाबिला न हो, तब तक उसमें क्रिया-शीलता उत्पन्न नहीं होती। इसलिए 'श्रेणी'—'भाग'—'वर्ग'—द्वारा एकता लाते हुए भी भिन्नता बनाये रखनी चाहिए ताकि विद्यार्थियों में 'प्रतिस्पर्धा' (Emulation) की भावना बनी रहे। 'समूह-शिक्षा' में यह गुण है कि छात्रों की संख्या अधिक होने के कारण उनमें 'प्रतिस्पर्धा' बनी रहती है, 'वैयक्तिक-शिक्षा' में संख्या कम होने के कारण 'प्रतिस्पर्धा' नहीं रहती। दोनों के गुण सम-भाव से बनाये रखने के लिए यह उचित है कि 'श्रेणी'-'भाग'-'वर्ग' न बहुत बड़ा ही हो, न बहुत छोटा ही हो, न बिल्कुल एक-सा ही हो। पच्चीस संख्या तक तो शिक्षक 'समूह-शिक्षा' के गुणों के साथ-साथ प्रत्येक बालक पर व्यक्ति रूप से भी ध्यान दे सकता है, परन्तु विद्यार्थियों की संख्या २५ से अधिक जितनी बढ़ती जायगी उतना ही 'समूह-शिक्षा' के लाभ घटने शुरू हो जायेंगे, और

४० संख्या के बाद तो बिलकुल ही जाते रहेंगे, अतः 'प्रतिस्पर्धा' आदि 'समूह-शिक्षा' के गुण बनाये रखने के लिए 'श्रेणी' के किसी 'भाग' की संख्या २५ से कम और ३० से अधिक नहीं होनी चाहिए। 'वर्ग' पांच-पांच, दस-दस के बनाये जा सकते हैं।

२——योग्यता के अनुसार चढ़ाना-उतारना

बालक के माता-पिता के दृष्टिकोण में तथा शिक्षक के दृष्टि-कोण में एक भारी भेद यह है कि माता-पिता तो बालक के अनु-त्तीर्ण हो जाने पर भी यही चाहते हैं कि उसे चढ़ा दिया जाय, शिक्षक यह चाहता है कि वह जिस श्रेणी के योग्य है उसी में रहे ताकि आगे उन्नति कर सके। जिस विद्यालय में सिफ़ारिशों से बालक चढ़ते रहते हैं, उसमें अन्त में जाकर सर्वोच्च-कक्षा में इतने अयोग्य विद्यार्थी इकट्ठे हो जाते हैं कि वार्षिक-परीक्षा में बहुत भारी संख्या में वे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। मुख्याध्यापक का यह कर्तव्य है कि योग्यता की ठीक-ठीक जाँच करे। कई बालक परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, परन्तु शिक्षकों की दृष्टि में उन्हें उत्तीर्ण होना चाहिए था। ऐसों को उपरली श्रेणी में चढ़ा देना ही ठीक है। कई बालक घोटकर, नकल करके, या परीक्षक की शिथिलता से परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं, परन्तु शिक्षक की दृष्टि में उन्हें अनुत्तीर्ण होना चाहिए था। ऐसों को उपरली कक्षा में इस शर्त पर चढ़ाना चाहिए कि अगर कुछ समय बाद शिक्षक की सम्मति में वे ऊपर की श्रेणी के योग्य न समझे गये, तो उन्हें फिर वापस बुला लिया जायगा। हाँ, ऐसा निर्णय करते हुए यह भी ठीक-से जाँच लेना चाहिए कि शिक्षक उस बालक के प्रति अन्याय न कर रहा हो। परीक्षा को ही बालक के चढ़ाने-उतारने की अन्तिम कसौटी न समझ लेना चाहिए, चढ़ाना-उतारना इस दृष्टि से चाहिए जिस से

पढ़ाते हुए अध्यापक यह अनुभव न करे कि उसके सामने अत्यन्त विषम योग्यताओं के विद्यार्थी बैठे हैं।

जो विद्यार्थी चढ़ जाते हैं उनमें से कई बहुत तेज़ भी हो सकते हैं, वे एक ही वर्ष में दो साल का काम कर सकते हैं। ऐसे बालक ही समाज की सम्पत्ति हैं। उन्हें बेकार सुस्त बालकों के साथ जोते रखना उनका नाश करना है। उनकी समस्या का हल करने के लिए कई शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि विद्यालय में दो परीक्षायें होनी चाहिएं—वार्षिक तथा षाण्मासिक। षाण्मासिक परीक्षा में ऐसे विद्यार्थियों को छाँट लेना चाहिए जो एकदम अगली श्रेणी में चढ़ाए जा सकते हैं, ऐसे दो-चार ही होंगे तो क्या, उन्हींसे तो पाठशाला की शान है। यह ठीक है कि छः महीने तक अगली श्रेणी की आधी से ज़्यादा पढ़ाई हो चुकी होगी, और नये विद्यार्थियों के आ जाने से जहाँ इन के लिये पिछली पढ़ाई करना कठिन होगा वहाँ अध्यापक के लिये अन्य विद्यार्थियों के साथ इन्हें लेकर चलना कठिन होगा। इस कठिनाई का समाधान यूं किया जा सकता है कि पाठविधि को दो हिस्सों में बाँट दिया जाय। पहले छः महीने दो-तिहाई पढ़ाई कराई जाय, अगले समय में एक-तिहाई, और उस समय में एक-तिहाई पाठ के साथ-साथ पिछले छः महीने के दो-तिहाई पाठ को मोटी तौर पर दोहरवा दिया जाय। जिन कुशाग्र-बुद्धि बालकों को छः महीने में आगे चढ़ा दिया गया है वे शीघ्र ही पिछला पाठ पकड़ लेंगे। जिन बालकों को इस शर्त पर चढ़ाया गया था कि वे सन्तोष-जनक कार्य करेंगे तो आगे चलते रहेंगे, नहीं तो उतार दिये जायेंगे, उन्हें ठीक काम न करने पर उतार देना चाहिए। जो मुख्याध्यापक इस प्रकार के 'वर्गीकरण' को अपना कर्तव्य नहीं समझता वह प्रत्येक बालक के साथ, माता-पिता के साथ,

अध्यापकों के साथ अन्याय करता है।

कमज़ोर बालकों के लिए 'विशेष-कक्षाओं' (Special classes) का प्रवन्ध होना चाहिए। 'विशेष-कक्षाओं' का यह अभिप्राय नहीं कि एक ही श्रेणी के कमज़ोर बालकों को इकट्ठा करके एक शिक्षक के सिपुर्द कर दिया जाय। इतने शिक्षक कहाँ से मिलेंगे ? इसका यह अभिप्राय है कि कई श्रेणियों के भिन्न-भिन्न बालकों को स्कूल के सबसे योग्य शिक्षक के सिपुर्द किया जाय, और वह सब से व्यक्ति रूप से काम कराये। हरेक की निर्बलता को देखे, उसी पर ज़ोर दे, और कमज़ोरी दूर हो जाने पर जिस कक्षा के योग्य वह बालक हो उसे पढ़ने के लिए फिर उस कक्षा में भेज दे। 'विशेष-कक्षाओं' में परीक्षा का भय नहीं रहता, बालक अपनी मनचाही चाल से चलता है, शिक्षक उसे रास्ता दिखाता जाता है, जब वह किसी श्रेणी में ठीक-से चलने योग्य हो जाता है, तब उस नाले को नदी के प्रवाह के साथ आगे-आगे वहने के लिए सम्मिलित कर दिया जाता है।

३—रुचि के अनुसार विषयों का चुनाव

इस समय विद्यार्थी को पढ़ाने के तीन प्रकार चल रहे हैं। पहले प्रकार में एक साल तक एक विद्यार्थी को एक श्रेणी में रहना पड़ता है। सब विषय पढ़ने पड़ते हैं। जिनमें वह तेज़ है उनमें तथा जिनमें कमज़ोर है उनमें उसे उतना ही समय देना पड़ता है। यह 'एक-कक्षा-प्रकार' (Single class system) कहाता है। इसमें विद्यार्थी को अपनी रुचि के अनुसार पढ़ने की स्वतंत्रता नहीं होती। साल भर एक कक्षा में पढ़ने के बाद उसे परीक्षा लेकर अगली कक्षा में चढ़ा दिया जाता है। इसमें वहुत उधेड़-बुन नहीं करनी पड़ती, यह 'वर्गीकरण' का सब से आसान तरीक़ा है। दूसरा 'बहु-कक्षा-प्रकार' (Manifold class system)

है। इसमें प्रत्येक बालक भिन्न-भिन्न विषयों को अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न कक्षाओं के साथ पढ़ता है। किसी विषय को ५वीं के साथ, किसी को ७वीं के साथ पढ़ता है। इसमें विद्यार्थियों को स्वतन्त्रता होती है, परन्तु उस की पढ़ाई की देख-रेख कर सकना कठिन होता है। 'वर्गीकरण' के इस दोष को दूर करने के लिए 'परामर्श-दाता' अध्यापकों की नियुक्ति करनी पड़ती है जो सम्पूर्ण अध्यापन-काल में विद्यार्थी की देख-रेख करते हैं, उसे परामर्श देते रहते हैं। तीसरे में इन दोनों को मिला दिया गया है, यह 'मिश्र-कक्षा-प्रकार' (Mixed class system) कहाता है। इसमें प्रत्येक विद्यार्थी अपनी-अपनी कक्षा में ही रखा जाता है, जैसे पहले प्रकार के संबंध में कहा जा चुका है; परन्तु गणित, विज्ञान आदि कुछ विषयों के सम्बन्ध में उन्हें अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार ऊँची या नीची कक्षा में पढ़ने की स्वतंत्रता होती है।

इस तीन प्रकार के 'वर्गीकरण' के अतिरिक्त विषयों का एक और 'वर्गीकरण' भी किया जा रहा है जिसके विषय में कुछ विस्तृत विवेचन करना आवश्यक है।

इंग्लैंड में १९२६ में सर हैनरी हैडो की अध्यक्षता में युवा बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में एक कमेटी का निर्माण हुआ जिसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि ११ या १२ वर्ष की अवस्था में प्रत्येक युवक की नस-नस एक नई लहर से भर जाती है, यह अवस्था 'किशोरावस्था' (Adolescence) कहाती है। समुद्र में जब लहर उठे तभी उसे पकड़ लेने से तैराक़ तर जाता है, फिर इस लहर को क्यों न पकड़ा जाय? इस लहर को पकड़ लेने से, इस अवस्था में बालक के जीवन को नई दिशा दे देने से वह कुछ-का-कुछ बन सकता है। इस दृष्टि से कमेटी ने प्रस्ताव

किया कि ११–१२ वर्ष की अवस्था में बालक की शिक्षा को एक नवीन दिशा देने लिए उसके पहले मार्ग को तोड़ देना चाहिए। अगर यह समझा जाय कि तीन वर्ष की आयु में बालक 'शिशु-शाला' (Nursery School) में प्रवेश करेगा, तो ३ से ५ वर्ष की आयु तक दो वर्ष वह उसमें रहे; ५ से ७ वर्ष की आयु तक दो वर्ष 'बाल-शाला' (Infant School) में रहे; ७ से ११ वर्ष की आयु तक ४ वर्ष 'जूनियर-स्कूल' (Junior School) में रहे; ११ से १५ वर्ष की आयु तक ४ वर्ष 'सीनियर-स्कूल' (Senior School) में रहे। इस प्रकार लगभग ११ वर्ष की आयु में प्रत्येक बालक 'जूनियर' तक पहुँच चुका होगा, 'सीनियर' में जाने वाला होगा। 'शिशु-शाला' - 'बाल-शाला'- 'जूनियर स्कूल' - 'सीनियर स्कूल' का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होगा। अनेक 'शिशु-शालाओं' के बालक एक 'बाल-शाला' में जायेंगे, अनेक 'बाल-शालाओं' में पढ़ चुके बालक एक नवीन 'जनियर स्कूल' में जायेंगे, अनेक 'जूनियर स्कूलों' के छात्र एक नवीन 'सीनियर स्कूल' में जायेंगे, जिनमें साथी अलग, शिक्षक अलग, मकान अलग, सब-कुछ पहले से भिन्न होगा। इसका बालक के विकास पर बहुत अच्छा असर पड़ेगा। विद्यार्थी 'शिशु-शालाओं' से छंट कर 'बाल-शालाओं' में पहुँचेंगे, 'बाल-शालाओं' से छंट कर 'जूनियर स्कूलों' में पहुँचेंगे, वहाँ से छंट कर 'सीनियर स्कूलों' में पहुँचेंगे—जितना ऊपर पहुँचेंगे उतनी छाँट होती जायगी, उतना 'वर्गीकरण' होता जायगा, और अनेक बालकों में उतनी ही एकता निकलती आयगी। क्योंकि 'जूनियर स्कूल' से उत्तीर्ण होने के बाद लगभग ११ वर्ष की आयु में बालक के जीवन में एक नवीनता आ जाती है, उसकी रुचियाँ जाग जाती हैं, नस-नस फड़कने लगती है, कोई गाता है, कोई

खेल में रमने लगता है, कोई विज्ञान की दिशा की तरफ़ चल देता है, अतः इस आयु में बालक को भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाने का मार्ग मिल जाना चाहिए। ११ वर्ष की आयु के बाद 'सीनियर स्कूल' में पहुँचने पर उसकी भिन्न-भिन्न रुचियों के विकास के लिए उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के स्कूल मिलने चाहियें जिनमें अपनी रुचि, अपनी योग्यता के अनुसार वह पढ़ सके। जिस देश में जितनी अधिक 'शिशु-शालाएं' होंगी, उतनी अधिक और उतनी ही अच्छी छाँट, उतना ही अच्छा वर्गीकरण 'बाल-शालाओं' के लिए हो जायगा, जितनी अधिक 'बाल-शालाएं' होंगी, उतना अच्छा वर्गीकरण 'जूनियर स्कूलों' के लिए हो सकेगा, और जितने अधिक 'जूनियर-स्कूल' होंगे, उतना अच्छा वर्गीकरण 'सीनियर-स्कूलों' के लिए हो सकेगा। दस-बीस में से एक तरह के बालक छाँटना उतना आसान नहीं जितना सौ, दो-सौ में से, और सौ, दो-सौ में से भी एक-से बालक छाँटना उतना आसान नहीं जितना हज़ार-दो-हज़ार में से। इस प्रकार छँटते-छँटते, उनका वर्गीकरण होते-होते, जब बालक लगभग ११ वर्ष की आयु में पहुँचेंगे, तब शिक्षा की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण बात तो हो चुकी होगी। हज़ारों बालकों का 'वर्गीकरण' हो चुका होगा, कौन तेज़ हैं, कौन कमज़ोर हैं, कौन आगे चल सकते हैं, कौन नहीं चल सकते, किन की गणित और विज्ञान में रुचि है, किनकी साहित्य में रुचि है? बालकों का वर्गीकरण होते ही अगर उन्हें उस आयु में अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल विषयों का चुनाव करने का अवसर मिल जाय, तो फिर वे क्या-से-क्या नहीं बन सकते? यह आयु घोड़े पर सरपट दौड़ने की है, प्रत्येक बालक जीवन की घुड़दौड़ के लिए मानो व्याकुल हो रहा होता है। ऐसे समय बालक की रुचि के अनुकूल विषय न

देकर यूं ही पढ़ाते जाना मौक़े को चूक जाना है। इसीलिए 'सर हेनरी हैडो कमेटी' ने यह सुझाव रखा कि पाठशालाओं का इस दृष्टि से पुनः संगठन किया जाय और 'सीनियर स्कूल' के बाद बालकों के वर्गीकरण के साथ विषयों का भी वर्गीकरण किया जाय। बचपन से 'सीनियर-स्कूल' तक जिन बालकों की साहित्य में ही रुचि हो, वे साहित्य की धारा में बहने वाले हैं, जिनकी विज्ञान में रुचि हो, वे विज्ञान की धारा में बहने वाले हैं। भिन्न-भिन्न स्कूलों की साहित्य-धारा, विज्ञान-धारा बहती हुई 'सीनियर स्कूल' की 'साहित्य-धारा' और 'विज्ञान-धारा' में आ मिले। इस उद्देश्य से 'सीनियर-स्कूल' के ४ सालों के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों के 'विभागों' (Groups) का निर्देश किया। व्यापार, साहित्य आदि भिन्न-भिन्न विषयों के 'विषय-विभाग' बनाकर बालकों को सुविधा दी जाय ताकि वे ११ वर्ष की आयु के बाद, उस आयु के बाद जब उनके भीतर सचमुच एक परिवर्तन उठ खड़ा होता है, अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार विषयों का चुनाव करें।

'हैडो कमेटी' की इसी विचार-धारा को अब भारत में भी अपना लिया गया है। १९४८ से ८वीं श्रेणी उत्तीर्ण कर लेने के बाद ९वीं श्रेणी से बालकों के लिए विषयों के ४ 'विभाग' (Groups) निश्चित कर दिये गये हैं, जिनमें से वह अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार किसी एक 'विभाग' को चुन सकता है। वे हैं—'साहित्य-विभाग' (Literary Group), 'विज्ञान-विभाग' (Scientific Group), 'रचनात्मक-विभाग' (Constructive Group) तथा 'कला-विभाग' (Art Group)। क्योंकि इन भिन्न-भिन्न विभागों के विषयों को दो साल में पूरा नहीं किया जा सकता इसलिए 'इन्टरमीजियेट'

के दो सालों को 'सीनियर स्कूल' के दो सालों में मिला कर इन स्कूलों का नाम 'हायर सैकन्डरी स्कूल' रख दिया गया है, और इनका पाठ्य-क्रम ४ साल का बना दिया गया है। इस प्रकार विषयों का 'वर्गीकरण' बालकों के 'वर्गीकरण' के आधार पर किया गया है, अतः माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्तव्य है कि बालकों को किसी 'विभाग' (Group) को दिलवाते हुए अपनी रुचि का नहीं, बालकों की रुचि का ध्यान रखें, तभी विषय-वार इस नवीन वर्गीकरण से कुछ लाभ होगा। पहले १० साल की 'मैट्रिक' थी, फिर १२ साल का 'हायर सैकेंडरी स्कूल' बना, अब ११ साल की स्कूल की एक इकाई बना कर ३ साल विश्व-विद्यालय की शिक्षा हो—यह विचार चल रहा है।

प्रश्न

१. 'समूह-शिक्षा' तथा 'वैय्यक्तिक-शिक्षा' में जो अपने-अपने लाभ हैं उनका 'वर्गीकरण' की प्रक्रिया में किस प्रकार समन्वय किया गया है ?
२. विद्यार्थियों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में बांटा जाता है और एक ही योग्यता के विद्यार्थी एक श्रेणी में रखे जाते हैं। जिन विद्यार्थियों को एक ही योग्यता कह कर एक श्रेणी में रखा जाता है उनकी योग्यता भी तो भिन्न-भिन्न होती हैं। ऐसी अवस्था में सब को अध्यापक एक चाल से कैसे चला सकता है ? इसका क्या इलाज है ?
३. विद्यार्थियों में प्रतिस्पर्धा बनाये रखने का क्या साधन है ?
४. छात्रों को ऊपर-नीचे करने में अध्यापक किन बातों का ध्यान रखे?
५. शिक्षा में 'विशेष-कक्षाओं' का क्या स्थान है ?
६. 'एक-कक्षा-प्रकार', 'बहु-कक्षा-प्रकार' तथा 'मिश्र-कक्षा-प्रकार' क्या है?
७. 'हैडो कमेटी' ने किस प्रकार के वर्गीकरण की सिफ़ारिश की थी और उसको भारत में किस तरह अपनाया गया है ?

२०

परीक्षाएँ

(EXAMINATIONS)

परीक्षाएं दो तरह की हैं। एक वे जो शिक्षक स्वयं विद्यार्थियों की योग्यता जाँचने के लिए समय-समय पर लेता रहता है। पढ़ाते हुए यह जानने के लिए कि विद्यार्थी समझ रहे हैं, या नहीं, प्रश्न करते जाना शिक्षा का आवश्यक अंग है। शिक्षक जो परीक्षाएँ लेता है वह इन प्रश्नों का ही एक विशेष रूप हैं। ऐसी परीक्षाएँ लेते ही रहना चाहिए, परन्तु परीक्षा का एक और भी विशेष रूप है। साल भर पढ़ाने के बाद विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाती है। इस परीक्षा में विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाय, तो उसे उपरली श्रेणी में चढ़ा दिया जाता है, अनुत्तीर्ण हो जाय, तो नहीं चढ़ाया जाता। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर लेने पर कालेज में जाने के लिये मैट्रिक की परीक्षा होती है, कालेज में बी० ए०, एम० ए० की। ये परीक्षाएँ शिक्षक भी ले सकते हैं, बाहर के परीक्षक भी ले सकते हैं, परन्तु प्रायः बाहर के परीक्षक ही लेते हैं। ऐसी परीक्षाएँ विद्यार्थी और शिक्षक दोनों के लिए हौआ बनकर आती हैं क्योंकि इनमें उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण होने पर ही विद्यार्थी आगे कदम रख सकता है, और शिक्षक कुछ पढ़ाता रहा है या नहीं, इसकी भी परीक्षा हो जाती है। ये परीक्षाएँ जिनसे विद्यार्थी एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाता है, किस ढङ्ग से होनी चाहियें—यही परीक्षा के सम्बन्ध में सब से बड़ा प्रश्न

है। ये भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न ढङ्ग से ली जाती हैं। आगे बढ़ने से पहले हम संक्षेप में यह दिखलायेंगे कि किस देश में ये परीक्षाएँ किस ढङ्ग से ली जाती हैं।

इंग्लैंड तथा भारत में परीक्षा-प्रणाली—

भारत में प्राय: आंग्ल-परीक्षा-प्रणाली प्रचलित है। प्रश्न-पत्र अध्यापक नहीं बनाता, कोई दूसरा बनाता है ताकि बालकों को यूं-ही न चढ़ा दिया जाय। क्योंकि अध्यापकों की वेतन-वृद्धि इस बात पर आश्रित रहती है कि उनके पढ़ाये कितने विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं अत: परीक्षा केवल बालकों की नहीं, अध्यापकों की भी जाँच है, और इसीलिए अध्यापकों के हाथ में परीक्षा का काम नहीं छोड़ा जाता। इस बात का विशेष प्रयत्न किया जाता है कि परीक्षक तथा विद्यार्थी में किसी प्रकार का परिचय न हो, परीक्षक को विद्यार्थियों का और विद्यार्थियों को परीक्षक का नाम नहीं बताया जाता। ३ घंटे में ६-७ प्रश्न करने को दिए जाते हैं, जिनमें ५० से १०० पूर्णांक होते हैं, किसी निश्चित प्रतिशत से ऊपर अंक लेने पर विद्यार्थी उत्तीर्ण माना जाता है। परीक्षक के घर उत्तर-पत्र भेज दिये जाते हैं और परीक्षा के लगभग दो-अढ़ाई महीने बाद परिणाम निकलता है, इस बीच में विद्यार्थी साँस रोके परिणाम की तरफ़ टिकटिकी बाँधे बैठा रहता है। इंग्लैण्ड तथा भारत में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली की यही रूप-रेखा है।

यह प्रणाली अत्यन्त दोष-पूर्ण है। परीक्षा का अर्थ यह समझा जाता है कि बाहर के परीक्षक ने जिसे उत्तीर्ण कर दिया वह उत्तीर्ण होने के योग्य है, जिसे अनुत्तीर्ण कर दिया वह अनुत्तीर्ण होने के योग्य है, परन्तु अनुभव से पता चलता है कि ऐसा होता नहीं। परीक्षकों के निर्णय में इतनी भिन्नता, इतनी विषमता पायी जाती

है कि एक जिसे उत्तीर्ण कर देता है, दूसरा उसी को अनुत्तीर्ण कर देता है, एक जिसे सर्व प्रथम ठहराता है, दूसरा उसे सब से नीचे ला पटकता है। एक ही उत्तर के विषय में भिन्न-भिन्न परीक्षकों के निर्णय में ज़मीन-आसमान का भेद होता है। स्टार्च तथा इलियट ने अंग्रेज़ी के उत्तर-पत्र की १४२ अध्यापकों से जाँच कराई, और किसी ने ६४ अंक दिये, तो किसी ने ९८ दिये; इतिहास में ७० अध्यापकों से जाँच कराई, किसी ने ४३ अंक दिये, तो किसी ने ९० दिये। डा० बलार्ड ने ७ विद्यार्थियों के उत्तर-पत्रों की एक स्वतंत्र परीक्षक से जाँच कराई, उसने उन्हें १०० में से ४० से लेकर ९० तक अंक दिये। फिर उन्हीं जाँच किए हुए उत्तर-पत्रों की उसने अन्य १३ परीक्षकों से जाँच कराई और उन्हें कहा कि इन्हें योग्यता के अनुसार पहला-दूसरा इत्यादि स्थान दे दें। परिणाम यह हुआ कि एक उत्तर-पत्र को तो पहले से लेकर सातवें तक सभी क्रमों में रखा गया, दो छः क्रमों में आए, बाकी चार को पाँच क्रम मिले—अर्थात्, किसी ने एक उत्तर-पत्र को पहला रखा तो किसी ने उसी को दूसरा, किसी ने तीसरा, किसी ने चौथा, और किसी ने अन्तिम। डा० बलार्ड ने एक और परीक्षण का उल्लेख किया है। १९२० में अमरीका में इतिहास की परीक्षा में छः प्रोफ़ेसरों को परीक्षक बनाया गया। उन छः के पृथक्-पृथक् अंकों के आधार पर विद्यार्थी का उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होना निर्भर था। उत्तीर्ण होने के लिए १०० में से ६० अंक लेना आवश्यक था। उन्हीं प्रोफ़ेसरों में से एक ने उन्हीं प्रश्नों का एक उत्तर-पत्र लिखा जिसे वह अपनी दृष्टि में आदर्श उत्तर समझता था। ग़लती से यह उत्तर-पत्र भी विद्यार्थियों के उत्तर-पत्रों में सम्मिलित हो गया। दूसरे प्रोफ़ेसरों ने उसे किसी विद्यार्थी का उत्तर-पत्र समझ कर ही

जाँचा और किसी ने ४० तो किसी ने ८० तक अंक दिये। क्योंकि ६० अंक पाने से विद्यार्थी उत्तीर्ण समझा जाता था इसलिए ४० अंक पाने के कारण यह प्रोफ़ेसर भी अनुत्तीर्ण हो गया।

उत्तर-पत्रों को जाँचने में भिन्नता के अनेक कारण हैं। सौ, पाँच-सौ उत्तर-पत्रों में ८-१० प्रश्नों को हरेक कापी में जाँचते-जाँचते परीक्षक यह निश्चय नहीं कर सकता कि किस परीक्षार्थी को किस प्रश्न पर ८ अंक देने चाहियें, किसे ६ और किसे ८ अंक। एक बार पंजाब विश्वविद्यालय में एक परीक्षक के पास सब उत्तर भेजने के स्थान पर भिन्न-भिन्न परीक्षार्थियों का एक ही प्रश्न का उत्तर जाँच कराने के लिए भेजा गया ताकि उसके निर्णय में विषमता न हो सके, परन्तु इतने उत्तरों के देखते-देखते परीक्षकों ने अनुभव किया कि जहाँ १०-१५ उत्तर देखे, उनके लिए इतने उत्तरों की तुलना करना असम्भव-सा हो गया। परीक्षक किसी समय प्रसन्न है तो ५-१० अंक ज़्यादा दे जाता है, किसी समय खिन्न है तो ५-१० अंक कम दे डालता है। अंक देने की विषमता को देखते हुए यह कह सकना कि जिसे १०० में से ३० अंक मिले हैं वह उत्तीर्ण होने योग्य है और जिसे २८ अंक मिले हैं वह अनुत्तीर्ण होने योग्य है, असम्भव है।

इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में स्मृति की ही परीक्षा होती है। विद्यार्थी सब-कुछ रट लेते हैं। कोई-कोई तो गणित के उत्तर भी रट लेते हैं। साल भर कुछ नहीं पढ़ते, परीक्षा से पहले दिन-रात एक करके अपना स्वास्थ्य ख़राब कर लेते हैं। जो रट नहीं सकते वे परीक्षा-पत्र चुराने के साधन ढूंढते हैं, परीक्षा में नकल करते हैं, पकड़े जाते हैं। परीक्षा पढ़ाई के लिए नहीं होती, पढ़ाई परीक्षा के लिए समझी जाती है। विद्यार्थी तथा शिक्षक दोनों का यही दृष्टिकोण रहता है।

इस प्रणाली में ज़्यादातर परीक्षा 'प्रस्ताव-लेखन' की होती है। जो अच्छा लिखना जानता है, अपने भावों को ठीक ढंग से प्रकट कर सकता है, वह कुछ-न-कुछ लिखकर उत्तीर्ण हो जाता है। इतिहास, भूगोल, साहित्य, सभी में, इस पर प्रस्ताव लिखो, उस पर लिखो, बस, प्रस्ताव-ही-प्रस्ताव लिखवाये जाते हैं।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि विद्यार्थियों को यह आमूल-चूल हिला देती है, उन्हें इतना घबड़ा देती है कि कभी-कभी अच्छे विद्यार्थी भी फ़ेल हो जाते हैं। बालकों का मस्तिष्क कभी-कभी परीक्षा के धक्के को बर्दाश्त नहीं कर सकता। परीक्षा के समय कई पागल हो जाते हैं, और परीक्षा में फ़ेल होने के कारण कई आत्म-हत्या कर लेते हैं।

यह ठीक है कि शिक्षा के साथ-साथ परीक्षा भी जुड़ी ही रहेगी, परन्तु इस पद्धति में जो दोष हैं उन्हें दूर करना ही होगा। अब तो भारत स्वतन्त्र हो गया है, अब आवश्यक नहीं कि अंग्रेज़ों की पीटी लकीर-का-फ़कीर बना जाए। भारत सरकार को एक कमीशन भिन्न-भिन्न देशों की शिक्षा-प्रणालियों का अध्ययन करने के लिए भेजना चाहिए, और अन्य देश जैसे इन समस्याओं का हल निकाल रहे हैं, वैसे हमें भी निकालना चाहिए। अभी पिछले दिनों श्री मुदलियर की अध्यक्षता में 'सैकेंडरी एजूकेशन कमीशन' की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई है उसमें भी इस प्रकार की परीक्षा-प्रणाली को बदलने की सिफ़ारिश की गयी है और कहा गया है कि बाहर के परीक्षकों के स्थान में अध्यापकों के ऊपर और विद्यार्थियों के कक्षा के काम पर बहुत-कुछ छोड़ना चाहिए। अभी १९५४ से सागर-विश्वविद्यालय ने तो परीक्षा-प्रणाली को उड़ा ही दिया है। वहाँ बहुत-कुछ घर के काम पर उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण होना निर्भर कर दिया गया है।

जर्मनी में परीक्षा-प्रणाली

जर्मनी में, इंगलैंड तथा भारत की तरह मासिक, षाण्मासिक तथा वार्षिक परीक्षाएं लेने का रिवाज़ नहीं है। साल को तीन भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग के अन्त में अध्यापक अपने विषय के विद्यार्थी के सम्बन्ध में अपनी सम्मति एक रजिस्टर में दर्ज कर देता है। इन सम्मतियों को वह १, २, ३ की संख्या में दर्ज कर देता है, जो इन के बीच में हों उन्हें +२, +३ या–२,–३ आदि के रूप में प्रकट करता है। वर्ष के अंत में मुख्याध्यापक शिक्षकों के परामर्श तथा इन रजिस्टरों के आधार पर विद्यार्थी को चढ़ा देता है। जिन विद्यार्थियों को नहीं चढ़ाया जाता उनकी संख्या १० प्रतिशत से अधिक नहीं होती। साल भर विद्यार्थी पर काफ़ी ध्यान दिया जाता है, विद्यार्थी तथा उसके माता-पिता को लगातार उसकी प्रगति के विषय में चेतावनी दी जाती है, परन्तु परीक्षा पर विद्यार्थी के भाग्य का निर्णय करने के स्थान पर साल भर उसने जो काम किया है उस पर निर्णय किया जाता है। प्रत्येक स्कूल में खेल, आज्ञा-पालन, सद्व्यवहार, शिष्टाचार, परिश्रम आदि पर भी अंक दिये जाते हैं। स्कूल की अन्तिम परीक्षा जिसे पास कर वह युनिवर्सिटी में जाता है, अध्यापकों ही द्वारा उस इलाक़े के इन्सपेक्टर की देख-रेख में ली जाती है। परीक्षा लिखित भी होती है, मौखिक भी—प्रत्येक विषय में केवल एक प्रश्न दिया जाता है, प्रश्नों की भरमार नहीं की जाती। उस एक प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी एक निबन्ध लिखता है। अध्यापक तीन निबंधों के विषय निर्दिष्ट करता है, जिनमें से इन्सपेक्टर किसी एक को चुनकर विद्यार्थी को दे देता है। जो विद्यार्थी लिखित-परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, उनकी मौखिक-परीक्षा ली जाती है,

और इसमें उत्तीर्ण होने पर उन्हें चढ़ा दिया जाता है। भाषा की परीक्षा में शब्द-कोषों के प्रयोग की आज्ञा रहती है। सब विषयों की परीक्षा नहीं होती, केवल मुख्य-मुख्य विषयों की परीक्षा होती है। युनीवर्सिटी में कोई परीक्षा नहीं होती, केवल अंत में एक परीक्षा होती है जिसे 'डाक्टरेट' की परीक्षा कहा जाता है। परीक्षा के लिए प्रोफ़ेसर विद्यार्थी को किसी निर्दिष्ट-विषय पर निबन्ध लिखने को कहता है, समय-समय पर उसकी तैयार की हुई सामग्री की जाँच करता रहता है, उसे नई-नई पुस्तकें पढ़ने का परामर्श देता है। इस मुख्य विषय के साथ उसे कोई-से दो और विषय लेने होते हैं। तीन विषय होने के कारण उसकी जाँच के लिए तीन परीक्षक निश्चित किये जाते हैं, जो उसकी निबन्ध के अतिरिक्त मौखिक-परीक्षा लेते हैं। वे उसे पूछते हैं कि किस-किस विषय पर प्रोफ़ेसर के कितने व्याख्यान उसने सुने हैं, कौन-कौन-से सुने हैं, क्या-क्या पुस्तकें पढ़ी हैं। यह मौखिक-परीक्षा लिखित-परीक्षा की अपेक्षा भी अधिक गहराई में जाती है। लिखित-परीक्षा से तो प्रायः निबन्ध लिखने की शक्ति की जाँच होती है, मौखिक से विद्यार्थी ने विषय को कितना पचा लिया है, यह पता लगता है। यूनिवर्सिटी की 'डाक्टरेट' की परीक्षा के लिए भी इसी प्रकार की जाँच होती है। परीक्षा का परिणाम विद्यार्थी को उसी समय बता दिया जाता है। उसके लिए उसे महीनों प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

फ्रांस में परीक्षा-प्रणाली—

फ्रांस की परीक्षा-प्रणाली इंग्लैंड और जर्मनी से भिन्न है। परीक्षाएँ वर्ष में दो बार होती हैं, एक वर्ष के अन्त—जून-जुलाई में, दूसरी वर्ष के प्रारम्भ—अक्तूबर में। जो जून-जुलाई में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं, तथा जो रोगी होने अथवा अन्य किसी कारण

से उस परीक्षा में नहीं बैठ सकते, वे अक्तूबर में परीक्षा देते हैं। परीक्षकों के घर उत्तर-पत्र नहीं भेजे जाते। परीक्षकों को परीक्षा-केन्द्र में आकर रहना होता है, और जब तक पर्चों की जाँच न कर लें तब तक वहीं रहना पड़ता है। परीक्षा के प्रथम दिन से १५ दिन के अन्दर-अन्दर परिणाम सुना देना ज़रूरी है, विद्यार्थियों को देर तक दुविधा में नहीं रखा जाता। मौखिक-परीक्षा में लिखित की अपेक्षा दुगुने अंक रखे जाते हैं, और उसे लिखित की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। पिछले तीन साल तक की शिक्षक की सम्मति को भी परीक्षक को ध्यान में रखना होता है। लिखित-परीक्षा में सदा दो परीक्षक नियत किए जाते हैं, दोनों की सम्मति से अंक दिये जाते हैं। लिखित-परीक्षा में प्रत्येक प्रश्न-पत्र में तीन प्रश्न पूछे जाते हैं, जिनमें से सिर्फ़ एक का उत्तर देना होता है। भाषा की परीक्षा में विद्यार्थी शब्द-कोष का प्रयोग कर सकते हैं।

इटली में परीक्षा-प्रणाली—

जर्मनी में शिक्षक ही अपनी श्रेणी के विद्यार्थियों की परीक्षा लेता है; फ्रांस में शिक्षक भी ले सकता है, बाहर का परीक्षक भी; इटली में वह अपने विद्यार्थियों की नहीं, परन्तु दूसरे विद्यार्थियों की अपने विषय में परीक्षा ले सकता है। उत्तर-पत्रों की जाँच परीक्षा-केन्द्रों में होती है, परीक्षकों के घरों पर नहीं, और एक सप्ताह या ज़्यादा-से-ज़्यादा दस दिन में परिमाण निकाल देना होता है। उत्तर-पत्रों की जाँच करते हुए अंक नहीं दिए जाते, परीक्षक अपनी सम्मति नोट करता है, और मौखिक-परीक्षा के समय इस सम्मति को भी ध्यान में रखा जाता है। मौखिक-परीक्षा का परिणाम तो उसी समय सूचित कर दिया जाता है। जो विद्यार्थी एक या दो विषयों में अनुत्तीर्ण होते

हैं उन्हें अक्तूबर की परीक्षा में बैठने का अवसर दिया जाता है! यूनिवर्सिटी में परीक्षा होती ही नहीं। साल भर बाद सब उपरली श्रेणी में चढ़ा दिये जाते हैं, किन्हीं-किन्हीं खास विषयों में परीक्षा देनी होती है जो वे यूनिवर्सिटी के अध्ययन-काल में, साल में जो दो बार परीक्षाएँ होती हैं, उनमें जब चाहें दे सकते हैं।

अमरीका में परीक्षा-प्रणाली—

अमरीका में परीक्षा को सर्वथा समाप्त कर दिया गया है। अमेरिकन विश्व-विद्यालयों में अन्तिम परीक्षा कोई होती ही नहीं। विद्यार्थी की योग्यता का माप 'प्रमाण-प्रथा' (Credit system) से किया जाता है। पहली श्रेणी से डाक्टर की उपाधि लेने तक विद्यार्थी अपने अध्यापकों से इस बात के 'प्रमाण' (Credit) लेता जाता है, जिन से सिद्ध हो कि वह पढ़ने में नियम-पूर्वक रहा है, ध्यान से पढ़ता रहा है, जो पाठ घर पर करने को दिया जाता रहा है उसे कर के लाता रहा है, पढ़ाते हुए जो प्रश्न पूछे गए उनका सन्तोष-जनक उत्तर देता रहा है। एक श्रेणी से दूसरी में जाने के लिए जितने 'प्रमाण' (Credits) आवश्यक हैं उतने इकट्ठे हो जाने पर वह चढ़ा दिया जाता है, इतने समय में ही ये 'प्रमाण' (Credit) एकत्रित हो सकते हैं, अधिक में नहीं—ऐसा कोई बन्धन नहीं है। विद्यार्थी कमाते भी हैं, और अध्यापकों से 'प्रमाण' (Credit) भी इकट्ठे करते रहते हैं, और इस प्रकार ऊँची-से-ऊँची उपाधि बिना परीक्षा दिये प्राप्त कर लेते हैं। ये 'प्रमाण' वे एक साल या दस साल जितने समय में सुविधानुसार प्राप्त कर सकें, प्राप्त करते हैं, और पढ़ाई के बीच में टूट जाने पर फिर उसे जारी कर सकते हैं। १९५४ से भारत में पेप्सु सरकार ने ६ से ११ वर्ष के बालकों के लिए यह परीक्षण शुरू किया है कि इन बच्चों

की परीक्षा न ली जाया करे और आयु तथा कक्षा के प्रतिदिन के कार्य के आधार पर उन्हें ऊपर चढ़ा दिया जाया करे। इस परीक्षण को और अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

नवीन परीक्षा-प्रणाली

परीक्षा-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिये जर्मनी, फ्रांस, इटली, अमरीका ने अपने-अपने देशों में जो प्रणालियाँ प्रचलित की हैं उनका उल्लेख हमने किया। इन प्रणालियों के अतिरिक्त इन सब देशों में एक नवीन प्रणाली चल निकली है जिसका प्रारम्भ श्रीयुत् बलार्ड ने किया।

श्रीयुत् बलार्ड का कथन है कि प्रचलित प्रणाली में विद्यार्थी के किसी विषय के ज्ञान की उतनी परीक्षा नहीं होती जितनी इस बात की परीक्षा होती है कि वह निबन्ध लिखने में कितना प्रवीण है। इसके अतिरिक्त परीक्षक यह नहीं कह सकता कि जिसे उसने १० में से ३ अंक दिए हैं उसे ४ या २ क्यों नहीं दिये, वह नाप-तोल कर अंक नहीं दे सकता, और इसीलिए एक ही उत्तर पर भिन्न-भिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अंक देते हैं। साथ ही बहुत से प्रश्न ऐसे होते हैं, जिनमें विद्यार्थी अटकल से काम लेते हैं, निशाना ठीक बैठ गया तो अंक मिल गये, नहीं बैठा तो रह गये। इन सब दोषों को दूर करने के लिए ही नवीन-परीक्षा-प्रणाली का चलन हुआ है।

इस प्रणाली में लगभग ३५ प्रकार के प्रश्न दिये जाते हैं जिनमें से ७-८ प्रकार प्रचलित हैं। इन प्रश्नों के प्रकार निम्न हैं :—

(१) साधारण-स्मृति के प्रश्न (Questions of Simple recall)

(२) पूरक-प्रश्न (Completion exercises)

(३) हां-ना, ठीक-ग़लत बताना (Yes-No, True-false)

(४) सम्बन्ध-द्योतक प्रश्न (Association tests)
(५) सर्वोत्तम उत्तर (Best answer)
(६) परिगणन प्रश्न (Enumeration tests)
(७) तर्क-सूचक प्रश्न (Reasoning tests)

'सत्याग्रह आन्दोलन के जन्मदाता का नाम है· · · · '। इस प्रश्न का उत्तर है, महात्मा गांधी। उत्तर में ५ अक्षर हैं, पाँच ही बिन्दु दे दिये हैं, जिससे विद्यार्थी समझ सके कि उत्तर ठीक है, या नहीं। इस प्रश्न से 'साधारण-स्मृति' के साथ-साथ विद्यार्थी के सामान्य-ज्ञान की भी परीक्षा हो जाती है। 'भारतवर्ष के प्रधान मन्त्री· · · · · ·ने लोक-सभा में· · ·दिया'—इस वाक्य को पूरा करना पूरक-प्रश्न कहाता है। देहरादून में जो वस्तुएं पैदा होती हैं उनमें से मुख्य चाय, लकड़ी, वजरी, चूना, लोहा, सोना, चाँदी हैं—इस वाक्य में ठीक-ग़लत पर 'हाँ'—'ना' लिखने को कहा जाता है। यह 'हाँ-ना-प्रश्न' कहाता है। एक तरफ़ माता, कलम, चचा शब्द लिखकर दूसरी तरफ़ भतीजा, दावात, पिता शब्द लिखे जाते हैं और विद्यार्थियों को इन्हें एक-दूसरे के सम्वन्ध में रखने को कहा जाता है। अगर वह माता के साथ पिता, दावात के साथ कलम और चचा के साथ भतीजा रखता है, तव ठीक, नहीं तो उत्तर अशुद्ध हो जाता है, यही 'सम्बन्ध-द्योतक' प्रश्न है। एक ही प्रश्न के जब कई उत्तर हो सकते हों, तो वे लिख दिये जाते हैं, उनमें से विद्यार्थी को जो सबसे अच्छा जंचे उस पर चिन्ह बनाने को कहा जाता है, यह 'सर्वोत्तम उत्तर'-सूचक प्रश्न है। 'भारत के उच्चकोटि के कौन-से चार नेता हैं, क्रम से लिखो'—यह पूछना 'परिगणन-सूचक' प्रश्न है। जिन प्रश्नों से विद्यार्थी की तर्क-शक्ति प्रकट हो वे 'तर्क-सूचक-प्रश्न' कहाते हैं।

इस प्रणाली में प्रश्न का उत्तर एक ही हो सकता है, दूसरा नहीं, संक्षिप्त 'हाँ-ना' में ही हो सकता है, विस्तार में नहीं, अतः इस में नाप-तोल कर अंक दिये जा सकते हैं। इस प्रणाली में स्मृति को परखने के लिए 'स्मृति' के, निबन्ध-लेखन को परखने के लिये 'परिगणन' के, तथा तर्क-शक्ति को परखने के लिये 'तर्क-सूचक-प्रश्न' रखे गये हैं। एक-एक मिनट में बालक बीसियों प्रश्नों के उत्तर दे सकता है, और उसकी योग्यता का ठीक अन्दाज़ हो सकता है। यह ठीक है कि इसमें परीक्षक को बहुत परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु परिश्रम करना तो उसका कर्त्तव्य ही है। इस प्रणाली को छोटे बच्चों, हाई-स्कूलों तथा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की परीक्षा के लिये भी प्रयुक्त किया जाता है।

भारत में वर्तमान प्रचलित परीक्षा-प्रणाली अत्यन्त दोष-पूर्ण है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस प्रगतिशील युग में किसी प्रणाली को सिर्फ़ इसलिये न चलते रहने दें, क्योंकि यह चली आ रही है। इस में जो परिवर्तन अभीष्ट हो उसे शीघ्र-से-शीघ्र करना चाहिये।

प्रश्न

१. भारत तथा इंग्लैंड में प्रचलित परीक्षा-प्रणाली के दोष क्या हैं ?

२. स्टार्च, इलियट तथा बलार्ड ने उक्त प्रकार की परीक्षा-प्रणाली पर क्या-क्या परीक्षण किये और उनसे क्या निष्कर्ष निकला ?

३. जर्मनी, फ्रांस, इटली तथा अमरीका की परीक्षा-प्रणालियों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं ?

४. नवीन परीक्षा-प्रणाली का उल्लेख करते हुए कुछ प्रश्न लिखिये जिन से ज्ञात हो सके कि नवीन परीक्षा-प्रणाली को आप समझते हैं।

२१

अनुशासन

(DISCIPLINE)

अनुशासन का अर्थ--

'शिष्य' को 'शिष्य' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसने 'अनुशासन' में रहना होता है, 'शिष्य' तथा 'अनुशासन' दोनों 'शास्' धातु से बने हैं जिसका अर्थ है--'नियन्त्रण'। अंग्रेजी में भी 'डिसाइपल' और 'डिसिप्लिन' एक ही भाव को प्रकट करते हैं। 'अनुशासन' का नमूना सेना में दिखाई देता है। जो व्यक्ति सेना में भर्ती होता है उसे अपनी इच्छा ताक में रख देनी होती है, आज्ञा-पालन ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है। सेना के 'अनुशासन' का अर्थ है, बिना ननु-नच किये, जो-कुछ कहा जाय उसे करते जाना। जो सिपाही सध जाते हैं उन्हें खन्दक में कूदने की आज्ञा दी जाय, तो वे जान की पर्वा नहीं करते, कूद जाते हैं, जो पर्वा करने लगते हैं, वे सधे हुए सिपाही नहीं कहे जाते। इसी प्रकार 'शिष्य' को इस प्रकार साध लेना कि माता-पिता, तथा गुरु जो आज्ञा दें उसे वह बिना ननु-नच के करे, यही 'अनुशासन' में, 'नियन्त्रण' में रहना है।

अनुशासन का उद्देश्य--

सेना का 'अनुशासन' किसी उद्देश्य से होता है। देश पर शत्रु आक्रमण करे, तो सिपाही का कर्त्तव्य है कि उसे जो आज्ञा दी जाय वैसा ही करे, इसी प्रकार देश की रक्षा हो सकती है।

शिष्य के लिए भी 'अनुशासन' का कोई उद्देश्य होना चाहिए। वह उद्देश्य क्या है?

इसमें कोई दो सम्मतियाँ नहीं हो सकतीं कि 'शिष्य' को 'अनुशासन' में रखने का उद्देश्य उसे उन गुणों को धारण करने योग्य बनाना है जिनसे वह आगामी जीवन में उत्तम नागरिक बन सके। देश की उन्नति के लिए आवश्यक है कि इसके नागरिक सच्चे हों, ईमानदार हों, एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करें, लड़ाई-झगड़ा न करें। मनुष्य का स्वभाव तो अपने 'स्वार्थ' की सिद्धि है। वह अपने को केन्द्र बना कर लड़ता-झगड़ता है, चोरी-लूट-मार करता है, सब-कुछ अपने पास जोड़ लेना चाहता है। उसे मनमानी करने को छोड़ दिया जाय, तो वह दूसरे के दृष्टिकोण को नहीं देखना चाहता। देश तथा समाज की उन्नति में घातक इन प्रवृत्तियों को रोक कर ठीक रास्ते पर लगा देना ही 'अनुशासन' कहाता है। मनुष्य केवल स्वार्थी ही नहीं है, साथ ही सामाजिक प्राणी भी है, इसलिए उसकी सामाजिक-भावना को आधार बनाकर उसे 'स्वार्थ' से 'निःस्वार्थ' की तरफ़ भी ले जाया जा सकता है। अगर उसे समाज में रहना है, इकले ही नहीं रहना, तो अपने को ही केन्द्र बनाकर चलने से काम नहीं चलेगा, इसलिए समाज में रहने की उसकी इच्छा को उत्तेजित कर उसे समाज-विरोधी मार्गों से हटाकर समाज के अनुकूल मार्गों पर चलाया जा सकता है। जिस उपाय से चलाया जा सकता है उसी को 'अनुशासन' कहते हैं।

दो प्रकार के अनुशासन—

'अनुशासन' दो प्रकार का है। 'सैनिक-अनुशासन' और 'स्वतंत्र-अनुशासन'। कोई समय था जब 'दण्डः शास्ति प्रजाः

सर्वाः' का बोलबाला था। डंडा दिखाओ तो कोई बोल नहीं सकता था। योरोप में 'लॉक'-नामक शिक्षा-शास्त्री हुए हैं। उनका कथन था कि डंडे के बिना बालकों को वश में नहीं रखा जा सकता। इस विचार के अनुयायी कहते थे कि बालक को जब कोई बात बार-बार कराई जाती है, अभ्यास से, वह उस का अंग बन जाती है। जैसे बार-बार के अभ्यास से शरीर की मांस-पेशियाँ पुष्ट होती हैं, वैसे ही बार-बार उन गुणों के अभ्यास कराने से जिन्हें हम बालक में डालना चाहते हैं वे गुण पुष्ट हो जाते हैं। अगर हम समझते हैं कि दूध पीना बालक के लिए हितकर है, तो वह चाहे-न-चाहे उसे ज़बर्दस्ती दूध पिलाना ही चाहिए, डंडे के ज़ोर से, डरा-धमका कर, हर तरह से पिलाना चाहिए। यही 'सैनिक-अनुशासन' (Military discipline) है। परन्तु मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से यह उपाय ठीक नहीं है। जब बालक को कोई भी काम डंडे के ज़ोर से कराया जाता है तब वह विद्रोह कर उठता है। यह बालक का ही नहीं, मनुष्य-मात्र का स्वभाव है, और इसी कारण समाज में क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। प्राचीन-काल में जब राजा का अखंड शासन था तब स्कूलों में भी 'सैनिक-शासन' को आधार बनाकर गुरु लोग शिष्यों पर 'अनुशासन' किया करते थे? जैसे राजा के एक-तंत्र शासन से क्रान्तियाँ हुईं और हो रही हैं, वैसे गुरु के कठोर 'अनुशासन' से शिष्यों में भी विद्रोह मचता था, और मच रहा है। इसी कारण 'अनुशासन' के सम्बन्ध में एक नवीन 'मनोवैज्ञानिक' विचार-धारा ने जन्म लिया है जिसे 'स्वतंत्र-अनुशासन' (Free discipline) कहा जाता है। युरुप में इसके सर्वप्रथम समर्थक 'किंडर गारटन'-पद्धति के प्रवर्तक फ्रोबेल हुए हैं। उनका कथन था कि बालक को एक आदमी, या भावी नागरिक समझकर

चलना बड़ी ग़लती है। 'बालक' तो बालक है, और बालक समझ कर ही उसकी शिक्षा होनी चाहिए। बालक खेलना चाहता है, दौड़-धूप करना चाहता है, स्वतंत्रता चाहता है। प्रकृति ने उसमें ये प्रवृत्तियाँ उसे बिगाड़ने के लिए नहीं, उसे बनाने के लिए रखी हैं। बालक को दबा कर नहीं, डरा-धमका कर नहीं, उसे स्वतंत्र छोड़ कर, खेलते-खेलते वे सब गुण सिखाये जा सकते हैं जिन्हें हम ज़बर्दस्ती सिखाना चाहते हैं, और सिखा नहीं पाते। 'स्वतंत्रता' और 'परतंत्रता' में यही तो भेद है। जिस काम को हम ज़बर्दस्ती सिखाना चाहते हैं उसमें बालक अपने को परतंत्र अनुभव करता है, इसलिए सीखने के स्थान में वह विद्रोह कर उठता है, जिसे उसकी इच्छा पर छोड़ देते हैं, परन्तु समझा देते हैं कि वह उसके लिए हितकर है, उसमें क्योंकि वह अपने को स्वतंत्र अनुभव करता है, इसलिए उसे सीख जाता है, विद्रोह नहीं करता।

'अनुशासन' पर विस्तृत तथा संकुचित—दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। विस्तृत-दृष्टि तो यह है कि हम बालक को समाज के लिए तय्यार कर रहे हैं, इसलिए समाज का सफल नागरिक होने के लिए जो गुण आवश्यक हैं उन्हें हम बालक को सिखाते हैं। इसका सबसे उत्तम उपाय तो यह है कि शिक्षक अपने आचरण से बालकों को सिखाये। जो शिक्षक स्वयं समय पर नहीं आता, स्वयं झूठ बोलता है, वह बालकों को समय पर आने और सत्य बोलने की शिक्षा दे, तो उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। विस्तृत-दृष्टि से तो बालक को अपने जीवन से ही प्रभावित किया जा सकता है, परन्तु शिक्षक का असली प्रश्न तो स्कूल का नियंत्रण है। यही संकुचित-दृष्टि से 'अनुशासन' का प्रश्न है। शिक्षक अपने स्कूल के संकुचित-क्षेत्र की दिन-दिन

और घड़ी-घड़ी की समस्याओं को कैसे हल करे ?

अनुशासन में शिक्षक का कर्त्तव्य—

स्कूल में 'अनुशासन' ठीक रखने के लिए शिक्षक को निम्न बातों पर ध्यान रखना चाहिए :—

(१) बालकों पर 'संकेत' (Suggestions) का बड़ा भारी प्रभाव होता है। बालक में 'संकेत' ग्रहण करने की असीम शक्ति होती है। अगर अध्यापक की भाव-भंगी से, उसकी हर बात से बालक पर यह प्रभाव पड़े कि उसे परिश्रम करना चाहिए, तो वह परिश्रमी हो जाता है, अगर बालक जो ज़रा-सा भी शरारत का इशारा मिल जाय तो वह झट-से शरारत करने लगता है। कई अध्यापकों के इशारों से कभी-कभी स्कूलों में हड़तालें हुआ करती हैं।

(२) निकम्मापन प्रायः शरारत का कारण हुआ करता है। जो बालक हर समय किसी उपयोगी काम में लगे रहते हैं उन्हें 'अनुशासन' भंग करने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। नियन्त्रण कायम रखने के लिए शिक्षक को चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी को किसी-न-किसी काम में लगाये रखे।

(३) नियन्त्रण ठीक रखने के लिए अध्यापक को अपने अन्दर 'मानसिक-स्थिरता' (Emotional·stability) धारण करनी चाहिए। अगर विद्यार्थी को पता हो कि ज़रा-सी बात से मास्टर साहब खुश हो जाते हैं, ज़रा-सी बात से नाराज़, तो लड़के ही मास्टर को बनाने लगते हैं। शिक्षक को झट-से, बिना बात के क्रोध में और बिना बात के ठहाका मार कर हंसते देखकर बालक को पता नहीं रहता कि वह किस पानी में है, शिक्षक उसके साथ न्याय कर रहा है, या अन्याय। जहाँ बालक पर यह प्रभाव पड़ा कि शिक्षक उसके साथ अन्याय कर रहा है, वहीं अनु-

शासन-भंग का बीज बोया गया।

(४) बालक पर जब यह प्रभाव पड़े कि अध्यापक अपना रोब जमाने के लिए कई बेकार आज्ञाएं देता है, तो वह भी जान-बूझ कर उन आज्ञाओं को भंग करने लगता है। आज्ञा दो, परन्तु साथ ही उस आज्ञा की सार्थकता को पूरी तरह से देख लो, उसमें कटुता मत आने दो, उसकी निरर्थकता सिद्ध हो जाय, तो उसे वापस ले लो।

(५) जैसा पहले कहा जा चुका है, कहने से करने का अधिक प्रभाव पड़ता है। कई अध्यापक अपने जीवन में हर नियम का उल्लंघन करते हैं, बालकों से किसी नियम का उल्लंघन होते देख कर आग-बबूला हो उठते हैं। ऐसे अध्यापक अपनी कमज़ोरी के कारण या तो बालकों को नियन्त्रण में रखते ही नहीं, रखने लगते हैं तो रख नहीं सकते, ज़बर्दस्ती करते हैं, तो विद्रोह खड़ा करा लेते हैं।

ऊपर जो बातें कही गई हैं उनका अधिकतर शिक्षक के साथ सम्बन्ध है। 'अनुशासन' के लिए कई ऐसी बातों पर ध्यान देना भी आवश्यक है जिनका विद्यार्थी के साथ सम्बन्ध है, और इन में सब से बड़ी बात 'अनुशासन में स्वतन्त्रता' (Free discipline) है।

स्कूल में 'स्वतंत्र-अनुशासन'—

यह युग 'जन-तन्त्र' का युग है, इसी भावना ने अनुशासन-प्रणाली में भी प्रवेश कर लिया है। जिस देश में नियम अधिक तोड़े जाते हैं उसका यही कारण होता है कि जनता उन नियमों को पसन्द नहीं करती। जिन नियमों के पीछे जनता की आवाज़ होती है उन्हें तोड़ने की हिम्मत भी किसी में नहीं होती। स्कूल में भी अगर विद्यार्थी अनुभव करें कि जो नियम चल रहे हैं उन्हीं

के अपने बनाये हुए हैं, तो वे उनका उल्लंघन नहीं करेंगे। अध्यापक का काम विद्यार्थियों के सामने सारी स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट रख देना है जिससे वे स्वयं उन नियमों को बनायें जिन्हें अध्यापक बनाकर उन पर थोपना चाहता है। यह ठीक है कि अब तक मुख्याध्यापक तथा अध्यापक ही नियम बनाते रहे हैं, इन नियमों को बनाने में उनकी योग्यता भी विद्यार्थियों से बहुत अधिक होती है, परन्तु अब जन-तंत्र के युग में यह अनुभव किया जाने लगा है कि विद्यार्थियों का स्कूल के शासन-प्रबन्ध में हाथ होने से अनुशासन का कार्य आसान हो जाता है।

छोटे बच्चों तथा अध्यापकों में तो ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है इसलिए वे तो अपना शासन स्वयं नहीं कर सकते, परन्तु बड़े बालकों तथा अध्यापकों में इतना भारी अन्तर नहीं होता, वे नियमों का महत्व समझ सकते हैं, अपना शासन भी अपने-आप कर सकते हैं, उन्हें ज़िम्मेदारी के काम भी दिये जा सकते हैं। जब बालकों के अपने कन्धों पर ज़िम्मेदारी आ पड़ती है तब अनुशासन में रहना वे स्वयं सीख जाते हैं, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों में आये-दिन का संघर्ष स्वयें दूर हो जाता है। विद्यार्थी अपना काक्षिक (Prefect) स्वयं चुनें, अपने शासन के नियम स्वयं बनायें, उन नियमों का जो उल्लंघन करे उसे स्वयं दंड दें—इस प्रकार 'अनुशासन' की समस्या को बहुत-कुछ हल किया जा सकता है।

अनुशासन के चार क्रम—

'अनुशासन' का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जो नियम बनाये जाते हैं उनका पालन किसी वाह्य-बन्धन के कारण न हो, आन्तरिक-प्रेरणा से हो। इसके बजाय कि माता-पिता या गुरु के कहने से बालक किसी काम को करे, अगर वह आन्तरिक-

प्रेरणा से उस काम को करेगा, तो उस काम में उसे स्वयं आंनन्द आयेगा। 'अनुशासन' बाहर का न रहे, अन्दर का होने लगे, इसके लिए 'अनुशासन' चार क्रमों में से गुज़रता है। वे क्रम निम्न हैं:—

(१) प्रकृति द्वारा निश्चित कार्य-कारण के सम्वन्ध के अनुभव से बालक का नियंत्रण।

(२) बड़ों द्वारा पुरस्कार तथा दंड का भय दिखाकर नियंत्रण।

(३) समाज द्वारा निन्दा तथा स्तुति के कारण नियंत्रण।

(४) आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव बन जाने के कारण नियंत्रण।

जब बालक छोटा ही होता है तव उसे यह अनुभव होने देना आवश्यक है कि अगर वह उल्टा काम करेगा तो प्रकृति ही उसे दंड दे देगी। इस अवस्था में वह अपने अनुभव से बहुत-कुछ सीख जाता है। हम सब बचपन में आग से खेलते-खेलते अपने अनुभव से जान चुके हैं कि आग से हाथ जल जायगा। रूसो और स्पेंसर का कथन था कि बालक को दंड नहीं देना चाहिए, दंड देने का काम प्रकृति पर छोड़ देना चाहिए, और दंड देना हो तो ऐसा देना चाहिए जिसमें कार्य-कारण का सम्वन्ध स्पष्ट दिखाई देता हो। हम देखते हैं कि आग से खेलने से हाथ जल जाता है, चाकू से खेलने से हाथ कट जाता है, कोई चीज़ खो जाय तो उसके खोये जाने का दुःख बना रहता है। स्कूल में भी अगर बालक देर में आये तो उसे स्कूल के बाद रोके रखना, अगर गन्दे कपड़े पहने तो स्कूल में ही कपड़े धुलवा कर श्रेणी में बैठने देना कार्य-कारण के सम्वन्ध को सामने रख कर 'अनुशासन' करना है। यह क्रम बचपन का है, स्कूल में जाने से पहले का है।

परन्तु बालक को प्रकृति के ऊपर ही नहीं छोड़ा जा सकता।

स्वयं परीक्षण करते-करते बालक अपने को नुकसान भी पहुँचा सकता है। उसे यह बताना आवश्यक है कि कौन-सी बात ठीक है, कौन-सी ग़लत। अगर वह कहे के अनुसार न करे, तो उसे 'दण्ड' देना आवश्यक हो जाता है, काम करने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए 'पुरस्कार' भी देना होता है। यह क्रम बचपन के बाद का है। इसके विषय में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

'अनुशासन' में तीसरा क्रम समाज द्वारा निन्दा तथा स्तुति का है। जब बालक दण्ड तथा पुरस्कार से ऊपर उठ जाता है तब वह नियमों का पालन करते हुए निन्दा तथा स्तुति को ध्यान में रखता है। स्कूल स्वयं एक समाज है। शिक्षक का कर्तव्य है कि स्कूल का मान-दण्ड इतना ऊँचा बनाये रखे जिससे कोई भी विद्यार्थी ऐसे काम को करता हुआ लज्जा अनुभव करे जो स्कूल के ऊँचे स्तर के प्रतिकूल हो, जिससे स्कूल की अप्रतिष्ठा होती हो, जिससे वह दूसरों की निन्दा का पात्र बने।

'अनुशासन' में सब से ऊँची अवस्था तब आती है जब बालक किसी दूसरे के कहने से नहीं, किसी दूसरे को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, अपने आत्मा के सन्तोष के लिए किसी नियम का उल्लंघन नहीं करता। यह अवस्था तब आती है जब बालक में 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' (Self-regarding sentiment) का निर्माण हो जाता है। इस अवस्था में 'अनुशासन' बाह्य नहीं रहता, आन्तरिक हो जाता है, माता-पिता, गुरुओं तथा बड़ों के सन्तोष के लिए नहीं होता, अन्तरात्मा के सन्तोष के लिए होता है। 'आत्म-सम्मान के स्थायी-भाव' को विस्तार में समझने के लिये हमारे लिखे ग्रन्थ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' का वह स्थल पढ़ें जिसमें इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

प्रश्न

१. 'अनुशासन' का क्या अर्थ तथा क्या उद्देश्य है ?

२. 'सैनिक' तथा 'स्वतन्त्र'-अनुशासन क्या है ?

३. स्कूल का अनुशासन ठीक रखने के लिए शिक्षक को किन बातों पर ध्यान देना चाहिए ?

४. जन-तन्त्र के इस युग में जन-तन्त्र की किस भावना के आधार पर स्कूलों में शासन-व्यवस्था ठीक रह सकती है ?

५. अनुशासन बाहर से थोपा न जाय, बालकों के भीतर से अनुशासन की भावना जागृत हो---इसके लिए कौन-सी चार बातों पर शिक्षक को ध्यान देना चाहिए ?

२२

दण्ड तथा पुरस्कार

(PUNISHMENT AND REWARD)

'अनुशासन' का 'दंड' तथा 'पुरस्कार' के साथ विशेष सम्बन्ध है, विशेषतया स्कूल के 'अनुशासन' के साथ। सब से अच्छा 'अनुशासन' तो यह है कि बालक किसी काम को इसलिए करें क्योंकि वह काम अच्छा है, उसके न करने या करने में 'दण्ड और पुरस्कार', 'निन्दा और स्तुति' को ध्यान में न रखें। परन्तु ऐसा होता नहीं है। 'दंड' वा 'निन्दा' के भय से बालक बुरे कामों से रुकें रहते हैं, 'पुरस्कार' वा 'स्तुति' की खुशी से अच्छे काम करते हैं। हम पहले 'दण्ड' और फिर 'पुरस्कार' पर विचार करेंगे।

१—दण्ड

दण्ड के उद्देश्य—

दंड के तीन उद्देश्य हो सकत हैं : 'बदला' (Retribution), 'सुधार' (Reformation) तथा 'प्रतिरोध' (Prevention)। जिस समय समाज अत्यन्त निचली अवस्था में था, जंगली था, उस समय बदला लेने की भावना से ही दंड दिया जाता था। आज भी फाँसी का दण्ड 'बदला' लेने के लिए ही दिया जाता है। दण्ड का असली उद्देश्य व्यक्ति का 'सुधार' तथा आगे से वह या दूसरा कोई वैसा अपराध न करे, इस प्रकार का 'प्रतिरोध' करना है। स्कूल में तो 'सुधार' तथा 'प्रतिरोध' ही दण्ड का

उद्देश्य हो सकता है, 'बदला' नहीं।

दण्ड की विशेषताएँ—

दण्ड कैसा हो, इस सम्बन्ध में अनेक विचार प्रकट किये गये हैं जिनमें से बेन्थम के विचार प्रामाणिक माने जाते हैं। बेन्थम ने दण्ड की विशेषताओं का वर्णन करते हुए समाज को ध्यान में रखा है, परन्तु स्कूल के सम्बन्ध में भी ये विचार वैसे ही ठीक हैं। वे विचार निम्न हैं :—

(१) दण्ड अपराध के 'अनुपात' में (Proportionate) होना चाहिए। किसी अपराध के लिए कोई निश्चित दण्ड नहीं होना चाहिए, परिस्थिति तथा अपराधी की मनोवृत्ति के अनुसार उसमें ऐसा परिवर्तन किया जा सकना चाहिए जिससे अपराध और दण्ड में अनुपात बना रहे। स्कूल में देर से आने पर एक रुपया जुर्माना होगा—इस निश्चित नियम बनाने का परिणाम यह होगा कि जो बालक किसी ऐसे काम से देर में आया है जिसे समझाने पर अध्यापक भी आवश्यक समझ जाता है, अगर तब भी उसे जुर्माना होगा तो विद्यार्थी को स्कूल के नियन्त्रण में अन्याय दीखेगा। जो बालक पश्चात्ताप कर रहा हो उसे भी नियमानुसार निश्चित दण्ड देना विचार-शून्य कार्य है। शारीरिक दण्ड, जुर्माना, झिड़कना आदि ऐसे दण्ड हैं जिन्हें परिस्थिति तथा व्यक्ति की मनोवृत्ति के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है, और इन का इसी प्रकार उपयोग भी करना चाहिए। थोड़ी-सी बात पर ज़मीन-आसमान एक कर देना शिक्षक की अयोग्यता का सूचक है।

(२) दण्ड अपराध के 'अनुरूप' (Characteristic to the fault) होना चाहिए। विद्यार्थी को समझ आ जाना चाहिये कि इस अपराध के लिए ऐसा ही दण्ड क्यों दिया

गया। देर में आने वाले को देर से जाने देना, मैले कपड़े वाले से स्कूल में ही कपड़े धुलवाना, 'अनुरूप' दण्ड हैं, देर में आने पर कान पकड़वाना, मैले कपड़े होने पर बेंत मारना 'प्रतिरूप' दंड हैं, ऐसे दंड हैं जिनका कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध बालक की समझ में नहीं आ सकता।

(३) दंड ऐसा होना चाहिये जिससे दूसरे भी वैसा अपराध करने से रुकें। वह उनके लिये 'उदाहरण-रूप' (Exemplary) हो। इस उद्देश्य से दंड सबके सामने देना चाहिए या नहीं, इस बात का निर्णय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न करना होगा।

(४) दंड ऐसा होना चाहिये जो अपराधी का 'सुधार' करने वाला (Reformative) हो, उसकी नीच वृत्तियों को दबाये और उच्च-वृत्तियों को उभारे। अपराधी को जितना ही विश्वास होता जायगा कि उसे बदले की भावना से दंड नहीं दिया जा रहा उतना ही वह सुधरता जायगा।

(५) दंड ऐसा होना चाहिये जिससे अपराधी ने जो 'क्षति' की है उसकी 'पूर्ति' करने वाला (Compensatory) हो।

(६) दंड 'सर्व-प्रिय' (Popular) हो, जिसे दूसरे भी ठीक कहें, ऐसा न हो जिससे सब विद्यार्थियों की सहानुभूति शिक्षक के साथ होने के स्थान में अपराधी के साथ हो जाय।

दण्ड के प्रकार—

इन दृष्टियों से विचार किया जाय, तो दंड को दो भागों में बाँटा जा सकता है—'मृदु' तथा 'कठोर'। एकान्त में या सब के सामने झिड़क देना, अपमानित करना, अंक काट देना, छुट्टी के समय रोक लेना, जुर्माना करना आदि 'मृदु' दंड हैं; मारना-पीटना 'कठोर' दंड हैं। सबसे अच्छा तो यह है कि दंड देने की

आवश्यकता ही न पड़े। जिस संस्था में जितना अधिक दंड दिया जाता है उसकी शासन-व्यवस्था उतनी ही निकम्मी है, परन्तु अगर दंड देने की आवश्यकता पड़े भी तो कम-से-कम, मृदु-से-मृदु, हल्के-से-हल्के दंड देना चाहिए, जव इनमें से किसी उपाय से काम न चले तभी कठोर दंड देना चाहिए। मृदु दंड के प्रकार ये हैं :—]

झिड़कना (Reproof)—अगर गुरु-शिष्य में प्रेम सम्बन्ध हो, तो गुरु का शिष्य को अपराध के लिए झिड़क-भर देना पर्याप्त होता है। कई अध्यापक ज़रा-सी बात पर झिड़कने लगते हैं, उन्हें इस बात का ज्ञान नहीं होता कि अपराध तथा दण्ड में 'अनुपात' होना चाहिए, ऐसा न हो कि छोटा-सा अपराध और बड़ा-सा दंड, एवं बड़ा-सा अपराध और छोटा-सा दंड हो। जहाँ आँख के इशारे से काम चल जाय, वहाँ झिड़कना भी उचित नहीं, बालक के स्वभाव को देखकर जहाँ सब के सामने झिड़कना आवश्यक हो वहाँ सबके सामने झिड़कने से चूकना भी उचित नहीं।

अपमानित करना (Disgrace)—कभी-कभी बालक को सबके सामने अपमानित करना आवश्यक हो जाता है। हरेक अपनी प्रतिष्ठा चाहता है, इसलिए बालक ऐसे कामों से बचना चाहता है जिनसे अपमान सहना पड़े। कोने में खड़ा करना, बेंच पर खड़ा कर देना ऐसे ही दंड हैं, परन्तु इन सबको देते हुए ध्यान रखना चाहिए कि बालक पर यह प्रभाव न पड़े कि अध्यापक उससे किसी प्रकार का बदला ले रहा है, उससे अन्याय कर रहा है, सीमा से अधिक दंड दे रहा है, या ऐसा दंड दे रहा है जिसे अपराध के साथ किसी प्रकार जोड़ा ही नहीं जा सकता।

अंक काट लेना (Loss of marks)—सदाचार आदि के सम्बन्ध में विद्यार्थी को साल के शुरू में ५० अंक दिये जा सकते

हैं, और ज्यों-ज्यों वह अपराध करता जाय त्यों-त्यों उसके अंक काटे जा सकते हैं। गुरुकुल काँगड़ी तथा कन्या गुरुकुल देहरादून में यह प्रथा है, और इसे 'व्रताभ्यास' कहा जाता है। 'व्रताभ्यास' के अंकों को माता-पिता के पास भेजना चाहिए जिससे वे भी शिक्षकों के साथ बालक को समझाने में सहयोग दे सकें।

छुट्टी के समय रोक लेना (Detention)—कई स्कूलों में अपराधों के दण्ड रूप में बालकों को छुट्टी के समय रोक कर उनसे कोई-सा भी काम कराया जाता है। एक लड़के ने दूसरे को मारा, उसे छुट्टी में रोक लिया और संस्कृत के दस वाक्य लिखने को कहा। मारने का और संस्कृत के वाक्य लिखने का कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह दण्ड अपराध के अनुरूप नहीं है। ऐसे दण्ड देने का परिणाम यह होता है कि जो काम उससे कराया जाता है उसके साथ उसके मन में घृणा का सम्बन्ध हो जाता है। दंड देने के लिये विद्यार्थी को रोक लेना अनुचित नहीं है, परन्तु उस समय उससे कोई ऐसा काम कराना चाहिए जिससे पढ़ाई से ही उसे घृणा न हो जाय।

जुर्माना (Fines)—अपराध के लिए जुर्माना करना बालकों को नहीं, माता-पिता को दण्ड देना है। जो जुर्माना दे सकते हैं वे जुर्माने की पर्वा नहीं करते। जुर्माना कम-से-कम करना चाहिए।

शारीरिक दंड (Corporal punishment)—ऊपर जिन दंडों का वर्णन किया गया है, वे 'मृदु' दण्ड हैं। मारना-पीटना 'कठोर' दंड हैं। कठोर दंड देते हुए भी यह देखना आवश्यक है कि दंड अपराध के 'अनुपात' में है या नहीं, दंड तथा अपराध एक-दूसरे के 'अनुरूप' हैं या नहीं, उनका 'कार्य-कारण' का सम्बन्ध जुड़ सकता है या नहीं, क्या दंड देने से दूसरों

के सामने ऐसा 'उदाहरण' उपस्थित हो जाता है जिससे उनमें से कोई वैसा अपराध न करे, क्या उससे अपराधी का 'सुधार' होता है, क्या ऐसा कठोर दंड तो नहीं दिया जा रहा है जिससे सब विद्यार्थियों की 'सहानुभूति' अपराधी के साथ ही हो जाय, वह विद्यार्थियों का 'हीरो' बन जाय।

शारीरिक दंड के विषय में दो विचार-धाराएँ काम कर रही हैं। कुछ लोगों का कथन है कि शारीरिक दंड बिल्कुल नहीं देना चाहिए, कुछ लोग कहते हैं कि इसके बिना कई लड़कों को सीधा रखा ही नहीं जा सकता। प्राय: बालक देखना चाहते हैं कि बिना ख़तरे के वे कहाँ तक शरारत में आगे बढ़ सकते हैं। ऐसे बालकों को जबतक यह न दिख जाय कि शरारत का मार्ग कठोर दंड का मार्ग है, तबतक वे शरारत में आगे-ही-आगे बढ़ते जाते हैं। हाँ, यह ठीक है कि शारीरिक दंड देते हुए अध्यापक को खूब सोच-समझ लेना चाहिए कि वह क्रोध में तो दंड नहीं दे रहा, बदले से तो दंड नहीं दे रहा, निस्संग-भाव से दंड दे रहा है। ऐसे ही गुरुग्रों के लिए कहा गया है, 'सामृतै: पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितै:'—गुरु जब मारते हैं तब अमृतमय हाथों से मारते हैं, विष-सने हाथों से नहीं।

२—पुरस्कार

दण्ड का आधार दु:ख है, पुरस्कार का आधार सुख है। दण्ड की तरह पुरस्कार की भी कई विशेषताएँ हैं, जो निम्न हैं :—

पुरस्कार की विशेषताएँ—

(१) पुरस्कार ऐसे होने चाहिएं जिनसे बालक का सम्पूर्ण चरित्र प्रभावित हो। भिन्न-भिन्न विषयों में प्रथम आने पर पुरस्कार देने की अपेक्षा सब विषयों में प्रथम आने वाले को पुरस्कार देना अधिक अच्छा है, इससे बालक का सीमित विकास

होने के स्थान में सर्वांगीण विकास होता है।

(२) पुरस्कार प्राप्त करना ही बालक का लक्ष्य नहीं हो जाना चाहिए। बचपन में बालक पुरस्कार के लिए मेहनत करे इसमें कोई दोष नहीं, परन्तु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाय, त्यों-त्यों पुरस्कार के बिना कार्य करने की आदत डालनी चाहिए, नहीं तो जब तक उसे कुछ लाभ नहीं दीखता वह काम करना नहीं चाहता, यह एक तरह की रिश्वत का रूप धारण कर लेता है।

(३) पुरस्कार दैनिक-जीवन की साधारण बातों पर ही देना चाहिए, जीवन के मूल-तत्वों पर नहीं। नियम-पालन, सफ़ाई, मेहनत, हरेक चीज़ को संभाल कर यथा-स्थान रखना आदि साधारण बातें हैं, इन पर पुरस्कार देना ठीक है, जीवन में भी इन बातों पर ध्यान देने से कुछ प्राप्ति ही होती है, परन्तु सत्य, ब्रह्मचर्य आदि जीवन के मूल-तत्व हैं, इन का पुरस्कार के साथ सम्बन्ध जोड़ देना ठीक नहीं, इन्हें तो बालक को बिना पुरस्कार के करना सीखना चाहिए। झूठ बोलने पर दण्ड देना ठीक है, परन्तु सत्य बोलने पर पुरस्कार देना ठीक नहीं, क्योंकि सत्य तो बिना पुरस्कार के ही बोलना चाहिए। बेईमानी करने पर दण्ड देना ठीक है, परन्तु ईमानदारी पर पुरस्कार देना ठीक नहीं, क्योंकि वैयक्तिक हानि भी हो जाय, ईमानदारी तो बरतनी ही चाहिए।

(४) जिन बालकों में जन्म-सिद्ध कई विशेष गुण हैं उनके लिए पुरस्कार देना अन्य बालकों को निरुत्साहित करना है। पुरस्कार न भी दिया जाय, तब भी, जिसमें जो गुण है वह तो है ही, फिर उस पर पुरस्कार देने का दूसरों को निरुत्साहित करने के अतिरिक्त कोई दूसरा असर नहीं हो सकता। अगर एक बालक ६ फ़ीट लम्बा है, और दूसरा ४ फ़ीट है, तो लम्बाई पर पुरस्कार

रखना ४ फ़ीट वाले को निरुत्साहित करने के सिवाय कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता क्योंकि जो ६ फ़ीट का है वह, पुरस्कार मिले न मिले, ६ फ़ीट का रहेगा ही।

पुरस्कार के प्रकार—

पुरस्कार दो प्रकार के होते हैं। या तो पुरस्कार के रूप में हम बालकों को पुस्तक, पेंसिल आदि 'चीज़ें' देते हैं, या उनकी 'प्रशंसा' करते हैं। इनाम में चीज़ें देने से बालकों का उत्साह बहुत बढ़ता है, यह ज़रूरी नहीं कि उस चीज़ का मूल्य बहुत अधिक ही हो। अस्ल में इनाम में कोई चीज़ मिल जाने से बालक अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ा हुआ पाता है, इसलिए मूलतः प्रशंसा ही सब से अच्छा पुरस्कार है। 'प्रशंसा' के रूप में शिक्षक के हाथ में एक ऐसा साधन है जिसका बालक को आगे बढ़ाने में वह बड़ा भारी उपयोग कर सकता है। जैसे झिड़क देने से बालक अपराध से रुक जाता है, वैसे प्रशंसा कर देने से उसकी शक्तियाँ तीव्र हो उठती हैं। शिक्षक का अन्तिम ध्येय यह होना चाहिए कि बालक किसी चीज़ को पाने या प्रशंसा के लिए, अर्थात् पुरस्कार के लिये कोई काम न करे, जो-कुछ करे अपना कर्तव्य समझ कर करे।

प्रश्न

१. दण्ड का क्या उद्देश्य है?
२. बेन्थम ने दण्ड की क्या विशेषताएँ कही हैं? वे स्कूल पर किस प्रकार लागू होती हैं?
३. 'मृदु' तथा 'कठोर' दण्ड कौन-कौन-से हैं? दोनों की व्याख्या कीजिये।
४. पुरस्कार के क्या-क्या प्रकार तथा विशेषताएँ हैं?

२३

पाठशाला, घर तथा समाज का सहयोग

(CO-OPERATION BETWEEN SCHOOL, HOME AND COMMUNITY)

अभी तक यही समझा जाता रहा है कि पाठशाला का घर तथा समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। बालक घर से पाठशाला में आता है—इसका यह अर्थ समझा जाता है कि वह घर और समाज की झंझटों से अलग एक बिल्कुल शान्त वातावरण में आकर विद्याभ्यास में लगने के लिए आता है। परन्तु यथार्थ-स्थिति तो ऐसी नहीं है। यथार्थ-स्थिति तो यह है कि पाठशाला में आने पर वह अपने घर और अपने समाज के सब संस्कारों और दिन-प्रति-दिन की समस्याओं को भी साथ ही लाता है। यह तो नहीं हो सकता कि घर से पाठशाला में आया, तो घर की समस्याओं को घर छोड़ आया, और पाठशाला से घर गया, तो पाठशाला की समस्याओं को पाठशाला में छोड़ता गया। प्राचीन-काल में जब ब्रह्मचारी घर और समाज को बिल्कुल छोड़ कर गुरु के पास दिन-रात रहने के लिए चला जाता था, तब बात दूसरी थी, परन्तु आज तो बालक का एक-चौथाई से भी कम समय पाठशाला में, और तीन-चौथाई से अधिक समय घर या समाज में बीतता है। ऐसी अवस्था में अध्यापक तथा पाठशाला की अपेक्षा बालक पर अधिक प्रभाव घर तथा समाज के संस्कारों का पड़ता है। यह स्थिति शिक्षक के लिए एक विषम

स्थिति है, क्योंकि वह बालक को जो-कुछ बनाना चाहता है, घर तथा समाज की परिस्थितियाँ उसे मेट देती हैं। इस समस्या का हल यही है कि शिक्षक बालक के माता-पिता से सम्पर्क स्थापित करे, और जहाँ तक हो सके घर तथा समाज की परिस्थितियों को बदलने में भी अपना हाथ बँटाये।

हमें यह समझ लेना होगा कि पाठशाला भी चारों तरफ़ के विशाल-समाज में एक छोटा-सा समाज है, और चारों तरफ़ के विशाल-समाज की धारणाओं, अच्छी-बुरी बातों का पाठशाला के वातावरण पर निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है। माता-पिता यह समझते हैं कि बालक तो स्कूल जाता है, अच्छा बन रहा है, तो स्कूल के कारण, बुरा बन रहा है, तो स्कूल के कारण। परन्तु ऐसी बात तो नहीं है। स्कूल तो बालक की दिन-रात की परिस्थिति का एक हिस्सा है, उसका बहुत-सा समय तो माता-पिता के साथ, अपने भाई-बहनों में, अपने घर में या दोस्त-मित्रों में—विशाल-समाज में—बीतता है, और अगर किसी स्कूल का वातावरण दूषित हो रहा है, तो हो सकता है कि उसका कारण स्कूल में न होकर घर में हो, या समाज में हो। अगर घर की परिस्थितियों में कोई बालक चोरी करना सीख गया है, तो स्कूल में भी वह चोरी करेगा, दूसरों को सिखा भी देगा। अगर घर में अपने हाथ से काम करने को वह छोटा काम, नौकर का काम समझता है, तो स्कूल में आकर हाथ के काम के प्रति वह अपनी धारणा तो वैसी ही बनाये रखेगा, अपने दूसरे साथियोंमें भी वह वैसी ही भावना का संचार कर देगा। जो बालक सिनेमा के शौकीन हो जाते हैं, गली-कूचे में आवारा फ़िल्मों से गन्दे गीत सुनते हैं, वे उन्हें याद करके स्कूल में अपने साथियों को भी सुनाते हैं। ऐसी अवस्था में बालकों के घरों और उनके समाज की

गन्दगी पाठशाला में चित्रित होने लगती है, और शिक्षक अपना सारा प्रयत्न लगाकर भी पाठशाला के वातावरण को स्वच्छ नहीं रख सकता।

इसका यह मतलब नहीं है कि इससे अध्यापक की ज़िम्मेवारी किसी कदर कम हो जाती है। इन सब कठिनाइयों को सोच कर अगर शिक्षक अपनी ज़िम्मेवारी से अपने को मुक्त समझने लगे, तो उसकी नासमझी है। माता-पिता अपने कामों में इतने उलझे रहते हैं कि वे बालकों की किसी समस्या की तरफ़ ध्यान नहीं दे पाते। इसके अतिरिक्त चारों तरफ़ का विशाल-समाज ऐसी चीज़ है जिसका निर्माण इक्के-दुक्के के बस की बात नहीं है। इन सब परिस्थितियों में अगर कोई व्यक्ति ऐसा है जिसका काम ही बालक के लिए शुद्ध-परिस्थिति उत्पन्न करना है, तो वह शिक्षक ही है। बालक की परिस्थिति को शुद्ध करने का काम शिक्षक को ही अपने हाथ में लेना होगा, और इस काम में उसे माता-पिता तथा समाज का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करना होगा।

शिक्षा-शास्त्रियों में बरसों से दो विचार-धारायें काम करती रही हैं। शिक्षक का काम क्या है ? क्या शिक्षक का काम विद्यार्थी में अपने चारों तरफ़ की परिस्थिति के अपने को अनुकूल बना लेने की सामर्थ्य उत्पन्न कर देना है, या उस परिस्थिति का अध्ययन करके, उससे ऊपर उठकर, अगर वह दूषित परिस्थिति है तो बालक को इस योग्य बना देना है कि वह अपने को परिस्थिति के अनुसार बदलने के स्थान में उस परिस्थिति को बदल दे ? क्या उसका काम बालक को इस योग्य बना देना है कि वह संसार में चल निकले, हर परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल ले, या इस योग्य बना देना है कि दूषित-परिस्थिति हो तो

उसका मुकाविला कर, अपने को उसके अनुसार बदलने की अपेक्षा उस परिस्थिति को वदले ? इन दोनों विचारों में से निस्सन्देह उच्च-विचार यही है कि मनुष्य दूषित-परिस्थिति के सामने झुके नहीं, उसे बदले।

यह काम शिक्षक के सिवाय कौन कर सकता है ? परन्तु इसे करने के लिए घर का और समाज का शिक्षक के साथ सहयोग अपेक्षित है। शिक्षक ने पाठशाला में एक ऐसी आदर्श-परिस्थिति उत्पन्न कर देनी है जो माता-पिता तथा समाज के लिये नमूने का काम दे, जिसे वह ऐसी आदर्श बना दे कि माता-पिता तथा समाज के अन्य व्यक्ति जब उसे देखें, तो बरवस उन्हें भी अपने घर और अपने समाज का नक्शा उसी तरह बनाने की प्रेरणा मिले।

यह सब तभी हो सकता है अगर अध्यापकों का तथा बालक-बालिकाओं के माता-पिताओं का जब-तब सम्पर्क होता रहे। केवल माता-पिताओं का ही नहीं, शहर के अन्य जो गण्य-मान्य व्यक्ति हैं उनके साथ भी पाठशाला का सम्पर्क बने रहना आवश्यक है। अध्यापक, माता-पिता, शहर के गिने-चुने व्यक्ति जब मिल कर बैठेंगे, एक-दूसरे की समस्याओं को समझेंगे, इस बात को समझेंगे कि पाठशाला केवल पाठशाला ही नहीं, एक प्रकार का घर है, एक प्रकार की समाज है, और घर तथा समाज सिर्फ़ घर तथा समाज ही नहीं, एक प्रकार की पाठशाला हैं, दोनों में जो भेद नजर आता है, वह तात्विक-भेद नहीं है, दोनों में हर समय आदान-प्रदान होता रहता है, एक को ठीक करने के लिए दूसरे को ठीक करना उतना ही आवश्यक है, तब पाठशालाओं की, घरों की और समाज की अनेक समस्यायें अपने-आप हल हो जायँगी।

इस दृष्टि से पाठशाला में एक आदर्श-समाज बनाने का प्रयत्न करना, ऐसा समाज जिसकी हम कल्पना करते हैं, और वैसा समाज बनाकर माता-पिता को और शहर के लोगों को उसकी झलक दिखाना, पाठशाला के उत्सव करना, उत्सवों में वह सब-कुछ कराना जो बालकों को घर में या समाज में करना चाहिए, समाज की दूषित बातों की कटु आलोचना करना, इन प्रसंगों में जो अभिभावक सम्मिलित हों उनको अपने विचार प्रकट करने का अवसर देना—ये सब ऐसे तरीके हैं जिनसे पाठशाला का प्रभाव घर पर और समाज पर पड़ सकता है, और घर तथा समाज के सुधार से पाठशाला का ख़ुद-ब-ख़ुद सुधार होने लगता है।

शिक्षक अपनी पाठशाला के क्षेत्र को इतना विस्तृत कर सकता है कि पाठशाला तथा समाज का कटाव अपने-आप दूर हो जाय। अनेक क्षेत्रों में पाठशालायें समाज की सेवा कर सकती हैं। प्रौढ़-शिक्षा का काम हरेक स्कूल कर सकता है। समाज की जो पेचीदा समस्यायें हैं उन्हें विद्यार्थी पाठशाला में रहते हुए समझने का और उन्हें हल करने का प्रयत्न कर सकते हैं। पाठशाला के बाहर, आस-पास अगर कोई गाँव हो तो वहाँ जाकर समाज-सेवा का कार्य प्रत्येक पाठशाला के छात्र कर सकते हैं। भारत-सेवक-समाज की देख-रेख में अनेक पाठशालायें इस प्रकार की समाज-सेवा का कार्य करने भी लगी हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार पाठशालायें बाह्य-जगत् का बिल्कुल नियन्त्रण नहीं कर सकतीं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार शहर के शिक्षकों, डाक्टर-वैद्यों, समाज-सुधारकों के सहयोग से, उनके सम्पर्क में आने से, पाठशालायें समाज से सम्पर्क स्थापित कर अपने चारों तरफ़ की परिस्थिति का बहुत-कुछ सुधार कर

सकती हैं, और परिस्थिति के सुधार से अपना भी सुधार कर सकती हैं।

पाठशाला का अपनी ही अलग-सी समस्याओं को खड़ा करके उनके सुलझाने में लग जाने का परिणाम है कि बालक पढ़-लिख कर जब समाज के नागरिक बनते हैं तब अपने को प्रतिदिन के व्यवहार की तथा आजीविका की ऐसी समस्याओं से घिरा पाते हैं जिनके हल करने के लिए उन्हें अबतक कोई शिक्षा नहीं मिली होती। उन्होंने किताबें रटी होती हैं, जीवन की किताब के पन्ने खोले भी नहीं होते। शिक्षा की इस अवस्था को बदल कर अमरीका में जॉन ड्यूई ने और भारत में महात्मा गाँधी ने शिक्षा के क्षेत्र में एक नये विचार को जन्म दिया। इन दोनों ने पाठशाला को विस्तृत-जीवन का अंग बनाकर जीवन की समस्याओं को पाठशाला में लाकर रख दिया और पाठशाला, घर तथा समाज के अलग-अलग होने के विचार को दूर कर दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर दिया। जॉन ड्यूई ने शिक्षा में 'योजना-पद्धति' तथा महात्मा गाँधी ने 'बुनियादी-शिक्षा' का चलन किया। इनका वर्णन हम पहले कर आये हैं। इन पद्धतियों में पाठशाला, घर तथा समाज में सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है जिससे पाठशाला की समस्याओं को घर तथा समाज हल करें, और घर तथा समाज की समस्याओं को पाठशाला हल करे।

प्रश्न

१. घर तथा समाज की समस्यायें भी शिक्षक की समस्यायें हैं—इस कथन को समझाइये।
२. शिक्षक माता-पिता तथा समाज का सहयोग कैसे प्राप्त करे ?
३. पाठशाला, घर तथा समाज के सहयोग की भावना 'योजना-पद्धति' तथा 'बुनियादी-तालिम' में पाई जाती है—इस विचार को स्पष्ट कीजिये।

२४

पाठशाला तथा स्वास्थ्य-रक्षा

(SCHOOL HYGIENE)

प्राय: शिक्षा का उद्देश्य बालक का मानसिक विकास करना समझा जाता है, शारीरिक नहीं। स्कूल में इतना पढ़ाया-लिखाया जाता है कि बालक का शरीर क्षीण होने लगता है। परन्तु सही शिक्षा का काम बालक के मन के साथ-साथ उसके शरीर का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना है। इस दृष्टि से शिक्षा-संचालकों के दो कर्तव्य हो जाते हैं। पहला तो 'पाठशाला' के स्थान, वायु, जल, नालियाँ, टट्टियाँ, स्नान-गृह, चवच्चे आदि का स्वास्थ्य-प्रद प्रबन्ध करना है, दूसरा 'बालक' के रहन-सहन, कपड़ा, सफ़ाई आदि का ध्यान रखना है; पहले में 'पाठशाला' की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न आ जाता है, दूसरे में 'बालक' की स्वास्थ्य-रक्षा का प्रश्न आ जाता है। हम इस अध्याय में 'पाठशाला' की स्वास्थ्य-रक्षा पर प्रकाश डालेंगे, अगले अध्याय में 'बालक' की स्वास्थ्य-रक्षा पर।

१—पाठशाला का स्थान तथा ज़मीन

पाठशाला का स्थान चुनते हुए अन्य बातों के साथ चारों तरफ़ की 'परिस्थिति' तथा 'ज़मीन' का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

स्थान अथवा परिस्थिति—

पाठशाला ऐसी जगह होनी चाहिए जहाँ भरपूर प्रकाश और

वायु आती हो, शोर, गर्द-धुआँ और दुर्गन्ध न आती हो, चारों तरफ़ हरियावल, बाग-बगीचे हों। 'पर्वतानामुपस्थे नदीनां च संगमे धियो विप्रा अजायत'—पर्वतों के निकट, नदियों के किनारे विद्याध्ययन करने में जो आनन्द आता है वैसा दूसरी जगह नहीं आता, वहीं धीमान् विप्र पैदा होते हैं। परिस्थिति के अतिरिक्त ज़मीन का ठीक-ठीक चुनाव बहुत आवश्यक है।

ज़मीन ठीक होनी चाहिए—

(१) ज़मीन के दो हिस्से होते हैं: उपरि-स्तर' (Surface soil) तथा 'अधःस्तर' (Subsoil)। 'उपरि-स्तर' में 'खनिज' (Inorganic) तथा 'ऐन्द्रियिक' (Organic) पदार्थ रहते हैं। 'ऐन्द्रियिक' पदार्थों में पशुओं की हड्डियाँ, वनस्पतियाँ आदि होती हैं, इसी कारण 'उपरि-स्तर' में 'कृमि' (Bacteria) रहते हैं। 'अधःस्तर' में केवल 'खनिज' (Inorganic) पदार्थ रहते हैं अतः उसमें 'कृमि' नहीं रहते। पाठशाला का भवन बनाते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'उपरि-स्तर' पर सब जगह रोड़ी कुटवा दी जाय ताकि किसी प्रकार के कृमियों का डर न रहे।

(२) 'उपरि-स्तर' भी दो तरह का हो सकता है—'छिद्र-युक्त' (Porous) तथा 'छिद्र-रहित' (Impervious)। वर्षा के समय 'छिद्र-युक्त' स्तर से पानी ज़मीन के भीतर रिस जाता है, और कृमियों तथा ज़मीन की कार्बन आदि को 'अधः-स्तर' (Subsoil) में भी पहुँचा देता है। जब गर्मी के कारण ज़मीन से भाप उठती है तब उसके साथ-साथ नीचे पहुँची ये बीमारियाँ—कृमि तथा कार्बन—भी उभर आती हैं, अतः ज़मीन 'छिद्र-युक्त' (Porous) न होकर 'छिद्र-रहित' (Impervious) होनी चाहिए।

(३) 'छिद्र-युक्त' ज़मीन से जो पानी नीचे को रिसता है वह 'छिद्र-रहित' स्तर के आ जाने पर और अधिक नीचे नहीं जा सकता, यह 'भू-जल' (Ground water) कहाता है। किसी भी जगह के कूए को देख कर पता लगा सकते हैं कि वहाँ का 'भू-जल' कितनी दूर पर है। स्वास्थ्य-प्रद भूमि के लिए आवश्यक है कि वहाँ का 'भू-जल' पृथिवी के 'उपरि-स्तर' से कम-से-कम १० फ़ीट नीचे हो, इससे ऊपर नहीं।

(४) जिस प्रकार पृथिवी के नीचे जल है, इसी प्रकार भूमि में वायु भी रली-मिली रहती है। 'छिद्र-युक्त' (Porous) भूमि में ५० प्रतिशत वायु का मिश्रण रहता है। इस वायु को 'भू-वायु' (Ground air) कहते हैं। 'भू-वायु' में २ से ८ प्रतिशत तक 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' रहता है, इसमें 'ऑक्सीजन' साधारण वायु से बहुत कम रहता है, 'छिद्र-युक्त' होने के कारण इसमें 'उपरि-स्तर' के 'ऐन्द्रियिक' (Organic) पदार्थ पहुंचते रहते हैं, उनके साथ-साथ 'कृमि' (Bacteria) भी 'उपरि-स्तर' से 'निम्न-स्तर' में जाते रहते हैं। जब ज़मीन के जल की सतह बहुत बड़ी होती है, या गर्मी आदि के कारण वायु फैलती है, तब यह 'भू-वायु' ऊपर उठ आती है, और 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' को फैलाकर अनेक बीमारियों को पैदा कर देती है। इसलिए भी ऐसी ज़मीन का चुनाव करना चाहिए जो 'छिद्र-युक्त' न हो, और जहाँ पानी बहुत नीचे हो।

२—वायु का स्वतंत्र गमनागमन

वायु का जीवन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है अतः यह देखना आवश्यक है कि बालकों को शुद्ध वायु मिलती है, या नहीं। शुद्ध वायु में निम्न अंश होते हैं :—

नाइट्रोजन ७९ प्रतिशत

ऑक्सीजन २०·०६

कार्बन डाई-ऑक्साइड ·०४

स्कूल में बैठे हुए बालकों के फेफड़ों से जो वायु वाहर निकलती है उसमें निम्न अंश होते हैं :—

नाइट्रोजन ७९ प्रतिशत

ऑक्सीजन १६ प्रतिशत

कार्बन डाई-ऑक्साइड ४·४ प्रतिशत

वाष्प आदि अंश ·६ प्रतिशत

इस प्रकार हमने देखा कि शुद्ध वायु में और स्कूल की वायु में वड़ा भेद है। शुद्ध वायु में ·०४ प्रतिशत 'कार्बन डाई ऑक्साइड' होती है, स्कूल की वायु में ४·४ प्रतिशत; शुद्ध वायु में २०·०६ प्रतिशत 'आक्सीजन' होती है, स्कूल की वायु में १६ प्रतिशत; शुद्ध वायु में फेफड़े से निकले दुर्गन्ध-युक्त अन्य पदार्थ नहीं होते, स्कूल की वायु में होते हैं—तात्पर्य यह है कि स्कूल की वायु में कार्बन अधिक तथा ऑक्सीजन कम होती है। इसके अतिरिक्त फेफड़ों से जो वायु निकलती है उसमें जल का अंश भी रहता है। यह जलीय-अंश स्कूल की हवा में फैल जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि शरीर का पसीना उतना नहीं सूख पाता जितना तब सूखता अगर वायु-मण्डल में जलीय-अंश न होता। शुद्ध वायु तथा स्कूल की वायु में सब से वड़ा भेद 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' का है, यही तो जीवन के लिए हानिकारक है। यह देखा गया है कि १०० घन फ़ुट शुद्ध वायु में ·०२ घन फ़ुट 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' और मिला दी जाय तो उसका स्वास्थ पर बहुत अधिक बुरा असर नहीं होता। इस दृष्टि से स्कूल की वायु में साधारण अवस्था की अपेक्षा ज़्यादा-से-ज़्यादा १०० घन फ़ुट जगह में ·०२ घन फ़ुट 'कार्बन डाई-ऑक्साइड' सहन की

जा सकती है, अधिक नहीं। यह देखा गया है कि एक बालक एक घंटे में ·४ घन फ़ुट 'कार्बन डाईं-ऑक्साइड' पैदा करता है। ·०२ घन फ़ुट 'कार्बन' सहन करने के लिए १०० घन फ़ुट शुद्ध वायु की आवश्यकता है, तो ·४ घन फ़ुट 'कार्बन' सहन करने के लिए २००० घन फ़ुट शुद्ध वायु की आवश्यकता होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्कूल में एक घंटे में एक बालक को शुद्ध हवा देने का प्रवन्ध करना हो, तो उसे २०००घन फ़ुट हवा मिलनी चाहिए। अगर स्कूल के कमरे में एक वालक के लिए १०० घन फ़ुट जगह मानी जाय, अर्थात् छत से लेकर फ़र्श तक जितना क्षेत्र-फल कमरे का वने उसमें से प्रत्येक वालक के हिस्से १०० घन फ़ुट जगह आये, तो एक घंटे में २० वार हवा को वदलना चाहिए ताकि वालक को (१००×२०) अर्थात् २००० घन फ़ुट शुद्ध हवा मिल सके। शुद्ध हवा न मिलने से वालक थक जाते हैं, उन्हें सिर दर्द होने लगता है, हृदय पर असर होता है, पढ़ाई ठीक-से नहीं कर पाते। इसीलिए खुली हवा में, वृक्षों के नीचे पढ़ाना सबसे अच्छा है। अगर कमरों में ही पढ़ाना हो तो कमरे हवादार होने चाहियें, और दो-दो तीन-तीन घंटे के बाद सब छात्रों को कमरे से वाहर निकाल देना चाहिए ताकि शुद्ध हवा प्रवेश कर सके। दरवाज़े और खिड़कियाँ खोलकर रखने चाहियें। मकान बनाते हुए इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि अशुद्ध हवा के निकलने और शुद्ध हवा के आने के लिए पर्याप्त रोशनदान और खिड़कियाँ हों। जैसा अभी कहा गया था, एक बालक को एक घंटे में कम-से-कम २००० घन फ़ुट शुद्ध हवा मिलनी चाहिए। अगर माना जाय कि हवा १ सेकण्ड में ५ फ़ुट की गति से चलती है, तो एक बालक के लिए १६ वर्ग इञ्च रोशनदान तथा खिड़कियाँ चाहियें, तव उसे २००० घन

फ़ुट शुद्ध हवा मिल सकेगी। अगर एक श्रेणी में ४८ विद्यार्थी हों, तो प्रत्येक को २००० घन फ़ुट हवा देने के लिए ५ वर्ग फ़ीट रोशनदान तथा खिड़कियाँ चाहियें।

३--जल-प्रबन्ध तथा नालियाँ

बालकों को वड़े आदमियों की अपेक्षा अधिक जल की आवश्यकता रहती है, अतः जल का पूरा प्रवन्ध होना चाहिए। अगर जल को भर कर रखा जाय, तो जिस बर्तन में रखा जाय उसे खोल कर देख सकना चाहिए। जहाँ थोड़ा खोदने से ही पानी निकल आता है वहाँ जल की समय-समय पर परीक्षा कर लेनी चाहिए कि कहीं उसमें भूमि के 'उपरि स्तर' से कृमियों का प्रवेश तो नहीं हो गया। अगर बालक कूए का पानी पीते हैं, और दीर्घावकाश में कुए का पानी निकलता नहीं रहा, तो स्कूल खुलने से पहले कुआ साफ़ करा लेना चाहिए। छात्रावासों में पानी का इतना प्रबन्ध होना चाहिए जिससे छात्र अच्छी तरह स्नान कर सकें, वर्तन माँज सकें, और आवश्यकता पड़ने पर कपड़े भी धो सकें। इस प्रकार जो पानी वह निकले उसे नालियों द्वारा वगीचे में पहुंचाना चाहिए, कीचड़ नहीं होने देना चाहिए। मकानों के लिए जैसी नालियाँ बनती हैं वैसी स्कूल में भी वननी चाहिएँ, पानी को कहीं इकट्ठे नहीं होने देना चाहिए। खुली नालियों की सफ़ाई आसानी से हो जाती है, परन्तु अगर वन्द नालियाँ हों, तो उन्हें ठीक-से बनवाना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें खोला भी जा सके।

४--टट्टियाँ, मूत्रालय आदि

प्रायः समझा जाता है कि टट्टी, मूत्रालय, चवच्चे तो गन्दगी के लिए ही हैं, इन्हें साफ़ रखने की आवश्यकता नहीं। किसी अच्छे मुख्याध्यापक की परख ही यह है कि उसके प्रबन्ध में

टट्टियों, मूत्रालयों, नालियों तथा चबच्चों की क्या अवस्था है। इन्हीं से मच्छर, मक्खी तथा तरह-तरह के कृमि उत्पन्न होते हैं। फ़िनाइल आदि का भरपूर प्रयोग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सारे स्कूल की प्रतिदिन सफ़ाई होनी चाहिए, शीशों पर गन्द जम जाने से प्रकाश नहीं आता, उन्हें साफ़ रखना चाहिए, दीवारों पर जाले नहीं लगने देने चाहिएं, झाड़ देते हुए दरवाज़े, खिड़कियाँ खुली रखनी चाहिएं, नहीं तो सारा गर्द फिर वहीं आ बैठता है।

प्रश्न

१. पाठशाला की परिस्थिति तथा भूमि चुनते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए ?
२. शुद्ध वायु का ध्यान रखते हुए स्कूल के कमरों में प्रत्येक विद्यार्थी को कितना स्थान मिलना चाहिये और एक विद्यार्थी की दृष्टि से स्कूल में रोशनदान, खिड़कियाँ आदि के रूप में कितना खुलापन होना चाहिये ?
३. पर्याप्त मात्रा में खिड़की, दरवाज़े आदि न होने से विद्यार्थियों के स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
४. जल-प्रबन्ध, टट्टियों तथा मूत्रालयों का पाठशाला में कैसा प्रबन्ध होना चाहिये ?

२५

छात्र तथा स्वास्थ्य-रक्षा

(PERSONAL HYGIENE)

छात्रों के स्वास्थ्य पर ध्यान देते हुए उनके वस्त्र, भोजन, दाँत, सिर और पेट की सफ़ाई, ठीक साँस लेना, निद्रा आदि पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। हम इनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे :—

१—वस्त्र

शरीर का तापमान ९८·४ डिग्री है। यह वाहर की हवा से ज़्यादा है। इतना ताप रहने से शरीर ठीक-से काम करता है। परन्तु शरीर में ज़रूरत से ज़्यादा ताप इकट्ठा न हो जाय इसलिए त्वचा, श्वास-प्रश्वास और मल-मूत्र से ताप निकलता भी रहता है। श्वास-प्रश्वास और मल-मूत्र से निकलने वाले ताप का तो हम नियन्त्रण नहीं कर सकते, त्वचा द्वारा निकलने वाले ताप का नियन्त्रण कर सकते हैं, और इसीलिए वस्त्रों का उपयोग किया जाता है। ताप का यह नियम है कि वह जहाँ अधिक हो वहाँ से कम ताप वाली वस्तु में चला जाता है; शरीर का ताप क्योंकि वाहर की वायु से अधिक होता है अतः शरीर से हर समय ताप वायु में जाता रहता है। यह ताप ज़रूरत से कम न हो जाय इसके लिए वस्त्रों की आवश्यकता है। कभी-कभी वस्त्र ताप को इतना अधिक रोक सकते हैं कि शरीर में गर्मी वहुत बढ़ जाय, इसलिए वहुत अधिक वस्त्रों का धारण करना भी हानिकर है। वस्त्र दो प्रकार का हो सकता है। 'वाहक'

(Conductor) और 'अवाहक' (Non-conductor)। सर्दियों में ऊन आदि ताप के 'अवाहक' वस्त्र धारण करने चाहियें, गर्मियों में सूत आदि ताप के 'वाहक'। इसके अतिरिक्त वस्त्र हल्का होना चाहिए। उसका सारा बोझ कन्धे पर पड़ना चाहिए, कमर में इस प्रकार कस कर नहीं बाँधा जाना चाहिए जिससे शरीर के भीतरी अङ्गों पर ज़ोर पड़े, खुला होना चाहिए, बहुत तङ्ग नहीं होना चाहिए, बरसाती की तरह बिल्कुल छिद्र-हीन नहीं होना चाहिए। सिर पर टोपी, जुराबों के गारटर, गले में कालर, पैर के जूते कभी-कभी वहाँ के रुधिर के स्वतन्त्र आने-जाने को रोकते हैं, अतः इनका संभल कर प्रयोग करना चाहिए। कई बालकों के वस्त्रों से पसीने की बदबू आती रहती है। उन्हें झट-से धो डालना चाहिए। रात के कपड़े अलग होने चाहिएँ, दिन के अलग। कपड़े फटे नहीं रहने चाहियें। शिक्षक का कर्त्तव्य है कि इन सब बातों की तरफ़ ध्यान देता रहे, क्योंकि स्कूल में जो आदतें वे सीख जायेंगे, वे जीवन-भर साथ बनी रहेंगी।

२—भोजन

हम पहले देख चुके हैं कि शरीर से हर समय गर्मी उत्पन्न होती और ख़र्च हो रही होती है। हमारी जो गर्मी ख़र्च हो रही है, इसे मापा गया है। जैसे लम्बाई नापने के लिए १ इञ्च का पैमाना है, वैसे ख़र्च हो रही गर्मी नापने की इकाई को 'कैलोरी' (Calorie) कहते हैं। छोटे बालकों के शरीर से प्रतिदिन १६०० और बड़े बालकों के शरीर से २५०० 'कैलोरी' ख़र्च होती है। अतः बालकों को इतना भोजन मिल जाना चाहिए जिससे छोटों को १६०० और बड़ों को २५०० 'कैलोरी' मिल जाय। भिन्न-भिन्न भोजनों में भिन्न-भिन्न 'कैलोरी' उत्पन्न

करने की शक्ति है। १ पौं० दूध में ३०३, १ पौं० जई में १८८६, १ पौं० चावल में १६४९, और १ पौं० पनीर में २०११ 'कैलोरी' होती हैं। भोजन का समय-विभाग बनाते हुए प्रत्येक बालक को कितनी 'कैलोरी' चाहिए, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त खाद्य-पदार्थों को 'प्रोटीन', 'फ़ैट', 'शुगर', और 'स्टार्च'—इन चार भागों में बाँटा गया है। भोजन में प्रोटीन की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए। शरीर में जो टूट-फूट होती रहती है, उसे प्रोटीन से ही पूरा किया जा सकता है। एक युवक को ५० ग्राम प्रोटीन मिलनी ही चाहिए। मटर में प्रोटीन २२˙६३ प्रतिशत, पनीर में १५˙४ प्रतिशत है। हमारे भोजन में 'शुगर' और 'स्टार्च' ही ज़्यादा होता है, 'प्रोटीन' और 'फ़ैट' कम होती है, इस तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिए।

भोजन में एक और तत्व माना जाता है, जिसे 'विटेमिन' कहा जाता है। वैसे तो कई 'विटेमिन' हैं, परन्तु ४ मुख्य हैं। इन्हें विटेमिन 'ए'-'बी'-'सी'-'डी' कहा जाता है। 'विटेमिन ए' का काम शारीरिक वृद्धि है। यह न हो तो शरीर रोगों का मुक़ाबिला नहीं कर सकता, ताक़त की कमी अनुभव होने लगती है। कॉड लिवर आयल, दूध, घी आदि में 'विटेमिन ए' होता है, परन्तु तलने से और अधिक गर्म करने से यह जाता रहता है। 'विटेमिन बी' का काम शरीर को सन्तुलित बनाये रखना है, मस्तिष्क को शक्ति पहुँचाना है। मटर, गेहूँ के छिलके आदि में यह पर्याप्त पाया जाता है। 'विटेमिन सी' सन्तरे, नारंगी, नींबू में पाया जाता है, इसकी कमी से मसूड़े फूल आते हैं। 'विटेमिन डी' की कमी से हड्डियाँ कमज़ोर हो जाती हैं, दूध, दही, मक्खन में यह पाया जाता है। भोजन के सम्बन्ध में इस

बात का ध्यान रखना चाहिए कि बालक को अपनी आयु के अनुसार पूरा भोजन और सब प्रकार के 'विटेमिन' मिलते रहें। मिठाई, चटनी, चाट, अचार, मिर्च, मसाले, चाय, काफ़ी की आदत बालकों को डाल देना ठीक नहीं।

३—दाँत

दाँत दो तरह के होते हैं—दूध के दाँत और पक्के दाँत। छः मास की अवस्था में दूध के दाँत निकलने शुरू होते हैं, सात-आठ-वर्ष की अवस्था में उनके स्थान पर पक्के दाँत आने लगते हैं। पक्के दाँतों की संख्या ३२ होती है। मसूड़े तक दाँत की सफ़ेदी को 'इनमैल' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु नहीं होते, इनमैल के नीचे भीतरी हिस्से को 'डेन्टाइन' कहते हैं, इसमें ज्ञान-तन्तु रहते हैं। 'इनमैल' सख्त होता है, 'डेन्टाइन' कोमल होता है।

मुख का रस 'अल्कली' होता है, परन्तु अगर मुख में भोजन के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहें तो सड़ कर 'अम्ल' उत्पन्न कर देते हैं। यही अम्ल 'इनमैल' को खा जाता है, और इसे दाँतों में कीड़ा लगना, या 'केरीज़' कहा जाता है। 'इनमैल' के नष्ट हो जाने पर भीतर का 'डेन्टाइन' बाहर आ जाता है, खाते समय 'डेन्टाइन' के ज्ञान-तन्तुओं को, स्पर्श से, मीठा आदि लगने लगता है। भोजन के टुकड़ों के सड़ने सं उत्पन्न हुए 'अम्ल' को रोकने के लिए 'सोडा बाई-कार्ब' या 'बोरैक्स' का किसी 'एन्टी-सेप्टिक' के साथ प्रयोग करने से मुख शुद्ध रहता है, दाँत ख़राव नहीं होते। दूध के दाँतों को भी मंजन से साफ़ करना आवश्यक है, क्योंकि सड़े हुए दाँत के बाद सड़ा हुआ दाँत निकलने की सम्भावना रहती है। नीम की दातुन अच्छी है, इससे मुख का स्वाद भी ठीक बना रहता है। प्रातः उठने के बाद और सोने से पहले दाँत साफ़ कर लेना अच्छा है। बच्चों

के दाँतों की तरफ़ बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है क्योंकि दाँत के दर्द को ठीक करने की अपेक्षा दर्द न होने देना अधिक बुद्धिमत्ता है।

४––सिर की सफ़ाई

वैसे तो सभी अंगों की सफ़ाई आवश्यक है, परन्तु बच्चों के सिर की सफ़ाई का प्रश्न बहुत विकट है। लड़कियों और लड़कों के सिर जूंओं से भरे रहते हैं। एक जूं की आयु तीन-चार सप्ताह तक की है, और इस अरसे में वह सौ अण्डे दे देती है जिन्हें लीख कहते हैं। एक से दूसरे तक पहुँचने में इन्हें देर नहीं लगती। बालक खुजा-खुजा कर तंग हो जाते हैं। जिस बालक के जूँएँ पायी जाँय, उसे अन्य बालकों से पृथक् कर देना चाहिए और रात को सोने से पहले साबुन से सिर धोकर सिर में अच्छी तरह से 'पैरेफ़ीन ऑयल' मल देना चाहिए। दो-तीन रात लगातार साबुन से सिर धोकर 'पैरेफ़ीन ऑयल' लगाने से जूँएँ मर जाती हैं, और पतली कंघी फेरने से लीख निकल जाती हैं। कभी-कभी गन्दे कपड़े रखने से 'कपड़े की जूँ' पैदा हो जाती हैं। इनका इलाज ऐसे कपड़ों पर इस्त्री करा देना है। इस्त्री की गर्मी से वे मर जाती हैं। जब तक किसी बालक के सिर या कपड़ों में जूँएँ हों तब तक उसे दूसरों के साथ नहीं मिलने देना चाहिए।

५––पेट की सफ़ाई

दाँत ठीक न होने से पाचन-शक्ति पर बुरा प्रभाव पड़ता है, दाँतों का काम पेट को करना पड़ता है। पाचन ठीक न होने से पेट साफ़ नहीं होता, और बालक को कब्ज़ की शिकायत रहती है। ठीक समय पर पेट का साफ़ होना अत्यन्त आवश्यक है। गन्दी और सड़ी हुई हवा से बीमारी होती है, इसे सब कोई जानते हैं, परन्तु पेट में जो गन्दी और सड़ी हवा जमा रहती है उसकी तरफ़

हमारा ध्यान नहीं जाता। प्रातःकाल ठीक समय पर प्रतिदिन शौच जाने से उसी समय शौच जाने का अभ्यास हो जाता है, और आयु-पर्यन्त यह अभ्यास स्वास्थ्य को ठीक बनाये रखता है, औषधियों की आवश्यकता नहीं रहती। पेट में कृमि हों, तो बालक सोते हुए दाँत किटकिटाता है, उसके पेट में एकदम दर्द हो उठता है, कभी-कभी मृगी आने लगती है, ऐसे समय डाक्टर को दिखाकर फ़ौरन इलाज कराना चाहिये।

६—साँस ठीक-से लेना

नाक का काम साँस लेना है, परन्तु कई बालक मुख से साँस लेते हैं। मुख से साँस लेने का कारण आदत भी हो सकती है, परन्तु प्रायः इसका कारण नाक का रुक जाना है। नाक रुकने के अनेक कारण हैं। सर्दी लग जाना, नाक की झिल्ली का मोटा पड़ जाना, नाक में बटन, इकन्नी आदि का फँस जाना तथा 'ऐडेनायड' से बच्चे मुख से साँस लेने लगते हैं। 'ऐडेनायड' नाक की भीतरी सतह पर, जहाँ नाक मुँह में खुलती है, मोटे-मोटे दानों के पैदा हो जाने का नाम है। प्राणायाम से 'ऐडेनायड' ठीक हो जाते हैं, बहुत बढ़ जाँय तो इनका आपरेशन करा देना अच्छा है। अध्यापक को चाहिए कि जो बालक मुख से साँस लेते हैं उनका ध्यान रक्खे।

फेफड़ों से हम शुद्ध हवा लेते हैं। फेफड़ों द्वारा ही हवा की ऑक्सीजन रुधिर में मिलती और कार्बन गैस बाहर निकलती है। साधारणतया हमारा साँस फेफड़ों के ऊपर-ऊपर ही रहता है, फेफड़ों की गहराई तक नहीं पहुँचता, इसलिए सारे फेफड़े में 'ऑक्सीजन' नहीं पहुँच पाती। गहरा साँस लेने से पूरे फेफड़े में 'ऑक्सीजन' पहुँच जाती है।

७—नींद

बालक की नींद कम करना उसका भोजन कम कर देने के समान है। ६ वर्ष से कम के बालक को १३ घण्टे सोना चाहिए, ७ वर्ष के बालक को १२½ घण्टे, ८ वर्ष के बालक को १२ घण्टे, इस प्रकार १९ वर्ष तक आध-आध घण्टे कम करते हुए १९ वर्ष के व्यक्ति को ९ घण्टे सोना चाहिए। कई लोगों का विचार है कि मानसिक कार्य की थकावट को शारीरिक परिश्रम से दूर किया जा सकता है। यह ग़लत धारणा है। मानसिक तथा शारीरिक थकावट—दोनों थकावटें हैं, और थकावट की दूरी नींद से, विश्राम से होती है। प्रायः देखा गया है कि कम नींद लेने पर बालक लिखने-पढ़ने में ज़्यादा अशुद्धियाँ करता है, वही बालक नींद ले लेने पर कम अशुद्धियाँ करता है। बालकों की वृद्धि का अधिक भाग नींद लेते समय होता है, अतः नींद में कमी नहीं आने देनी चाहिए। छोटे बालकों का स्कूल के समय भी सोने का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके बजाय कि बालक सब अन्तरों में सोते रहें, या ऊँघते रहें, किसी एक निश्चित समय पर आध घण्टे के लिए सुला दिये जाँय, तो उनमें नव-जीवन आ जाता है। दीर्घावकाश का महत्व यही है कि उसमें अत्यन्त परिश्रम कर लेने के बाद बालकों को आराम करने का समय मिल जाता है। हमारे बालकों को जितना मानसिक परिश्रम करना पड़ता है, उसके साथ दीर्घावकाश न हो तो कई बालकों का स्वास्थ्य बिल्कुल गिर जाय। दीर्घावकाश के समय को साल भर में बाँट देना अधिक उपयोगी है।

प्रश्न

१. 'वाहक' तथा 'अवाहक' का ध्यान रखते हुए छात्रों के वस्त्रों की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए ?

२. बालक के भोजन में कितनी 'कैलोरी' चाहिए ? किस-किस भोजन कितनी-कितनी 'कैलोरी' है ?
३. 'विटामिन' के विषय में आप क्या जानते हैं ?
४. दांत में 'केरीज' क्यों हो जाता है ? इसे कैसे दूर करें ?
५. सिर और कपड़े की जूं का क्या इलाज है ?
६. कई बालक सोते समय दांत क्यों किटकिटाते हैं ?
७. बालक मुख से क्यों सांस लेते हैं ?
८. नींद का मानसिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव है ?

२६

शारीरिक विकार—कारण और निदान

(BODILY DEFORMITIES—CAUSES AND REMEDIES)

विद्यार्थी के शारीरिक विकारों के सम्बन्ध में शिक्षक को जितना पता हो सकता है उतना दूसरे किसी को नहीं। माता-पिता के सामने तो बालक डट कर नहीं बैठता। शिक्षक के सामने दिनों, महीनों, बरसों बालक को डटकर बैठना पड़ता है इसलिए वह आसानी से जान सकता है कि उसके शरीर में कोई विकार है या नहीं। इसलिए प्रत्येक शिक्षक के लिए स्वास्थ्य के नियमों का जानना आवश्यक है। बालक के शरीर में जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं उनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

१—उठने-बैठने के दोष (POSTURES)

बालक भिन्न-भिन्न ढंगों से बैठते, खड़े होते हैं। ग़लत तरीक़े से बैठने और खड़े होने से शरीर के कई अंग विकृत हो जाते हैं, रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो जाती है, आँखों पर ज़ोर पड़ने से वे कमज़ोर हो जाती हैं। क्योंकि बालक को अधिक समय पाठशाला में बैठे-बैठे विताना होता है अतः उसके अंगों के विकृत हो जाने की अधिक ज़िम्मेदारी शिक्षक पर आ पड़ती है। प्रायः चार अवस्थाओं में बैठने आदि की आवश्यकता पड़ती है अतः इन चारों के समय बालक के शरीर के ढंग पर ध्यान देना चाहिए, वे समय हैं—(१) गुरु से सुनते समय, (२) स्वयं पढ़ते हुए बैठना,

(३) लिखते समय बैठना तथा (४) खड़ा होते हुए अंगों का समतोलन। हम इन चारों पर कुछ-कुछ विचार करेंगे :—

गुरु के सुनते समय बैठने का ढंग—

गुरु से विद्या ग्रहण करते समय बालक को सुनना होता है। उस समय सबसे अच्छा बैठने का तरीक़ा यह है कि कटि-प्रदेश के नीचे का भाग कुर्सी पर सम रूप से टिका हुआ हो, और रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। ज्यादातर बैठने में रीढ़ की हड्डी पर ही ज़ोर पड़ता है अतः उसी पर ध्यान देना आवश्यक है। सीधा बैठने में रीढ़ की हड्डी में चार घुमाव पड़ते हैं। गले के पीछे घुमाव अंदर को होता है, कन्धों के पास आकर बाहर को, वहाँ से पेट के पीछे की तरफ़ अन्दर को, और फिर बाहर को। बालक जब ग़लत तरीक़े से बैठता है तब पेट के पीछे का घुमाव अन्दर की तरफ़ होने के बजाय बाहर की तरफ़ आ जाता है। बार-बार इस स्थिति में आने से कमर झुकने लगती है। बालक को सीधा बैठना चाहिए ताकि रीढ़ की हड्डी झुकने न पाये। सीधा भी देर तक वह नहीं बैठ सकता इसलिए पीठ के पीछे ऐसा सहारा होना चाहिए जो उसे ठीक स्थिति में बैठने में सहायता पहुँचाये।

स्वयं पढ़ते समय बैठने का ढंग—

पढ़ते समय भी सीधा बैठना चाहिये, पुस्तक आँख से १२ इंच दूर रखनी चाहिये, नज़दीक रखने से नज़र छोटी हो जाती है, ज़रूरत से ज़्यादा दूर तो बालक स्वयं ही नहीं रखता। पुस्तक को न तो आँख के बिल्कुल नीचे ही रखना चाहिए, न सिर सीधा करके बिल्कुल उसकी सीध में, आँख से ४५ अंश के कोण में पुस्तक रख कर पढ़ना चाहिये। प्रकाश बायें कन्धे के ऊपर से पुस्तक पर पड़ना चाहिये, आँख पर नहीं पड़ना चाहिए। बालक कभी-कभी बहुत आगे झुककर पढ़ने लगते हैं। आगे झुकने से

छाती संकुचित हो जाती है, बोझ पेट पर आ पड़ता है, हृदय पर दवाव पड़ता है, ऐसे बैठने से बालकों को रोकना चाहिये।

लिखते समय बैठने का ढंग—

बालक की रीढ़ की हड्डी पर सबसे अधिक बुरा प्रभाव लिखते समय ग़लत बैठने का पड़ता है। लिखने से रीढ़ की हड्डी पर ज़ोर पड़ने से वह दाईं तरफ़ झुक जाती है। दायीं तरफ़ इसलिए झुक जाती है क्योंकि बालक दायें हाथ से लिखता है, और लिखते समय दायीं तरफ़ ही वह अधिक झुकता है इसलिए ज़ोर पड़ने से रीढ़ का दाँयाँ हिस्सा उभर आता है। लिखते समय बालक मानो शरीर की माँस-पेशियों से कुश्ती कर रहा होता है। किसी बालक को लिखत समय देखने से स्पष्ट हो जायगा कि वह सिर से लेकर पैर तक सब अंगों का प्रयोग करता है, कभी भौं तानता है, कभी दायें को होता है, कभी बायें को होता है, कभी पलथी बदलता है, कभी पेंसिल को ऊपर से, कभी नीचे से दबाता है। इसका यह अभिप्राय है कि जितना हम समझते हैं लिखना बालक के लिए उतना साधारण काम नहीं है, और इस असाधारण प्रक्रिया को सीखते-सीखते बालक के अंग विकृत हो जाने की संभावना उत्पन्न हो जाती है। अगर हम ध्यान रखें कि शुरू में बालक (१) लिखना किस प्रकार सीख रहा है, (२) किस प्रकार पेंसिल आदि को पकड़ता है, (३) बायें हाथ का प्रयोग करता है या नहीं, (४) लिखते समय कैसे बैठता है, तो लिखने से उत्पन्न होने वाले अनेक दोषों को दूर किया जा सकता है।

लिखना सीखने के प्रकार पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि शुरू-शुरू में एक साल तक छोटे अक्षर नहीं सिखाने चाहियें। पहले-पहल रंगीन चाक के कृष्ण-पट पर भिन्न-भिन्न, बड़ी-बड़ी, गोल, अर्ध-गोल, सीधी, टेढ़ी लकीरें लगाने का

अभ्यास कराना चाहिए। इसके बाद दो इंच बड़े अक्षर लिखने का अभ्यास कराना चाहिए। क्योंकि यह सब खड़े-खड़े होगा अतः किसी विशेष अंग पर ज़ोर नहीं पड़ेगा। तीसरे वर्ष पेंसिल और अंत में कलम हाथ में देनी चाहिए। लिखने के ढंग पर शिक्षा-शास्त्रियों का कथन है कि अक्षर सीधे लिखने का अभ्यास कराना चाहिए, टेढ़े नहीं। टेढ़े अक्षर लिखने में एक तरफ़ झुकना पड़ता है जिस से शरीर का दबाव एक तरफ़ पड़ने से रीढ़ की हड्डी के झुक जाने का भय है। पेंसिल आदि इस प्रकार पकड़ना चाहिए जिससे हथेली दीखती रहे, हाथ को कागज़ पर बिल्कुल उल्टा करके नहीं लिखना चाहिए। बायें हाथ के प्रयोग न करने से सारा बोझ दायें हाथ पर, और दायें हाथ से शरीर के दायें भाग पर पड़ता रहता है। इसे दूर करने के लिए बायें हाथ से कागज़ को पकड़े रहना, उसे लिखते समय आवश्यकतानुसार ऊपर करते रहना ठीक है। कभी-कभी बायें हाथ से लिखने का भी अभ्यास कराना चाहिए, इससे शरीर को लाभ पहुँचता है। लिखते हुए बैठते समय कागज़ बालक के बिल्कुल सामने रखना चाहिए। कइ वार काग़ज़ को दूर एक तरफ़ रख कर बालक लिखने लगते हैं। लिखते समय पैर ज़मीन पर सम रूप से टिकाये रखना चाहिए। किसी एक तरफ़ ज़ोर नहीं पड़ना चाहिए।

खड़े होते समय अंगों का सम-तोलन—

खड़े होने में सबसे अच्छा तरीक़ा तो यह है कि दोनों एड़ियाँ एक-दूसरे से ज़रा दूर, परन्तु आमने-सामने रहें, और शरीर का सारा बोझ दोनों टाँगों पर बराबर पड़े, छाती उभरी रहे, सिर सीधा, ठोड़ी ज़रा आगे को रहे। परन्तु इस स्थिति में भी बालक देर तक नहीं रह सकता। इस स्थिति को बदलना हो, तो एक

टाँग कुछ आगे रखकर दूसरी टाँग पर बोझ डाल देना चाहिए, और इस प्रकार टाँग को आगे-पीछे बदलते रहना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि सब अंगों पर उनकी शक्ति के अनुसार समान बोझ पड़े, और अगर किसी अंग पर देर तक बोझ पड़ता रहे, तो उसे आराम का समय भी मिल जाय। इसी को 'योग-दर्शन' ने 'तत्र स्थिर-सुखं आसनम्' कहा है—जिसमें आराम मिले वही आसन है, वही बैठने-उठने का ठीक तरीक़ा है।

२—आंखों के दोष

मनोविज्ञान को जानने वाले इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान इन्द्रियों के मार्ग से हम तक पहुँचता है। इन्द्रियों में भी आँख तथा कान का हमारे ज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। अगर हम वस्तु को ठीक-से देख नहीं सकते या शब्द को ठीक-से सुन नहीं सकते, तो ज्ञान में कमी रह जाना स्वाभाविक है। अनेक बालकों का विकास आँख अथवा कान की कमज़ोरी के कारण रुक जाता है। कई बालक वास्तव में हीन-बुद्धि के नहीं होते, अपितु आँख-कान की शिकायत के कारण वे पछड़ रहे होते हैं, और शिक्षक समझता है कि उनकी बुद्धि का दोष है। शिक्षक को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए कि कहीं आँख-कान के दोष से तो बालक पढ़ाई में पीछे नहीं रह रहा। आँख के मुख्य दोष निम्न हैं:—

लघु दृष्टि (Myopia or Short-sightedness)—

आँख की रचना का अध्ययन प्रत्येक शिक्षक को कर लेना चाहिए। इस अध्ययन से उसे मालूम हो जायगा कि आँख के गोलक के भीतर एक ताल (Lens) है जिस पर बाहर की वस्तु की प्रतिमा पड़ती है। जैसे फ़ोटो के कैमरा के भीतर एक

प्लेट रहती है, जिस पर फ़ोटो की परछाँही पड़ती है, इसी प्रकार इस ताल में से गुज़र कर बाहर की प्रतिमा आँख की प्लेट पर पड़ती है। इस प्लेट को 'दृष्टि-पटल' (Retina) कहते हैं। अगर ताल में से गुज़रने पर प्रतिमा ठीक दृष्टि-पटल पर पड़े, तब तो सब-कुछ ठीक दीखता है। अगर प्रतिमा इस दृष्टि-पटल पर न पड़कर आगे या पीछे पड़े, तो वस्तु धुंधली नज़र आती है। प्रतिमा पीछे पड़े, तो ऐसी ऐनक लगानी पड़ती है जो प्रतिमा को आगे लाकर ठीक दृष्टि-पटल पर डाले, प्रतिमा आगे पड़े, तो ऐसी ऐनक लगानी पड़ती है जो प्रतिमा को पीछे ले जाकर ठीक दृष्टि-पटल पर डाल दे।

जिन की आँख की 'कनीनिका' (Cornea) या आंख का 'ताल' (Lens) 'उन्नतोदर' (Convex) हो जाते हैं, उनकी आँख में बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' (Retina) पर न पड़ कर, पहले पड़ जाती है। प्रतिमा को 'दृष्टि-पटल' तक पहुँचाने के लिए पुस्तक आदि को आँख के बहुत पास लाना पड़ता है। इसीको 'लघु-दृष्टि' (Myopia) कहा जाता है। लघु-दृष्टि वाला बालक पुस्तक को आँख के बहुत निकट लाकर पढ़ता है। बोर्ड पर लिखा हुआ उसे कुछ दीख नहीं पड़ता। जब उसे दीखता ही ठीक नहीं, तो वह पढ़ेगा क्या? उसकी आँख ठीक करने के लिए 'अवनतोदर-ताल' (Concave Lens) की ऐनक बनवाना ज़रूरी हो जाता है जो किसी योग्य चिकित्सक से परीक्षा कराकर लेने से आँख ठीक-से देखने लगती है। स्कूलों में पढ़नेवाले बालकों को आँख से बहुत काम लेना पड़ता है, उन्हें प्रकाश आदि की पूरी सुविधा मिलती नहीं, आँख पर बोझ पड़ने से इन बच्चों की लघु-दृष्टि हो जाती है। लघु-दृष्टि वालों को आँख पर बहुत बोझ नहीं डालना चाहिए, सूक्ष्म-वस्तुओं पर देर तक आँखें

नहीं गड़ानी चाहिएं, न ही बहुत बारीक टाइप की पुस्तक को पढ़ना चाहिए। पढ़ते हुए पुस्तक को १० इञ्च की दूरी पर रखना चाहिए।

दीर्घ-दृष्टि (Hypermetropia or Long-sightedness)—

जैसे आँख का ताल 'उन्नतोदर' (Convex) होने से वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' पर पहुँचने से पहले पड़ जाती है, वैसे आँख का ताल 'अवनतोदर' (Concave) होने से बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' से आगे निकल जाती है। उसे पीछे से खींच कर आगे 'दृष्टि-पटल' पर लाने का तरीका यह है कि 'उन्नतोदर-ताल' (Convex Lens) की ऐनक लगाई जाय। बालकों की दृष्टि प्रायः 'लघु-दृष्टि' होती है, 'दीर्घ-दृष्टि' नहीं। 'दीर्घ-दृष्टि' वाला पास की चीज़ को ठीक-से नहीं देख सकता, दूर की चीज़ को ठीक-से देख लेता है। उसे बोर्ड पर लिखा सब दीखेगा, पास रखी पुस्तक को वह ठीक-से नहीं पढ़ सकेगा। यह दोष प्रायः बुढ़ापे में प्रकट होता है।

विषम-दृष्टि (Astigmatism Retina)—

लघु-दृष्टि तथा दीर्घ-दृष्टि में बाह्य-वस्तु की प्रतिमा 'दृष्टि-पटल' (Retina) से आगे या पीछे जहाँ भी पड़ती है वहाँ तो स्पष्ट ही होती है, प्रश्न सिर्फ़ उसे आगे-पीछे ले जाकर 'दृष्टि-पटल' पर डालने का होता है। परन्तु कभी-कभी प्रतिमा जहाँ पड़ती है वहाँ भी अस्पष्ट होती है, कुछ किरणें ठीक अपने केन्द्र पर पड़ रही होती हैं, कुछ नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि देखनेवाले को वस्तु का जितना हिस्सा भी दीखता है, वह भी एक-सा नहीं दीखता। इस दोष को 'विषम-दृष्टि' कहा जाता है। इसके लिए ऐनक का लेन्स भी विषम बनाना पड़ता है। यह विकार बहुधा बालकों में पाया जाता है, और इसके

कारण प्रायः उन्हें सिरदर्द, थकावट आदि अनुभव होती है।

रंगों को न पहचानना (Colour blindness)—

कई वच्चों को कई रंग नहीं दीखते। किसी को लाल नहीं दीखता, किसी को हरा। लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा यह रोग अधिक पाया जाता है। कोई बालक रंग के प्रति अन्धा है या नहीं—यह परीक्षा करने पर ही पता लगता है। जबतक परीक्षा नहीं होती तब तक न इस बात का पता शिक्षक को होता है, न बालक को। यह रोग दूर नहीं किया जा सकता।

३—कानों के दोष

आँख के विकार की तरह कान का विकार भी वालक के विकास में वाधक है। अगर अध्यापक लोग अपने बालकों की परीक्षा करेंगे तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि कितने ही वालक इस रोग के शिकार होते हैं। कइयों को एक कान से, कइयों को दोनों कानों से या तो बहुत कम सुनता है, या सुनाई ही नहीं देता। छान-बीन से पता चला है कि २० प्रतिशत के लगभग वालकों को थोड़ा-बहुत बहरापन होता है। जिस वालक को कम सुनाई देता है उससे आप सीधे बात करें, तो उसे सब-कुछ सुनाई देगा, परन्तु स्कूल में जो सब-कुछ चल रहा है उसमें से उसके पल्ले बहुत कम पड़ता है क्योंकि सीधा उससे तो कोई बात नहीं करता। ऐसे बालकों का भाषा-ज्ञान भी दूसरों से कम रहता है क्योंकि उनकी ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से उन्हें बहुत कम भोजन मिलता है। वहरे प्रायः गूंगे भी पाये जाते हैं—इसका यह कारण नहीं कि उनकी ज़बान ठीक नहीं, परन्तु इसका यह कारण होता है कि कान के द्वारा उनके पास कुछ पहुँचा ही नहीं होता जिसे वे बोल सकें। कर्ण-रोगी बालकों का पढ़ाई में ध्यान नहीं लगता, वे जल्दी थक जाते हैं, चिड़चिड़े स्वभाव के

हो जाते हैं, उनका विकास भी रुक जाता है। इस सब का कारण यही है कि उनके पल्ले वहुत कम पड़ता है।

४—नाक के दोष

नाक की भीतरी सतह पर जहाँ नाक मुंह में खुलती है, मोटे-मोटे दानों के पैदा हो जाने का नाम 'ऐडेनॉयड' (Adanoids) होता है। इन दानों से नाक का रास्ता बन्द हो जाता है, और वालक मुंह से साँस लेने लगता है। कभी-कभी 'ऐडेनॉयड' के कारण बालक वहरे भी हो जाते हैं। ऐसे वच्चों का चेहरा देखते ही भान हो जाता है कि इनको यह तकलीफ़ है। मुंह खुला हुआ, नाक पिचकी हुई, तेजहीन मूढ़ता-पूर्ण चेहरा हो जाता है 'ऐडेनॉयड' वाले बच्चों का। साधारण स्वास्थ्य गिर जाता है, छाती चपटी हो जाती है, उसमें पूरी हवा नहीं जा पाती। ऐसे वच्चों का शारीरिक तथा मानसिक विकास रुक जाता है। अध्यापक लोग कारण की खोज किये बगैर ऐसे वच्चों को नाहक सज़ा दिया करते हैं। ऐसे वच्चों के 'ऐडेनॉयड' का किसी योग्य चिकित्सक से ऑपरेशन करा देने के वाद उनकी प्रगति शीघ्र होने लगती है।

५—वाणी के दोष

कई बालकों को वाणी-सम्बन्धी दोष होते हैं। वाणी-सम्वन्धी दोषों के चार कारण कहे जाते हैं—

पहला कारण शब्दों के उच्चारण से सम्वन्ध रखता है। कई वच्चे वोलते-बोलते कुछ अक्षर मुंह में खा जाते हैं, कई नाक से बोलते हैं, कई स को फ बोलते हैं। ये कारण 'शब्दोच्चारण' से सम्बन्ध रखते हैं, अतः इन्हें 'उच्चारण-सम्बन्धी' (Articulatory) कहा जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। वालक को ठीक ढंग से

बोलना सिखाने से और उसे बार-बार शुद्ध उच्चारण का अभ्यास कराने से यह दोष जाता रहता है।

दूसरा कारण शारीरिक-विकार से सम्बन्ध रखने के कारण 'शारीरिक' (Organic) कहाता है। किसी बच्चे की जीभ छोटी है, किसी की ज़रूरत से कुछ बड़ी है। किसी की जीभ का वह हिस्सा जो जबड़े में नीचे से जुड़ा होता है, कम कटा होता है। कइयों के तालु में छेद होता है। इन भिन्न-भिन्न मुख-सम्बन्धी विकारों के कारण स, द, ट, ल को तो कोई ब, क, द, ग को और कोई अन्य किसी अक्षर को ठीक-से नहीं बोल सकता। अगर शारीरिक-विकार ऐसा है जो दूर किया जा सकता है तब तो ऐसे बालकों का दोष छूट सकता है, अन्यथा नहीं।

तीसरा कारण स्नायु-सम्बन्धी होने के कारण 'स्नायवीय' (Neurological) कहाता है। उदाहरणार्थ, कई बालक जो बाँयें हाथ का ही उपयोग करते हैं जब कभी दाँयें हाथ का इस्तेमाल करने के लिए बाधित हो जायँ, तो उनके बोलने में दोष आ जाता है। बोलने के ज्ञान-केन्द्रों में कोई दोष आ जाय तब भी बालक ठीक-से नहीं बोल सकता।

चौथा कारण मानसिक होने के कारण 'मनोजन्य' (Psychogenic) कहाता है। उदाहरणार्थ, कभी-कभी लड़ाई के दिनों में जब कभी हवाई हमला हो जाय या पास ही कहीं बम का धमाका हो, तो बोलती बन्द हो जाती है। इसमें स्नायु-तन्तु ठीक रहते हैं, परन्तु हिस्टीरिया की-सी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जो मानसिक-चिकित्सक द्वारा ठीक की जा सकती है। 'तोतलाना' (Stammering) प्रायः किसी आभ्यन्तरिक मानसिक क्षोभ के कारण प्रारंभ होता है। बहुधा देखा जाता है कि क्रोध में मनुष्य तोतलाने लगता है। यह ठीक है कि तोतलायेगा

वही जिसका स्नायवीय-गठन दोष-युक्त हो, इसलिए तुतलाने का स्नायुओं तथा मानसिक-क्षोभ—इन दोनों के साथ सम्बन्ध है। तोतलाने वाला अगर धीरे-धीरे बोले और बोलते हुए मुंह में एक छोटा-सा पत्थर रख ले, तो इस दोष में कमी आ जाती है, इस से कभी-कभी यह दोष जाता रहता है।

प्रश्न

१. लिखने-पढ़ने में रीढ़ की हड्डी पर ज़ोर न पड़े इसके लिए बैठने का क्या तरीका है?
२. लघु-दृष्टि, दीर्घ-दृष्टि, विषम-दृष्टि और रंगों का न पहचानना क्या है? इससे बालक को क्या हानि होती है? इनका क्या इलाज है?
३. बहरापन बालक के मानसिक-विकास को कैसे रोकता है?
४. एडेनॉयड क्या होते हैं? इनका क्या इलाज है? एडेनॉयड का रोगी मुख से सांस क्यों लेता है?
५. वाणी-सम्बन्धी दोषों का वर्णन करते हुए तोतलाने के विषय में आप क्या जानते हैं—यह लिखिये। इसका क्या इलाज है?

२७

प्राथमिक-चिकित्सा तथा गृह-परिचर्या

(FIRST AID AND HOME NURSING)

१. प्राथमिक-चिकित्सा

कुछ शारीरिक कष्ट ऐसे होते हैं जिन्हें स्वास्थ्य के नियमों के पालन करने से रोका जा सकता है, कुछ ऐसे भी होते हैं जो अचानक आ पड़ते हैं, दुर्घटनायें हो जाती हैं, इन्हें रोका नहीं जा सकता। ऐसे कष्टों के, ऐसी दुर्घटनाओं के अचानक आ पड़ने पर हम अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं, समझ नहीं पड़ता क्या करें? कल्पना कीजिये आप जा रहे हैं, अचानक गिर पड़े, बैठे पढ़ रहे हैं, पास बच्चा खेलता-खेलता उबलते तेल में हाथ दे बैठा, नदी में तैर रहे हैं, आप का साथी डुबकियाँ खाने लगा। ऐसी घटनायें रोज़ हमारे जीवन में होती रहती हैं। ऐसा मौका आ पड़ने पर डाक्टर को तो पीछे बुलाया जाता है, परन्तु तत्काल हमें भी कुछ करना होता है। जो-कुछ ऐसे समय किया जाता है उसीको प्राथमिक-चिकित्सा कहा जाता है। प्राथमिक-चिकित्सा का एक बक्सा आता है जिसमें शुरू-शुरू में जो-कुछ सामान चाहिए सब रहता है। हर घर में ऐसा बक्सा रखना चाहिए। किस दुर्घटना में क्या प्राथमिक-चिकित्सा की जाय, यह दुर्घटना के रूप पर निर्भर करता है, अतः हम कुछ दुर्घटनाओं के सम्बन्ध में, जो प्रायः हुआ करती हैं, कुछ लिखेंगे।

१. चाकू, उस्तरे आदि से कटने के कारण या नाक से खून बहना (Bleeding)—

बच्चे चाकू या उस्तरे से खेलना पसन्द करते हैं। अपने माता-पिता को इन चीज़ों को इस्तेमाल करते देखते हैं, तो खुद क्यों न करें ? बस, इनसे खेलते-खेलते कुछ-न-कुछ काट लेते हैं। अगर मामूली-सा ज़ख्म हो, तो खून अपने-आप जम जाता है, इसमें सिर्फ़ बाहर से दबा देना या थोड़े ठंडे पानी से धोकर रुमाल से बाँध देना काफ़ी है। अगर किसी गन्दी चीज़ से अंग कटा है, तो ज़ख्म पर थोड़ा-सा टिंक्चर आयोडीन लगा देना उत्तम है। टिंक्चर आयोडीन कृमियों को नष्ट कर देता है।

अगर गहरा ज़ख्म है, तो पहले तो यह जानना ज़रूरी है कि रुधिर 'शिरा' (Vein) से आ रहा है, या 'धमनी' (Artery) से। 'शिरा' का रुधिर नीलिमा लिये होता है, 'धमनी' का लालिमा लिये, 'शिरा' का एक-समान बिना वेग के बहता है, 'धमनी' का मानो पम्प होता है। 'शिरा' के रुधिर को रोकने के लिए ज़ख्म को नीचे की तरफ़ से पकड़ना चाहिए। गर्दन, पैर, हाथ आदि जहाँ-कहीं भी ज़ख्म हो, 'धमनी' के रुधिर को रोकने के लिए ज़ख्म को ऊपर की, अर्थात् हृदय की तरफ़ से पकड़ना चाहिए क्योंकि 'धमनी' का रुधिर हृदय से आ रहा होता है। अगर हाथ कटा है, तो 'धमनी' के रुधिर को रोकने के लिए हाथ को हृदय से ऊपर उठाओ। क्योंकि रुधिर हृदय से आ रहा है, और हाथ को हमने हृदय से ऊपर कर दिया, इसलिए रुधिर का वेग अपने-आप कम हो जायगा। ज़ख्म पर कुछ कपड़ा रखकर उसे बाँध देना चाहिए, परन्तु २० मिनट से ज़्यादा देर तक उसे बाँधे रखना भी ठीक नहीं। रुई के फाये ठंढे पानी में भिगो-भिगो कर ज़ख्म पर रखने और उसे पट्टी से कुछ देर बाँध

देने से तत्कालिक-चिकित्सा तो हो ही जाती है, आगे का काम डाक्टर आकर संभाल लेता है।

कभी-कभी बालकों की आपस की लड़ाई में मुक्का-मुक्की हो जाती है और नाक पर चोट लगने से नाक से ख़ून बहने लगता है। ऐसी हालत में ठंढे पानी का कपड़ा नाक पर और सिर के पीछे लगातार रखना चाहिए। बरफ़ मिले तो और अच्छा। बालक की नाक को उँगली और अंगूठे से दबाकर रखो, नाक से साँस मत लेने दो, मुंह से साँस लेने को कहो, गर्म पानी में पैर रखो, सीधे बैठने को कहो, उसके दोनों हाथ सिर से ऊपर उठा दो, अर्थात् ऐसे उपाय करो जिससे नाक की तरफ़ थोड़े-से-थोड़ा ख़ून जाये। फिर भी ख़ून बन्द न हो तो नाक में रूई भर दो। अगर गर्मी के कारण नकसीर बह निकली है, तब भी ये उपाय उपयोगी होंगे, कम-से-कम अगर डाक्टर की ज़रूरत है तो उसके आने तक स्थिति संभली रहेगी।

२. रगड़ (Bruises)—

रगड़ उसे कहते हैं जिसमें त्वचा नहीं कटती, परन्तु त्वचा के भीतर की 'बाल-रुधिर-वाहिनियाँ' (Capillaries) टूट जाती है। रुधिर 'धमनी' से बाल के समान छोटी-छोटी धमनियों में चला जाता है, इन्हीं को 'बाल-रुधिर-वाहिनी' कहा जाता है। यह रुधिर त्वचा की भीतरी सतह पर होता है, अतः बाहर तो नहीं बहता, परन्तु भीतर जम जाता है, अतः त्वचा नीली-सी हो जाती है। कभी-कभी जब इससे भी गहरी चोट लगती है तब त्वचा एकदम नीली नहीं पड़ती, चौबीस घंटे बाद नीली पड़ती है। इसे गुम चोट कहते हैं। साधारण-सी रगड़ तो कुछ देर बाद अपने-आप ठीक हो जाती है, इस पर ब्रांडी में कागज़ भिगो कर लगाने से फ़ायदा होता है, टिक्चर-आर्निका या स्पिरिट

कैंफ़र लगाने से भी लाभ होता है। गहरी चोट लगी हो तो कपड़ा गर्म करके या गर्म पानी से सेंकने से फ़ायदा होता है। कभी-कभी रगड़ से रुधिर बाहर निकल आता है, ज़ख्म बन जाता है, कभी-कभी फोड़े का रूप भी धारण कर लेता है। ऐसी हालत में पुलटिस आदि लगाना तथा चीरा-फाड़ी आदि करना आवश्यक हो जाता है।

३. जल या झुलस जाना (Burns and Scalds)—

बच्चे अक्सर आग से खेला करते हैं। कभी-कभी आग उन्हें घर पकड़ती है, कोई अंग जल जाता है। कभी-कभी सीधा सूकी आग से तो नहीं, परन्तु गर्म पानी, गर्म दूध, गर्म तेल में हाथ डालने या आ पड़ने से उनका कोई-सा अंग झुलस जाता है। मातायें चूल्हे के पास बैठकर भोजन बनाती हैं। कभी-कभी लापरवाही से उनका कपड़ा आग पकड़ लेता है। बच्चे रिड़ते-रिड़ते आग के पास पहुँच जाते हैं और अचानक आग या गर्म चीज़ में हाथ दे मारते हैं। इन सब दुर्घटनाओं की तात्कालिक चिकित्सा आवश्यक है।

जलने तथा झुलसने में तीन अवस्थायें हो सकती हैं। पहली अवस्था तो वह है जिसमें आग या पानी से बहुत मामूली-सा सम्पर्क हुआ है और त्वचा में केवल लाली दीखने लगी है, या थोड़ी-सी सूजन आ गई है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें छाले पड़ गये हैं। तीसरी अवस्था वह है जिसमें त्वचा बिल्कुल जल गई है, झुलस गई है, मर गई है, काली पड़ गई है।

साधारण-से जलने या झुलसने पर तेल या घी लगा देने से लाभ होता है। बरफ़ कूट कर, उसका पानी बिल्कुल नितार कर, उसे मक्खन, घी या तेल में मिला कर एक कपड़े पर फैला दो, और उसे उसी जली जगह पर तब तक रखो जब तक बरफ़ पिघल

न जाय। इससे लाभ होगा। बरफ़ न मिले तो सिर्फ़ रूई लेकर उस जगह को बाँध दो। यह सब-कुछ करने का कारण यह है कि जली जगह का खुली हवा से सम्पर्क नहीं होना चाहिए। आग हवा की ऑक्सीजन से चमकती है, ऑक्सीजन न मिले, तो शान्त हो जाती है। इसीलिए जब भी कपड़ों को आग लग जाय तो फ़ौरन एक बड़ा-सा कम्बल या कोई बड़ा कपड़ा लेकर, जिसे लगे, उसे लपेट देना चाहिए, कसकर उसमें बाँध लेना चाहिए। अक्सर कपड़ों में आग लगने पर व्यक्ति भाग खड़ा होता है। इससे तो हवा लगने के कारण आग और अधिक चमक उठती है। कुछ भी न मिले, तो फ़र्श पर लुढ़कने लगना चाहिए जिससे जो-जो हिस्सा फ़र्श के साथ दबता जायगा वहाँ-वहाँ ऑक्सीजन न पहुँचने से वह बुझता जायगा। तेल, घी आदि भी इसीलिए मला जाता है जिससे जले हुए स्थान का हवा की ऑक्सीजन से संबंध टूट जाय। गहरे घावों का इलाज तो डाक्टर करेगा, परन्तु तात्कालिक-चिकित्सा करते हुए जल गये व्यक्ति को खटिया पर लिटा कर उसके कपड़ों को धीरे-से उतार देना चाहिए, अगर कपड़े त्वचा से चिपट गये हों, तो उस स्थान को छोड़ देना चाहिए, ज़बर्दस्ती खींचने से त्वचा के उतर आने का डर रहता है। छाले पड़ गये हों, तो उन्हें तोड़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। गिरी का तेल लगा देना चाहिए। प्रायः आग के कारण जले व्यक्ति को एक 'धक्का' (Shock) लगता है। इसका उस पर मानसिक असर होता है। शरीर काँपने लगता है, ठंड-सी चढ़ जाती है। इसके लिए गर्म काफ़ी, कुछ थोड़ी-सी ब्रांडी और पाँवों पर गर्म पानी की बोतल लगाना लाभप्रद है।

४. भिड़-ततैय्ये आदि का काटना (Insect bites)—

अपने देश में भिड़-ततैय्ये आदि बहुत कष्ट देते हैं। इनके

काटने से सूजन हो जाती है। इनके विष को अमोनिया या सोडा के घोल से लाभ होता है। कभी-कभी भिड़ या ततैय्ये का डंक अन्दर रह जाता है। इसे निकालने के लिए चाबी के छेद वाले हिस्से को डंक वाले स्थान पर रख कर दबाने से डंक या भिड़ का ज़हर बाहर आ जाता है। उसके बाद उस स्थान पर सिरका तथा पानी मिलाकर या यू-डी-कलौन लगाने से लाभ होता है। ये-कुछ न मिले, तो तम्बाकू या नस्वार रगड़ना भी लाभप्रद है।

५, हड्डी टूटना (Fracture)—

अगर हड्डी अन्दर-ही-अन्दर टूटी है, बाहर त्वचा पर उसका कोई चिह्न नहीं, तो वह 'साधारण-अस्थि-भंग' (Simple fracture) कहाता है; अगर हड्डी टूट कर त्वचा के बाहर आ गई है, तो वह 'विषम-अस्थि-भंग' (Compound fracture) कहाता है; अगर हड्डी कई जगह से टूट गई है, तो वह 'अस्थि-विभंग' (Comminuted fracture) कहाता है।

'अस्थि-भंग' (Fracture), 'अस्थि-विपर्यय' (Dislocation) तथा 'मोच' (Sprain) में भेद है। पहले में हड्डी टूट जाती है, दूसरे में स्थान से विचलित हो जाती है, तीसरे में हड्डी का कुछ नहीं बिगड़ता, जोड़ को बाँधने वाले रज्जु, जिन्हें 'बन्धक-रज्जु' (Ligaments) कहा जा सकता है, टूट जाते हैं।

हड्डियों के जोड़ने का आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि जो हड्डी टूट गई है उसे खींचकर हड्डी के दोनों सिरों को ठीक आमने-सामने अपने स्थान पर बैठा लिया जाय, और फिर उन्हें हिलने न दिया जाय। हड्डियों के भीतर से ही ऐसा रस निकलता है कि वे अपने-आप जुड़ जायगी। इसीलिए टूटी हड्डी को

प्लास्टर ऑफ पैरिस से बाँध दिया जाता है, स्प्लिट्स से या सीधी लकड़ी से ऐसे बाँध देते हैं कि रोगी के हिलने से भी टूटी हड्डी बिल्कुल न हिले। जब हड्डी टूट जाय तब सब से अच्छी तात्कालिक-चिकित्सा यही है कि अंग को खींच कर जहाँ तक हो सके सीधा करें, और धीरे-से रोगी को उठाकर चारपाई पर लिटा कर हस्पताल पहुंचा दें।

६. अस्थि-विपर्यय तथा मोच (Dislocation and Sprain)—

'मोच' में क्योंकि जोड़ के 'बन्धक-रज्जु' (Ligaments) टूट जाते हैं इसलिए जोड़ को न हम फैला सकते हैं, न सिकोड़ सकते हैं ; 'अस्थि-विपर्यय' में केवल जोड़ की हड्डी ने स्थान छोड़ दिया होता है इसलिए जोड़ को धीरे-धीरे फैला-सिकोड़ सकते हैं। 'अस्थि-विपर्यय' होते ही अगर अंग की खींचातानी की जाय, उसे हिलाया-डुलाया जाय, तो हड्डी ठीक स्थान पर आ बैठती है। कभी-कभी नीचे के जबड़े की हड्डी स्थान छोड़ देती है, कभी-कभी कन्धे की हड्डी। इन सब के लिए तत्काल खींच-खाँच कर हड्डी को ठीक स्थान पर बैठाने का प्रयत्न करना चाहिए।

'मोच' प्रायः जोड़ों में आती है, गिट्टे, कलई, घुटनों में। 'मोच' का सबसे अच्छा इलाज आराम है। अगर हाथ में मोच आई है तो उसे गले में रुमाल बाँधकर ऐसे लटकाये रखना चाहिए जिससे वह हिले-जुले नहीं। सेंक से फ़ायदा होता है, परन्तु किसी-किसी को ठंढे पानी से फ़ायदा होता है। कभी-कभी कलई या गिट्टे की टोपियों (Elbow Cap or Knee Cap) का इस्तेमाल भी किया जाता है, परन्तु इनका अभिप्राय भी उन अंगों को आराम देना ही है।

७. बेहोशी (Fainting)—

बेहोशी के कई कारण हो सकते हैं। रुधिर की कमी, भय, अचानक का मानसिक क्षोभ या धक्का—इत्यादि। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में बेहोशी अधिक पायी जाती है। इसका सम्बन्ध प्रायः मासिक-धर्म से होता है। गर्मी से, कमरे में हवा न होने से भी बेहोशी हो जाती है। पहले-पहल चक्कर-सा आता है, सिर झूलता-सा अनुभव होता है, चेहरा पीला पड़ जाता है, नब्ज़ धीमी हो जाती है, आँख की पुतली फैल जाती है। ऐसी अवस्था होने पर रोगी को एकदम लिटा देना चाहिए, हवा करनी चाहिए, सिर शरीर से नीचे की तरफ़ लटकता रहे तो अच्छा है ताकि सिर में रुधिर पहुँचे, ठंडे पानी के छींटे देने चाहिएं, आस-पास की भीड़ को हटा देना चाहिए, अंगों को मलना चाहिए ताकि रुधिर का संचार बढ़े और एक पंख जला कर उसे नाक के पास ले जाना चाहिए, अमोनिया हो तो वह सुंघाना चाहिए, दवा-दारू कर कमज़ोरी को दूर करना चाहिए।

८. डूबना (Drowning)—

अगर कोई पानी में देर तक डूबा रहे, तो श्वास-नलिका बन्द हो जाती है, और पानी नाक के रास्ते फेफड़ों में भरने लगता है। फेफड़ों से ही तो जीवन है। फेफड़े बन्द हो जाने से प्राणी मर जाता है। डूबते समय हृदय की गति की अपेक्षा फेफड़ों की गति पहले रुक जाती है। इसका उपचार यही है कि झट-से फेफड़ों में का पानी निकाला जाय। ऐसे व्यक्ति को उल्टा लिटाकर उसे पेट के नीचे हाथ देकर तीन-चार वार ऊपर-नीचे झटके दें—इससे फेफड़ों का पानी निकल जाता है। फिर उल्टा लिटाकर छाती के नीचे तकियों-जितने कपड़े रख कर पेट के पास की पसलियों के नीचे हाथ डालकर दबायें। इन पसलियों के नीचे ही फेफड़े

हैं अतः इनके दबने से पानी और अधिक निकलेगा और साँस आने लगेगा। एक मिनट में १५–१६ वार ऐसे करें, और लगातार करते जाँय। इसे 'कृत्रिम-श्वास' (Artificial Respiration) कहते हैं। कभी-कभी कई घंटे लगातार ऐसे करना पड़ता है। ऐसा करते समय रोगी के अंगों को मल कर, गर्म बोतल से, कम्बल आदि से गर्म रखना चाहिए। जब वह श्वास लेने लगे तब दूध, काफ़ी आदि देकर उसे आराम से लिटा दें।

९. विष खा जाना (Poisoning)—

कभी-कभी गलती से विषयुक्त पदार्थ खाया जाता है, ऐसे समय में सब से पहले वमन कराना आवश्यक है। गर्म पानी में नमक घोल कर दो। गले में हाथ की उंगलियाँ डालकर उल्टी कराओ। अगर किसी के पेट में जलन उत्पन्न करने वाला विष चला गया है तब उल्टी नहीं करानी चाहिए। जलनवाले पदार्थ की पहचान यह है कि मुख के भीतर कुछ जलन के चिह्न पाये जायेंगे। ऐसे व्यक्ति को दूध पिलाओ, या पानी में आटा घोल कर पिलाओ, चावल खिलाओ। वमन कराने के बाद विष का 'प्रतिकारक' (Antidote) दो, जो उसके असर को दूर कर सके। अफ़ीम, धतूरे आदि के विष का प्रतिकार करने के लिए लाल दवाई (Permanganate of Potash) पानी में घोलकर पिला दो। इतनी, जितने से पानी लाल हो जाय। सोने मत दो। मट्टी का तेल पी जाने पर दूध, ज़ैतून का तेल पिलाओ और फिर अरंडी का तेल देकर दस्त करा दो। संखिया या पारा खा जाने पर भी दूध, ज़ैतून का तेल पिलाकर अरंडी का तेल पिलाओ। डाक्टर को जल्दी-से-जल्दी बुलाओ।

१०. सांप-बिच्छू तथा पागल कुत्ते का काटना—

जहाँ काटा हो वहाँ से ऊपर ज़ोर से बाँध दो ताकि रुधिर का

सारे शरीर में संचार न हो। फिर जिस स्थान पर काटा हो वहाँ तेज़ चाकू से काट दो, खून बहने दो और सूखी लाल दवाई ज़ख्म में मल दो। जल्दी-से-जल्दी रोगी को अस्पताल पहुँचाओ। पागल कुत्ते के काटे को पागल कुत्तों के काटने के अस्पताल पहुँचाना चाहिए। वहाँ इन रोगियों का विष दूर करने वाले इंजेक्शन दिये जा सकेंगे।

२. गृह-परिचर्या

घर में रोगी को कैसे रखा जाय, उसकी किस प्रकार सेवा की जाय, यह सब-कुछ जानना आवश्यक है क्योंकि किसी-न-किसी समय हर घर में कोई-न-कोई रोगी रहता ही है। जिन-जिन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया जायगा। इसी को गृह-परिचर्या कहते हैं।

(१) कमरा—रोगी को सबसे अलग कमरा दो। इसके तीन कारण हैं। पहला यह कि रोगी शोर-गुल नहीं चाहता, दूसरा यह कि अगर छूत की बीमारी हो तो दूसरे बच जाते हैं, तीसरा यह कि एकान्त होने से उसे आराम मिलता है, जितना चाहे सो सकता है।

(२) हवा—रोगी को ऐसे कमरे में रखो जिसमें आमने-सामने कम-से-कम दो खिड़कियाँ हों जिनसे हवा आ-जा सके। उसकी चारपाई हवा के झोंके के सामने नहीं होनी चाहिए, हवा की मार से हट कर होनी चाहिए, परन्तु हवा उसे पर्याप्त मात्रा में मिलनी चाहिए, इससे रोगमुक्त होने में सहायता मिलती है।

(३) प्रकाश—सूर्य का प्रकाश कीटाणुओं का नाश करता है। इससे विटामिन डी० उत्पन्न होता है, वह भी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। जितना प्रकाश कमरे में आ सके आने दो, परन्तु रोगी की आँखों पर चौंध न पड़े इसका प्रबन्ध कर दो।

(४) कमरे का तापमान—कमरे का तापमान ऐसा रखो जिसमें रोगी आराम अनुभव करे। गर्मियों में ठंडा पानी छिड़को, खस की टट्टियाँ लगा दो, सर्दियों में रोगी को ऐसे कमरे में रखो जिसमें अंगीठी लगी हो जिससे आग की गर्मी कमरे में रहे परन्तु धुआँ बाहर निकलता जाय।

(५) सामान—कमरे में थोड़ा-सा ही सामान रहने दो। रोगी के पास सिर्फ़ एक छोटी-सी टेबुल रहने दो जिसपर गिलास आदि रखा जा सके। दवाई रोगी के पास मत रखो। कमरे में एक छोटी-सी अलमारी में दवाई, थर्मामीटर आदि रख दो। नर्स आदि के बैठने के लिए एक कुर्सी काफ़ी है। बहुत ज्यादा सामान रोगी को परेशान करता है, उसकी देख-रेख भी ठीक-से नहीं हो सकती।

(६) कमरे की सफ़ाई—कमरे की सफ़ाई के लिए झाड़ू आदि मत लगाओ, गीले कपड़े से उसे पूंछो, इससे मट्टी उड़ती नहीं। जो कपड़े आदि गन्दे हो जांय, जूठे बर्तन आदि, इन सब को फ़ौरन रोगी के कमरे से हटा दो। कमरा हर समय साफ़-स्वच्छ रहना चाहिए।

(७) चारपाई—चारपाई खूब कसी हो, ढीली न हो। इसे ऐसी जगह रखो जहाँ हवा खुली आ-जा सके, प्रकाश हो, कोने में चारपाई मत बिछाओ। चारपाई ऐसे बिछाओ जिससे नर्स चारपाई के दोनों तरफ़ से रोगी के पास पहुँच सके।

(८) विस्तर-बिछाना—बिस्तर बिछाते हुए चारपाई पर गद्दा आदि बिछाकर सिर तथा पाँव की तरफ़ जगह छोड़कर बीच में रबड़ की चादर बिछाओ और इसके ऊपर एक कपड़े की चादर बिछा दो। कपड़े की चादर को लम्बाई के रुख तह कर के बिस्तर पर रखो, फिर उसे खोलकर उसका एक सिरा पहले गद्दे

के एक तरफ़ अन्दर की तरफ़ ढक दो, फिर दूसरा सिरा खींचकर, लपेट या बल निकाल कर दूसरी तरफ़ से ख़ूब खींच कर गद्दे के नीचे ढक दो। नीचें रबड़ रहने के कारण इस चादर में बल नहीं पड़ते। चादर को बदलना हो तो रोगी को पहले एक तरफ़ करवट पर कर दो। इस तरफ़ का सिरा समेट लो। फिर उसे दूसरी तरफ़ करके दूसरा सिरा समेट लो, और चादर निकाल लो। इस निकली चादर की जगह दूसरी धुली हुई चादर बिछाने के लिए भी रोगी को बिस्तर से उठाने की ज़रूरत नहीं है। जैसे रोगी के लेटे-लेटे चादर बिछाई थी वैसे उसके लेटे-लेटे ही चादर पहले रोगी को एक करवट करके एक सिरे की तरफ़ फिर दूसरी करवट के दूसरे सिरे की तरफ़ बिछा दो। मसहरी लगा दो।

(९) रोगी को उठाना—बिस्तर के दायीं तरफ़ खड़े हो जाओ। रोगी तुम्हारे गले में हाथ डाले। तुम बायें हाथ से रोगी को कन्धे की तरफ़ से पकड़ो, और अपने दाँयें हाथ से उसका तकिया आदि ठीक कर दो। रोगी को बिस्तर में एक तरफ़ करना हो, तो अपनी बाँह रोगी के कन्धे और नितम्ब की पीछे कर के उसे एक तरफ़ कर दो।

(१०) लेटे-लेटे कपड़े बदलना—रोगी को कपड़े ऐसे पहनाने चाहिएं जो पीठ की तरफ़ से खुले हों। इन्हें आसानी से बदला जा सकता है। कोट पीछे से कटा न हो, तो उसे उतारने के लिए कोट को समेट कर पहले एक बाँह के पास लाकर पहले एक बाँह निकाल दो, फिर दूसरी, इसी प्रकार पहनाने के लिए कोट को समेट कर पहले एक बाँह में पहनाओ, फिर दूसरी में।

(११) बिस्तर के ज़ख्म—रोगी कमज़ोर हो जाय और बिस्तर ठीक-से न बनाया जाय, तो एक जगह पड़े-पड़े ज़ख्म हो जाते हैं। ठीक-से परिचर्या हो रही हो, तो ये ज़ख्म होने नहीं

चाहिएं। पीठ, कन्धे आदि अलकोहल से मलते रहना चाहिए और अगर ज़ख्म हो ही जाँय, तो ज़िंक की मरहम से वे ठीक हो जाते हैं।

(१२) बिस्तर में स्नान कराना—यह या तो प्रातराश से पहले या भोजन के घंटा-दो-घंटा बाद कराना चाहिए। स्नान कराने से पहले सब-कुछ तय्यार रखो। धूप में सुखाई हुई चादरें तथा पहनने के कपड़े, तौलियें, साबुन, अलकोहल, मैले पानी के लिए बर्तन, कुर्सी-स्टूल, गर्म तथा ठंडा पानी। जैसे पहले रोगी के नीचे चादर बिछाई थी वैसे अब एक कम्बल बिछा दो। एक कम्बल ऊपर से ओढ़ा दो। अब उसके कपड़े उतार दो। पहले मुख तथा कान धो डालो। मुख, कान, गर्दन, बाँहें, छाती, पेट, पाँव तथा टाँगें—इस क्रम से थोड़े-थोड़े पानी से सारा शरीर गर्म पानी से धो डालो। फिर रोगी को औंधे मुंह लिटाकर पीठ धो दो। सब पोंछकर कन्धों तथा नितम्ब-प्रदेश में अलकोहल मलो। जिस किसी अंग को धोओ साथ ही एक तौलिया पानी के नीचे रखो और इतने ही पानी का इस्तेमाल करो जिससे पानी को तौलिया सोकता जाय, और नीचे पड़ा कम्बल भीगने न पाये। दूसरे अंग को धोने से पहले जो धो डाला है उसे ठीक-से पोंछ दो। रोगी के दाँत साफ़ कर दो, बालों में कंघी कर दो और नाख़ून साफ़ कर दो। इससे रोगी स्वस्थ अनुभव करता है।

(१३) रिकार्ड रखना—रोगी के शरीर का तापमान प्रातः-सायं दोनों समय या चार समय लेना चाहिए और कितने घंटे सोया आदि सब बातों का चिकित्सक के लिए निम्न प्रकार रिकार्ड रखना चाहिए :—

समय	तापमान	नाड़ी	श्वास	नींद	दवाई	टट्टी	पेशाब	भोजन

(१४) शरीर का तापमान—शरीर का तापमान थर्मामीटर से लेना चाहिए। इसे गर्म पानी से धोने से टूट जायगा, अतः ठंडे पानी से धोना चाहिए। झटके से पारा नीचे ले आना चाहिए। पारे का हिस्सा मुख में जीभ के नीचे, जड़ में रख कर मुंह बन्द कर लेना चाहिए। प्रायः एक मिनट काफ़ी रहता है, परन्तु यह थर्मामीटर के ऊपर निर्भर करता है कि इसे कितनी देर मुंह में रखा जाय। बच्चों का तापमान प्रायः बगल में या गुदा में लिया जाता है क्योंकि वे मुंह में इसे तोड़ सकते हैं। बगल में मुंह की अपेक्षा एक डिग्री कम और गुदा में मुंह की अपेक्षा तापमान एक डिग्री अधिक होता है। नीरोग व्यक्ति का तापमान ९८·४ फ़ार्नहाइट होता है, इससे कम कमज़ोरी का सूचक है, ९६·५ पर आ जाय तो खतरा है। ९८·४ से ऊपर चला जाय तो बुख़ार है। प्रातः १०० और सायं १०२ या १०३ तो बुरा नहीं, परन्तु प्रातः १०२ या १०३ और सायं १०४ या १०५ खतरनाक है। घट जाने पर गर्म बोतल का इस्तेमाल, और बढ़ जाने पर स्पंज से ठंडे पानी का सिर पर डालना, शरीर पर ठंडे पानी को स्पंज से फेरना तथा पीठ में अलकोहल मलना चाहिए। ऐसी अवस्था में झट-से चिकित्सक को बुलाना चाहिए। बुख़ार कभी-कभी क्रमशः और कभी-कभी एकदम उतरता है। टाइफ़ायड में क्रमशः और निमोनिया में एकदम गिरता है। अगर एकदम गिरे तो गर्म सेंक करो, रोगी को गर्म चाय दो, कहीं तापमान एकदम गिरने से हृदय काम करना बंद न कर दे।

पुरुष की नाड़ी एक मिनट में ६० से ७०, स्त्री की ६५ से ८० तथा बच्चे की ९० से १०० बार चलती है। श्वास एक मिनट में १८ से २४ बार चलता है। साँस गिनते समय रोगी को पता

नहीं होना चाहिए कि साँस गिना जा रहा है, नहीं तो उसका ध्यान साँस की तरफ़ चला जाता है और साँस की स्वाभाविक चाल नहीं रहती।

(१५) औषध देना—चिकित्सक से औषध देने के लिखित निर्देश ले लेने चाहिएं। किस समय, कितनी मात्रा, कितनी बार। औषधियाँ ताले में बन्द रहें, ज़हरवाली औषधियाँ ऊपर ऐसी जगह रखी जायँ जहाँ हाथ न पहुँचे। हरेक औषधि पर लेबल लगा रहे। अन्धेरे में औषध उठाकर न दो, ग़लती हो सकती है। तीन बार लेबल देखो, पहले जब बोतल उठाओ, फिर जब उसमें से दवा लो, फिर जब बोतल को अपने स्थान पर रखो। दवा लेने के लिए माप वाला गिलास रखो, चम्मच छोटे-बड़े होते हैं।

प्रश्न

१. चाकू आदि से कट जाने पर खून कैसे रोका जाय ?
२. झुलस जाने पर क्या करें ?
३. डूबने पर क्या प्राथमिक-चिकित्सा की जाती है ?
४. गृह-परिचर्या में किन मुख्य-मुख्य बातों का ध्यान रखें ?
५. मुख्य-मुख्य रोग लिख कर उनके लक्षण लिखिये ?

हम अगले दो पृष्ठों में कुछ ऐसी बीमारियों के सम्बन्ध में चित्र देंगे जो प्रायः पायी जाती हैं और जिनकी जानकारी हासिल कर लेना प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक है :—

बीमारी	किस तरह होती है	विष-प्रवेश के कितने दिनों बाद हो सकती है	लक्षण	कब तक अलग रखें	अवरोधक उपाय	विशेष
१. मलेरिया	मच्छरों से	३६ घंटों से १५ दिन तक	बुखार, ठंड, पसीना	—	मसहरी लगाना, मच्छरों को न होने देना	कुनीन
२. चिकन पौक्स (हंसनी-खेलनी)	रोगी से छूत	४ से १४ दिन	पहले लाल दाने, फिर छोटे छाले, चौथे दिन सूकने लगते हैं	२० दिन	ऐसे रोगियों से पृथक् रहना, सफ़ाई रखना	—
३. हैजा	टट्टी से, दूध, पानी, भोजन, धूल मक्खी, कपड़ों से	२ से ५ दिन	दस्त, कय, पेशाब रुकना	५ से १० दिन	उबला पानी पीना, कच्चे फल न खाना	—
४. डिसैन्ट्री (पेचिश)	,,	३६ घंटों से ७ दिन	दस्त, मरोड़, खून, आंव	जब तक रोगी ठीक न हो	अलग रहना, टट्टी जला देना, टीका लगवाना,	—
५. टायफ़ॉयड	,,	१४ से २१ दिन	पेट पर लाल दाने, ७ से १५वें दिन के भीतर लाल दाने जो दबाने से गुम हो जांय	एक मास	टट्टी-पेशाब जला देना, मक्खियाँ नष्ट कर देना	—
६. इन्फलुएन्जा	सांस से	१ से ४ दिन	ठंड लग जाना, शरीर टूटना, नाक बहना	जब तक ठीक न हो	पृथक् रहना, कृमि नाश	जल्दी ठीक न करने से खांसी बैठ जाती है, सिर दर्द स्थिर हो जाता है

७. मीज़ल्स (खसरा)	सांस से	१ से २ सप्ताह	बुखार के ७वें दिन कानों के पीछे, माथे तथा मुख पर लाल मखमली चकत्ते	१६ दिन	पृथक् रहना, कृमि नाश	आंखों को रोशनी से बचाना
८. मम्प्स (कनपेड़े)	छूत से	१४ से २१ दिन	गले के नीचे सूजन, मुँह खोलने में दर्द	१२ दिन	पृथक् करना, कृमि नाश	इसका फ़ौरन इलाज करो, कभी२ मृत्यु हो जाती है
९. प्लेग	चूहों, मक्खियों से	२ से ८ दिन	मुख तथा छाती पर मक्खी काटे-से दाने, गिल्टी	१२ दिन	पृथक् करना, चूहों का मारना	हाथ-पैर को बचाना, प्लेग का टीका
१०. स्माल पॉक्स (चेचक)	हवा से, त्वचा से, सांस से	१४ दिन	शुरू-शुरू में ऊँचा बुखार, दानों में पस पड़ने पर और ऊँचा। ९ से १० वें दिन छाले सूखने लगते हैं, १४वें दिन झड़ने लगते हैं	१६ दिन	ऐसे रोगी के सम्पर्क के सब को टीका लगाना चाहिये	—
११. निमोनिया	हवा, थूक, भोजन	१६ घंटों से ५ दिन	झुरझरी, खांसी, सिर दर्द, ६ से ८वें दिन संकट-काल है	७ दिन	पृथक् करना, कृमि नाश	गर्म रखना
१२. क्षय रोग	हवा, थूक, दूध	—	बुखार, क्षीणता, कमज़ोरी, खांसी, छाती से खून जाना	—	पृथक् करना, कपड़ों का कृमि-नाश, दूध की देख-रेख	धूप हवा का प्रचुर सेवन, उत्तम भोजन

२८

ब्राह्मण-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN BRAHMANIC PERIOD)

'शिक्षा' की समस्या कोई आज की ही समस्या नहीं है। जब से माता-पिता तथा पुत्र का सम्बन्ध बना है, तभी से माता-पिता के लिए अपने पुत्र की शिक्षा की समस्या बनी रही है। आदि-कालीन माता-पिता के सम्मुख यह प्रश्न था कि उन तक जो ज्ञान सञ्चित रूप में पहुँचा है, अथवा जिन नई बातों का उन्होंने स्वयं पता लगाया है, उन्हें आगामी सन्तति तक वे कैसे पहुँचायें ? अगर वे बाप-दादा से पाये हुए, और स्वयं उपार्जित किये ज्ञान को किसी सुगम उपाय से अपनी सन्तति को दे सकते हैं, तब तो मानव-समाज और उसके साथ-साथ उनकी सन्तान भी उन्नति करती जायगी, अगर नहीं दे सकते, तब मनुष्य हर युग में हर बात को नये सिरे से ढूंढने में ही लगा रहेगा। इसी समस्या के हल को 'शिक्षा' का नाम दिया जाता है। जैसे इस समस्या का हल हम आज कर रहे हैं, वैसे ही सुदूर-भूत में, ब्राह्मण-काल में, प्राचीन-भारत के ऋषियों-मुनियों ने इस समस्या का हल निकाला था। वह हल क्या था ?

'शिक्षा' तथा 'संस्कार'—

भारत के प्राचीन शिक्षा-शास्त्रियों ने 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र माना था। आज एक लम्बे-चौड़े इतिहास में से गुज़रने के बाद युरुप में 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र माना जाने

लगा है, नहीं तो शिक्षक, स्कूल और पाठ्य-क्रम को ही मुख्य माना जाता रहा, बालक का कहीं पता भी नहीं था। प्राचीन-भारत की पाठ्य-प्रणाली में 'बालक' को इतना महत्व दिया गया था कि उसी के जन्म-सुधार के लिए १६ संस्कारों की कल्पना की गई थी। ऋषियों का कथन था कि 'बालक' पर निम्न तीन प्रकार के संस्कार प्रभाव डालते हैं :—

१. अपने पिछले जन्म के संस्कार
२. माता-पिता के संस्कार
३. परिस्थिति से पड़ने वाले संस्कार

'बालक' की शिक्षा क्या है, मानो 'संस्कारों' का ही एक खेल है। परिस्थिति के द्वारा पड़ने वाले 'संस्कारों' से माता-पिता द्वारा आने वाले संस्कार प्रबल होते हैं, माता-पिता द्वारा आने वाले संस्कारों की अपेक्षा भी अपने पिछले जन्म से आने वाले संस्कार प्रबल होते हैं। शिक्षा का प्रश्न संस्कारों का प्रश्न है। अगर अपने पिछले जन्म के संस्कार ही इस जन्म में प्रबल रहेंगे तब निस्सन्देह शिक्षा का प्रश्न एक अत्यन्त जटिल प्रश्न हो जायगा। भारत के प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'पुनर्जन्म' और 'कर्म' के सिद्धान्त को मानते थे, इसलिए वे यह भी मानते थे कि शिक्षा द्वारा पिछले जन्म के संस्कारों को सर्वथा नहीं बदला जा सकता। क्योंकि उनके सम्मुख यह जटिल समस्या थी कि पिछले जन्म के संस्कारों के साथ हम कैसे टक्कर लें इसलिये उन्होंने 'संस्कारों' के विषय को एक गम्भीर प्रश्न बना दिया, और जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक शुद्ध संस्कारों के संचय का प्रश्न बना लिया था। मनुष्य क्योंकि पिछले जन्म के तथा माता-पिता के संस्कारों का परिणाम होता है, इसलिये इस जन्म में उसे ऐसे-वैसे संस्कारों से नहीं बदला जा सकता, जन्म-भर उस पर संस्कार

पड़ते रहने चाहियें, तब जाकर कोई प्रत्यक्ष परिणाम निकल सकेगा—इस दृष्टिकोण को लेकर प्राचीन ऋषियों ने 'शिक्षा' के प्रश्न पर विचार किया है और इस जन्म में १६ संस्कारों का वर्णन किया है।

संस्कारों के दो भाग—

संस्कारों को दो भागों में बाँटा गया है। उत्पत्ति से पूर्व के (Pre-natal), तथा उत्पत्ति के बाद के (Post-natal)। उत्पत्ति के पूर्व के संस्कार हैं, गर्भाधान, पुन्सवन तथा सीमन्तोन्नयन। क्योंकि माता-पिता के संस्कार का बालक पर प्रभाव पड़ता है अतः 'गर्भाधान'-संस्कार एक महत्वपूर्ण संस्कार है। माता-पिता को यह समझना चाहिये कि वे किसी ऊँची आत्मा का आह्वान कर रहे हैं—यही इस संस्कार का उद्देश्य है। जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश कर जाय और उसका शारीरिक-विकास होने लगे तब 'पुन्सवन' संस्कार किया जाता है। इसका अभिप्राय यही है कि माता-पिता ऐसा अन्न खायें, ऐसा रहन-सहन रखें जिससे बालक का शारीरिक विकास ठीक दिशा की तरफ़ चल सके। पुन्सवन के बाद छठे या आठवें मास में 'सीमन्तोन्नयन' संस्कार किया जाता है। सीमन्त में माता अपने सिर में तेल लगाती है, कंघी करती है। यह वह समय है जब गर्भस्थ-शिशु के मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। इस संस्कार का यह उद्देश्य है कि माता शिशु के मस्तिष्क के समुचित विकास का ध्यान रखेगी। शिशु के उत्पन्न होने के अनन्तर जो संस्कार किये जाते हैं वे बाद के (Post-natal) संस्कार हैं। इनमें से कोई संस्कार तो केवल स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निश्चित किये गये हैं। अन्न-प्राशन, निष्क्रमण, कर्ण-वेध आदि संस्कारों का महत्व स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से कम

नहीं है, और इन सब पर इतना बल देना सिद्ध करता है कि भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में 'बालक' को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इन संस्कारों के बाद 'उपनयन' संस्कार आता है। उपनयन संस्कार का सीधा सम्बन्ध 'शिक्षा' से था। 'शिक्षा' के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट करने के लिये हम 'शिक्षा' के पाँच पहलुओं पर विचार करेंगे। वे पहलू निम्नलिखित हैं :—

१. परिस्थिति (Surrounding)
२. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी (Pupil)
३. गुरु अथवा आचार्य (Teacher)
४. अध्यापन के विषय (Curriculum)
५. अध्यापन की विधि (Method of teaching)

'शिक्षा' तथा 'परिस्थिति'—

शिक्षा के लिए 'परिस्थिति' अत्यन्त आवश्यक है। परिस्थिति के तीन भाग किये जा सकते हैं। भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक। मानसिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति के लिए तो शिक्षा-संस्था का निर्माण होता ही है, वे लोग शिक्षा के लिए भौतिक परिस्थिति को भी अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उनका विचार था कि शिक्षा के केन्द्र ग्रामों तथा शहरों के बाहर प्रकृति की गोद में होने चाहियें। 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत'—(ऋक्, ५-८-१४) पर्वत की उपत्यका तथा नदी के तट पर विप्र बनता है। प्राचीन-काल के शिक्षा-केन्द्र ऋषियों के आश्रमों में होते थे, और ये आश्रम शहरों में न होकर वनों में होते थे। जंगल में रहने के कारण बालक शहर के विषैले संस्कारों से बचे रहते थे।

बालक को भौतिक-दृष्टि से जहाँ शुद्ध परिस्थिति में रखा

जाता था वहाँ मानसिक-दृष्टि से भी यह प्रयत्न किया जाता था कि उसे उसके मानसिक विकास के अनुकूल वातावरण में रखा जाय। घर में माता-पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दे सकते अतः उसे घर से बाहर किसी दूसरे के पास भेजना आवश्यक है, परन्तु बाहर भेजने पर उसे घर का-सा, माता-पिता का-सा प्रेम न मिलने से उसका समुचित विकास न हो सकेगा अतः उसका घर पर रहना आवश्यक है—इस विरोध का हल करने के लिए उन्होंने 'गुरुकुल-पद्धति' का निर्माण किया था। 'गुरुकुल' का अर्थ था—गुरु का 'कुल'। घर में शिक्षा ठीक प्रकार नहीं चल सकती। माता-पिता लाड़-प्यार में बालक को बिगाड़ देते हैं, अतः बालकों को घर से तो बाहर ही भेज दिया जाय, परन्तु बाहर भेज कर भी एक घर से उसे दूसरे घर में ही भेजा जाय, एक 'कुल' से दूसरे 'कुल' में भेजा जाय, एक माता-पिता से दूसरे माता-पिता के पास भेजा जाय, एक परिवार से दूसरे परिवार में भेजा जाय—'गुरुकुल शिक्षा प्रणाली' का यही आधारभूत तत्व था। बालक शिक्षा पाने के लिए अपने माता-पिता को छोड़ कर गुरु के परिवार को माता-पिता मान कर जाता था और उसी के कुल को अपना कुल बना लेता था। इस समय भी देखने में आता है कि अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कहने वालों का एक ही 'गोत्र' पाया जाता है। वसिष्ठ-गोत्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों—सभी का हो सकता है। यह इसलिए है क्योंकि एक ही गुरु के पास सभी वर्णों के लोग शिक्षा पाने के लिए आते थे, और यहाँ रहते हुए वे सब उस गुरु को ही अपना माता-पिता समझते थे, और आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई मानते थे। यह भावना यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि जैसे एक ही माता-पिता की

संतान में विवाह करना वर्जित था वैसे एक ही गुरु के शिष्य में विवाह सम्बन्ध वर्जित माना गया था। सगोत्र-विवाह भारतीय प्रथा के प्रतिकूल है। एक ही आश्रम में रहते हुए शादी-विवाह की चर्चा न चल पड़े, विद्यार्थियों का ध्यान पढ़ने-लिखने में ही लगा रहे, वे गुरु-पत्नी को अपनी माता, गुरु-पुत्री को अपनी बहन समझें—इस भावना को दृढ़ करने के लिए सगोत्र-विवाह को वर्जित ठहराया गया था, इसमें और कोई दूसरा कारण न था।

गुरु का 'कुल' शुद्ध अर्थों में 'कुल' होता था, इसलिए गुरुकुलों में विद्या-दान के साथ-साथ भोजन, कपड़ा रहना—सभी-कुछ मुफ्त होता था, किसी बात के लिए किसी प्रकार की फ़ीस नहीं ली जाती थी। धनी-मानी सज्जन गुरुकुलों को गाँव या जायदाद लगा देते थे, समय-समय पर दान देते थे, राजा-महाराजा राजकोष से सहायता करते थे या विद्यार्थी लोग स्वयं भिक्षा-वृत्ति से अपना तथा अपने गुरु का जीवन-निर्वाह करते थे। भिक्षा-वृत्ति का अर्थ भीख माँगना नहीं था। 'भिक्षा' देना प्रत्येक व्यक्ति अपना महान् अधिकार समझता था। आज भी बर्मा में इस भिक्षा-वृत्ति की सुन्दरता देखी जा सकती है। विद्यार्थी लोग अपने आश्रम से निकलते हैं। घर की देवियाँ उनकी राह देखती भोजन तय्यार कर अपने दरवाज़ों पर खड़ी होती हैं। कभी-कभी आध-आध घंटा विद्यार्थियों की इन्तज़ार में खड़ी रहती हैं। विद्यार्थी आते हैं और उनके भिक्षा-पात्र में आगे बढ़-बढ़ कर देवियाँ पकाया हुआ अन्न डालती जाती हैं। इस भिक्षा को ले जाकर वे गुरु के-सामने रख देते हैं—गुरु भी अन्न ग्रहण करता है, शिष्य भी ग्रहण करते हैं। अपने घर में भिक्षा लेने जाने की मनाही थी,

ना ही कोई गुरु के घर में भिक्षा के लिए जा सकता था। अपने हाथ में भिक्षा लिये जो माता खड़ी होती थी उसे शायद अपना पुत्र स्मरण हो आता होगा जो किसी दूसरे परिवार के दरवाज़े पर खड़ा भिक्षा ग्रहण कर रहा होता था। महाराष्ट्र तथा मद्रास प्रान्त में आज भी अनेक विद्यार्थियों की शिक्षा भिक्षा-वृत्ति से ही चलती है, इसे 'मधुकरी' कहा जाता है। विद्यार्थी किसी भी परिवार में जाता है, 'भवती भिक्षां देहि'—बोलता है, और घर की देवी उसकी झोली में तैयार हुआ भोजन लाकर डाल देती है।

सब विद्यार्थियों के मिलकर रहने तथा भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन का परिणाम यह होता था कि अमीर-ग़रीब का भेद विद्यार्थियों में नहीं रहता था। जैसे ग़रीब का लड़का भिक्षा माँगता था, वैसे ही अमीर का लड़का भी झोली लेकर भिक्षा के लिए जाता था। गुरुकुल द्वारा समाजवाद की भावना प्रत्येक विद्यार्थी के जीवन में क्रियात्मक रूप धारण कर लेती थी। कृष्ण तथा सुदामा का यहीं गठ-बंधन होता था और समाज की ऊंच-नीच की भावना को समाप्त कर दिया जाता था।

भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन का यह भी परिणाम था कि शिक्षा सस्ती थी, हरेक को प्राप्त हो सकती थी। आज शिक्षा को बाधित तथा सर्व-व्यापी बनाने में सबसे बड़ी बाधा उसका भारी व्यय है। प्राचीन-काल में शिक्षा पर कोई व्यय नहीं होता था इसलिए सब के लिए शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव था।

शिष्य अथवा ब्रह्मचारी—

'गुरुकुल' में जो विद्यार्थी भर्ती होते थे, उन्हें ब्रह्मचारी कहा जाता था। 'ब्रह्मचारी' शब्द का अर्थ है, 'ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी'—जो ब्रह्म में विचरे, वह 'ब्रह्मचारी' है। 'ब्रह्म'

का अर्थ है, 'महान्'। जीवन में छोटे से बड़े होते जाना, संकुचित से विशाल होते जाना, अपने क्षेत्र को बढ़ाते जाना, आगे-ही-आगे चलते जाना ही 'ब्रह्मचर्य' है। 'ब्रह्मचर्य' के ये विस्तृत अर्थ हैं। इसके संकुचित अर्थ भी हैं। संकुचित अर्थों में 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—वीर्य-रक्षा करना। प्राचीन-काल में वीर्य-रक्षा पर बड़ा बल दिया जाता था। आज कोई शिक्षणा-लय विद्यार्थियों को वीर्य-रक्षा की शिक्षा नहीं देता, परन्तु गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में वीर्य-रक्षा सबसे अधिक महत्व की वस्तु समझी जाती थी। २४ वर्ष तक वीर्य-रक्षा करनेवाला विद्यार्थी 'वसु', ३६ वर्ष तक वीर्य-रक्षा करनेवाला 'रुद्र', तथा ४८ वर्ष तक वीर्य-रक्षा करनेवाला 'आदित्य' ब्रह्मचारी कहाता था।

गुरुकुल में भर्ती होते समय प्रत्येक ब्रह्मचारी का 'उपनयन' संस्कार होता था। 'उपनयन' का अर्थ है—'गुरु के समीप पहुँ-चना'। शिक्षा क्या है, गुरु के समीप पहुँचना है, उसके अत्यन्त निकट हो जाना है। 'उपनयन' संस्कार के संबंध में लिखा है, 'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमंतः। तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति'—अर्थात् उपनयन संस्कार करते समय मानो आचार्य ही माता बनकर ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा भी कोई चित्र हो सकता है। जिसका उपनयन संस्कार होजाता है, उसे 'द्विज' कहा जाता है। 'द्विज' का अर्थ है, दूसरी बार पैदा हुआ! पहली बार बालक माता-पिता से जन्म लेता है, यह शरीर का जन्म है, दूसरी बार गुरुकुल में जाकर गुरु को माता बना कर उसके गर्भ से जन्म लेता है, यह मानसिक जन्म है, इस जन्म द्वारा वह मनुष्य बनता है। 'उपनयन' संस्कार

प्रत्येक बालक के लिए आवश्यक था। जिसका उपनयन नहीं होता था वह जाति-च्युत् समझा जाता था। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि गुरुकुलों के युग में प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा प्राप्त करना बाधित था, जिसका 'उपनयन' संस्कार नहीं होता था, अर्थात् जो शिक्षा प्राप्त नहीं करता था, उसे समाज में कोई ऊँचा स्थान न था।

उस समय का समाज चार भागों में विभक्त था, जिसे 'वर्ण-व्यवस्था' कहा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार वर्ण थे। पहले तीन वर्णों के बालकों का 'उपनयन' संस्कार होता था। बौद्धायन धर्म-सूत्र में लिखा है कि शूद्र का भी उपनयन किया जाय। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मण के बालक का ८ वर्ष में, क्षत्रिय के बालक का ११ वर्ष में, और वैश्य के बालक का १२ वर्ष में उपनयन संस्कार करने का विधान है। लोगाक्षि-स्मृति में यह आयु क्रमशः ७, ९ और ११ बतलाई गई है। आपस्तम्ब धर्म-सूत्र में लिखा है कि कोई भी वर्ण हो, अगर 'ब्रह्मवर्चस्' उद्देश्य हो तो ७, 'आयु' उद्देश्य हो तो ८, और अगर 'तेज' अर्थात् शारीरिक-पुष्टि उद्देश्य हो तो ९ वर्ष की आयु में 'उपनयन' होना चाहिए—जिस व्यक्ति ने शारीरिक-वृद्धि को मुख्य रखना हो उसे शिक्षा देर में प्रारंभ करनी चाहिए—यही भिन्न-भिन्न आयु के विधान का अभि-प्राय था।

जिनका 'उपनयन' नहीं होता था, उन्हें 'सावित्री-पतित' तथा 'व्रात्य' कहा जाता था। ऐसे लोगों के विषय में 'परिहार्याः प्रयत्नतः'—अर्थात् इनसे सदा बचे रहना चाहिये—ऐसा कहा गया है। वसिष्ठ मुनि का कथन है कि जिनका 'उपनयन' न हुआ हो, उनसे कोई व्यवहार न रखे। एक अन्य स्मृतिकार का

कथन है कि ऐसें के साथ विवाह-सम्बन्ध भी न करे—'अध्यापनं याजनं च विवाहादि च वर्जयेत्'। इस सारी कड़ाई का यही अभिप्राय है कि भारत की प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था में अशिक्षित रहने को कोई स्थान ही न था, जो अशिक्षित होता था उसका समाज से ही बहिष्कार हो जाता था। ठीक भी है, जब समाज सब के लिए शिक्षा की व्यवस्था करता है तब अशिक्षित रहने का कोई कारण ही नहीं रह जाता।

वर्ण को सम्मुख रख कर शिक्षा देने का यही अभिप्राय था कि जो जिस वर्ण के माता-पिता की सन्तान है उसे उस प्रकार की शिक्षा में विशेष रुचि हो सकती है, और वह उस दिशा में प्रवीण हो सकता है। इसका अभिप्राय यह कभी नहीं था कि एक वर्ण का बालक दूसरे वर्ण की शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकता था। ऋग्वेद (९,११२) का एक ऋषि कहता है कि मैं कवि हूँ, मेरा पिता भिक्षुक है, मेरी माता गेहूँ पीसती है, हम 'नाना-धी' हैं, भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के हैं, परन्तु एक ही परिवार के अङ्ग हैं। जो किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता था वही शूद्र कहाता था। शूद्रों के अतिरिक्त उस समय समाज में दास, दस्यु, असुर और पिशाच भी थे जो अनार्य कहाते थे। इन अनार्यों को भी समाज में पचा लिया गया था और उन्हें भी वेद-विद्या के अध्ययन तथा अन्य वैदिक संस्कार करने का पूरा अधिकार था। ऋग्वेद (१०-४५-६) में लिखा है: 'जना यदग्नि अजयन्त पञ्च'—अर्थात्, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा पाँचवें अनार्य ने अग्नि की परिचर्या की। वैदिक संस्कृति में इन अनार्यों को समाज का अङ्ग बनाने के लिए 'पंचजन'—इस शब्द को रचा गया था। ऋग्वेद (९६-६-२०) में अग्नि को "पञ्चजनों' का ऋषि कहा गया है—'अग्निः ऋषि पवमानः

पाञ्चजन्यः पुरोहितः'। वाजसनेयी संहिता (२६-२) में लिखा है : 'यथेमां वाचं कल्याणीं आवदानि जनेभ्यः ब्रह्म-राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय'—अर्थात् वेदों के अध्ययन का सब को समान अधिकार है।

बालकों के समान बालिकाओं को भी शिक्षा का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। यज्ञ में यजमान के साथ यजमान-पत्नी पूर्ण अधिकार के साथ भाग लेती थी। ऋग्वेद के मन्त्रों के जैसे 'ऋषि' हैं, वैसे 'ऋषिकाएं' भी हैं। रोमशा, लोपामुद्रा, अपाला, कद्रू, विश्ववारा, घोषा, जुहू, वागाम्भृणी, पौलोमी, जरिता, श्रद्धा, कामायनी, उर्वशी, शारङ्गा, यमी, इन्द्राणी, सावित्री, देवजामी, नोधा, आकृष्टभाषा, सिकता, निवावरी तथा गोपायना—ये वेदों की ऋषिकायें हैं। अथर्व (११-६) में लिखा है : 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'—अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण करके कन्या युवक पति को प्राप्त करती है। उस समय स्त्रियाँ 'ब्रह्मवादिनी' होती थीं, उन्हें ब्रह्म का वैसा ही ज्ञान होता था जैसा कि किसी ब्रह्म-ज्ञानी को होता है। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी का वर्णन आता है। जिस समय याज्ञवल्क्य घर छोड़कर संन्यास लेने लगे तब उनका तथा मैत्रेयी का ब्रह्म-ज्ञान सम्बन्धी वार्तालाप हुआ। जनक की सभा में जब याज्ञवल्क्य ने अपने को सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म-वेत्ता घोषित किया तब गार्गी ने उनकी परीक्षा ली और याज्ञवल्क्य के विषय में अपना निर्णय दिया कि निस्संदेह यह ब्रह्म-वेत्ताओं में सबसे बढ़ा-चढ़ा है। मंडन मिश्र की स्त्री ने शंकराचार्य से शास्त्रार्थ किया था और अपने क्षेत्र में शंकर स्वामी को हरा दिया था। इन सब दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि प्राचीन-काल में बालकों तथा बालिकाओं को शिक्षा समान रूप से दी जाती थी—स्त्रियों के

लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था।

गरु अथवा आचार्य—

शिक्षा देने वाले को 'आचार्य' कहते थे! 'आचार्य' का अर्थ है, 'आचारं ग्राहयतीति आचार्यः'—जो आचार-विचार बनाये। आचार्य का काम शिक्षा देने के साथ ब्रह्मचारी के सदाचार को बनाना भी था। विद्यार्थी को 'छात्र' कहा जाता था। पाणिनि ने 'छात्र' का अर्थ किया है, जिसे छाया जाय, आच्छादित किया जाय, सब प्रकार की विघ्न-बाधाओं से बचाया जाय। आचार्य का काम बालक को 'छात्र' समझकर, रक्षणीय समझकर, उसे सब प्रकार के पापों से बचाना होता था। विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' भी कहा गया है। 'अन्तेवासी' का अर्थ है, जो गुरु के अन्दर बसता हो, उसके हृदय में जा पहुँचे। 'उपनयन' का भी यही अर्थ है—'उप', अर्थात् 'समीप', और 'नयन', अर्थात् 'ले जाना'। आचार्य बालक को अपने समीप ले आता है। तभी 'उपनयन' करते हुए वेद ने कहा है कि यह ऐसा समय है जब आचार्य मानो माता बनकर बालक को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में गुरु-शिष्य का पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध होता था।

गुरु के महत्व का वर्णन करते हुए छान्दोग्य (६,१४,१-२) में कहा है:—जैसे किसी की आँखों पर पट्टी बाँध कर उसे जंगल में छोड़ दिया जाय और वह रास्ता ढूंढता फिरे, इसी प्रकार हम इस जन्म में अंधे की तरह रास्ता टटोलते फिरते हैं। जिस प्रकार रास्ता टटोलने वाले की कोई आकर आँखों से पट्टी उतार दे और उसे ठीक रास्ता बता दे इसी प्रकार गुरु हमारी आँखों से अविद्या की पट्टी को उतार कर हमें ठीक मार्ग दिखाता है।

उच्च कोटि के आचार्य अपने-अपने आश्रमों में रहा करते थे। वे अपने विषय के अगाध विद्वान् होते थे। विद्या की खोज में जिज्ञासु लोग उनके यहाँ पहुँचते थे। गुरु को खोजा जाता था। जो शिष्य गुरु धारण करने आते थे वे हाथ में समिधा लेकर आते थे—'समित्पाणि' होते थे। समिधा लेने का अभिप्राय यह था कि जैसे समिधा सिर्फ़ लकड़ी है, परन्तु आग के स्पर्श से यह प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्य भी समिधा के समान है, वह गुरु की विद्या के स्पर्श से अग्नि की भांति प्रदीप्त होना चाहता है। उपनिषदों में जब-जब भी किसी शिष्य के गुरु के पास अध्ययन के लिए जाने का वर्णन आया है, साथ-साथ यह भी लिखा है कि वह हाथ में समिधा लेकर गया। एक ही समय में शिष्य भिन्न-भिन्न विषयों को भिन्न-भिन्न गुरुओं से पढ़ते थे—जो जिस विषय का ज्ञाता होता था उसी से वह विषय पढ़ते थे, कभी-कभी अगर कोई गुरु दूर-दूर रहते थे तो शिष्य एक विषय का अध्ययन समाप्त कर फिर दूसरे विषय के लिए दूसरे गुरु के पास चले जाते थे।

यह आवश्यक नहीं था कि शिष्य एक ही गुरु के पास विद्याध्ययन करता रहे। गोपथ ब्राह्मण (१-१-३१) में मौद्गल्य तथा मैत्रेय—इन दो गुरुओं का संवाद आता है। मैत्रेय को जब यह अनुभव हो गया कि मौद्गल्य उससे अधिक विद्वान् है तो उसने अपनी पाठशाला बन्द कर दी, और जब तक स्वयं उस विषय में मौद्गल्य के समान विद्वान् नहीं हो गया तब तक अपनी पाठशाला चलाने का नाम तक नहीं लिया।

उन दिनों आजकल की तरह पुस्तकें नहीं थीं, पुस्तकालय नहीं थे, सम्पूर्ण विद्या गुरु के मस्तिष्क में ही रहती थी। इसका यह लाभ भी था कि कोई पुस्तकों को जलाकर सम्पूर्ण विद्या का

नाश नहीं कर सकता था। मैक्स मूलर ने लिखा है कि यदि आज भी कोई संस्कृत-विद्या के सब ग्रन्थों को नष्ट-भ्रष्ट कर दें, तो भारत के श्रोत्रियों के मस्तिष्क से उन सब ग्रन्थों की फिर-से रचना की जा सकती है। विद्या को सुरक्षित रखने के लिए 'गुरु-शिष्य परम्परा' बनी हुई है। प्राचीन ग्रन्थों में इस परम्परा का उल्लेख है—उनमें लिखा है कि किस गुरु से किस शिष्य ने विद्या को सुरक्षित रखा। प्रत्येक आचार्य अपना कर्त्तव्य समझता था कि प्राचीन-काल से आ रहे विद्या रूपी धन को देश तथा जाति के लिए सुरक्षित रखे। इसीलिए जहाँ शिष्य गुरु की तलाश किया करते थे वहाँ गुरु भी योग्य शिष्यों की तलाश में रहते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् (१-४-३) में लिखा है कि जैसे पानी नीचे को बहता है, जैसे मास संवत्सर के पीछे भागते हैं, वैसे मुझे ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—ये चार 'वर्ण' थे, वैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार आश्रम थे। मुख्य तौर पर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जब वानप्रस्थ आश्रम में जाते थे, तब शिक्षक का कार्य करते थे। प्रत्येक शहर के इर्द-गिर्द वानप्रस्थ आश्रम हुआ करते थे। उच्च-से-उच्च कोटि के विद्वान्, गृहस्थ पूरा कर, वानप्रस्थ ग्रहण करते थे, और ये वानप्रस्थी समाज के निःशुल्क शिक्षक का काम करते थे। क्योंकि गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए ये उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके थे अतः देश के नवयुवकों को ये अपने परिपक्व अनुभव से शिक्षा देते थे। मुख्य तौर पर तो वानप्रस्थियों के हाथ में ही शिक्षा का कार्य था, परन्तु गृहस्थी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के लिए शिक्षक का कार्य करना वर्जित न था। ब्राह्मण-गुरुओं का वर्णन तो जहाँ-तहाँ पाया जाता है, उपनिषदों में

क्षत्रिय-गुरुओं का भी वर्णन मिलता है। यह नहीं कि क्षत्रिय-गुरु क्षात्र-विद्या का ही उपदेश देते थे, ऐसे-ऐसे क्षत्रिय-गुरु भी विद्यमान थे, जो राज-काज के साथ-साथ ब्रह्मविद्या का भी उपदेश देते थे। शतपथ-ब्राह्मण (११.६.२.१.) में विदेहराज जनक का वर्णन आता है। उसने श्वेतकेतु आरुणेय तथा याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र की विधि के सम्बन्ध में प्रश्न किया जिसका उत्तर केवल याज्ञवल्क्य से देते बना और वह भी अधूरा। इस पर जनक ने उन्हें अग्निहोत्र की यथार्थ-विधि का उपदेश दिया। कौशीतकी उपनिषद् (४.१) में गार्ग्य बालाकी ब्राह्मण को काशिराज अजातशत्रु ने चुप करा दिया और वह ब्राह्मण हाथ में समिधा लेकर अजातशत्रु के पास विद्या ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हो गया। बृहदारण्यक (२.१.१) में भी इसी दृप्त बालाकी की कथा आती है। इसे दृप्त इसलिए कहा गया है क्योंकि इसे अपनी विद्या का बड़ा घमंड था। बृहदारण्यक (५.१.१) में पांचाल देश के राजा प्रवाहण जैवली का वर्णन आता है जिसमें श्वेतकेतु ने आरुणेय तथा उसके पिता को ब्रह्म-ज्ञान दिया था। छान्दोग्य (५-११) में अश्वपति कंकय के पास पाँच ब्राह्मण 'वैश्वानर' की शिक्षा के लिए आये—ऐसा वर्णन पाया जाता है।

अध्यापन के विषय—

ब्रह्मचारी का जब 'उपनयन' संस्कार होता था तब वह अत्यन्त साधारण वेश धारण करता था। शरीर पर चर्म—'अजिन'; नीचे के भाग में सन आदि का 'वास'; हाथ में 'दंड'; कमर में 'मेखला'; छाती पर 'यज्ञोपवीत'! सिर के बाल, शिखा को छोड़ कर, या तो सब मुंडवाने होते थे, या सब बाल रखने होते थे। बड़े होने पर 'क्षौरकृत्यं वर्जय'—सिर या दाढ़ी-मूछ के बाल मुंडाने की मनाही थी। आचार्य पूछता था—'कस्य ब्रह्मचारी

असि'—'तू किस का ब्रह्मचारी है' ? शिष्य कहता था—'तव' —'आपका' ! 'उपनयन' हो चुकने के बाद आचार्य उसका 'वेदारम्भ'-संस्कार करता था। आश्वल गृह्य-सूत्र (१-२२-२) के अनुसार शिष्य को सम्बोधन कर के कहा जाता था—'ऐ बालक ! तू आज से ब्रह्मचारी है; जल की प्रभूत मात्रा पिया कर; काम में लगा रह; निठल्ला कभी मत फिर; दिन को कभी मत सोना; आचार्य के आधीन रहकर विद्याध्ययन करना; बारह वर्ष पर्यन्त एक-एक वेद का अध्ययन करना और ब्रह्मचर्य धारण करना; आचार्य की धर्म-युक्त आज्ञा का पालन करना; अधर्म-युक्त आज्ञा का पालन मत करना; क्रोध और झूठ छोड़ देना; मैथुन से दूर रहना; गदेलों पर मत सोना; गाना-बजाना-नाचना-गन्ध-माला-सुरमा लगाना आदि ठीक नहीं; अति-स्नान, अति-भोजन, अति-निद्रा, अति-जागरण—निन्दा-लोभ-मोह-भय-शोक छोड़ देना; रात्रि में पछिले पहर में उठ जाना और आवश्यक शौच, दन्त-धावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना, उपासना और योगाभ्यास किया करना; उस्तरा मत लगवाना; माँस, रूखा-सूखा अन्न तथा मद्यादि का सेवन न करना; बैल, घोड़ा, ऊँट आदि की सवारी न करना; ग्राम के भीतर मत रहना; जूता-छाता न रखना; लघुशङ्का के बिना इन्द्रिय का स्पर्श न करना; वीर्य-रक्षा करके उर्ध्व-रेता बनना और वीर्य को शरीर में खपाना; अङ्गों में तेल मलना आदि छोड़ देना; अति-अम्ल, अति-तिक्त, अति-कषाय, क्षार तथा रेचक द्रव्यों का सेवन न करना; युक्त आहार-विहार से रहना; विद्या के ग्रहण में लगे रहना, सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्य बनने का प्रयत्न करना, मेखला और दण्ड का धारण करना, भिक्षा से निर्वाह करना, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्या, आचार्य का आज्ञाकारी

प्रातः-सायं आचार्य को नमस्कार करने वाला बनना—ये तेरे नित्य के धर्म हैं।'

इस उपदेश से स्पष्ट हो जाता है कि चरित्र का निर्माण अध्यापक का आवश्यक विषय था। ब्रह्मचारी की सम्पूर्ण दिन-चर्या ऐसी बनाई गई थी जिससे क्षण-क्षण में उसके आचार का निर्माण होता था। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पुस्तक-पाठ की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। मुण्डक उपनिषद् में शौनक का वर्णन मिलता है जिसके अनुसार वह अंगरिस् आचार्य के पास गया और कहा कि मैं चारों वेदों, छन्द, कल्प, निरुक्त, शिक्षा को पढ़ चुका हूँ—मुझे 'अपरा'-विद्या का ज्ञान है, 'परा'-विद्या का नहीं। सब भौतिक विद्याओं को 'अपरा'-विद्या कहा जाता था, आत्म-विद्या को 'परा'-विद्या कहा जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् (७-१) में लिखा है कि नारद आचार्य सनत्कुमार के पास गये, और उनसे कहा कि मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद (जिससे वेद स्पष्ट हो जाते हैं), पित्र्य (शुश्रूषा-विज्ञान), राशि (गणित), दैव-विद्या (उत्पत्ति-विज्ञान), निधि-शास्त्र (अर्थ-शास्त्र), वाक्योवाक्य (तर्क-शास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या (भौतिकी, रसायन तथा प्राणी-शास्त्र), क्षत्र-विद्या (धनुर्विद्या), नक्षत्र-विद्या (ज्योतिष), सर्प-विद्या (विष-ज्ञान), देव-जन-विद्या (ललित-कला) को पढ़ चुका हूँ। मैं 'मन्त्र-वित्' हूँ, 'आत्म-वित्' नहीं ! 'अपरा-विद्या' तथा 'मन्त्र-विद्या' का एक ही अर्थ है; 'परा-विद्या' तथा 'आत्म-विद्या' का एक ही अर्थ है। प्राचीन भारत में सभी विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं, परन्तु शिक्षा का उद्देश्य 'मुक्ति' समझा जाता था, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा

'अपरा' अथवा 'मन्त्र-विद्या' पढ़ने के वाद 'परा' अथवा 'आत्म-विद्या' पढ़ने की होती थी, और सच्चा गुरु वही समझा जाता था, जो 'अपरा' तथा 'परा', अर्थात् 'मन्त्र-विद्या' तथा 'आत्म-विद्या', भौतिक-विज्ञान तथा आत्म-ज्ञान दोनों का ज्ञान दे सकता था।

यद्यपि उस समय अपने-अपने विषयों के विषेष-विशेष ज्ञाता होते थे, तो भी संपूर्ण ज्ञान को एक अखंड ज्ञान समझा जाता था। व्याकरण के ज्ञाता को ज्योतिष तथा वैद्यक का ज्ञान भी होता था, ज्योतिषी को व्याकरण, न्याय, सांख्य, वैद्यक आदि का ज्ञान होता था। यही करण है कि प्राचीन-प्रणाली के पंडित प्रायः सभी-कुछ जानते थे। वे व्याकरण पढ़ा सकते थे, परन्तु साथ-ही-साथ ज्योतिष तथा आयुर्वेद भी पढ़ा सकते थे। सब विषय पढ़ा सकने के साथ-साथ वे किसी एक विषय के विशेष ज्ञाता भी होते थे। तक्ष-शिला विश्व-विद्यालय में पाणिनि, चाणक्य तथा जीवक ने शिक्षा प्राप्त की थी। पाणिनि व्याकरण के, चाणक्य राजनीति के, और जीवक वैद्यक के विश्व-विख्यात विद्वान् हुए, परन्तु उन सब में विशेषता यह थी कि पाणिनि व्याकरण के साथ-साथ राजनीति भी जानते थे, चाणक्य राजनीति के साथ-साथ व्याकरण भी जानते थे, और जीवक आयुर्वेद के साथ-साथ अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे।

शिक्षा समाप्त कर चुकने के वाद आचार्य का दीक्षान्त-भाषण (Convocation address) होता था जिससे ज्ञात होता है कि आचार्य किन बातों को शिक्षा के लिए आवश्यक समझते थे। एक दीक्षान्त-भाषण का नमूना तैत्तिरीयोपनिषद् (११, १-४) में पाया जाता है। गुरुकुल छोड़ते हुए शिष्य को सम्बोधन कर आचार्य कहता है —'सत्य बोलना। धर्म आचरण करना। स्वाध्याय से प्रमाद मत करना। आचार्य को जो प्रिय

हो, वह दक्षिणा रूप में उसे देकर ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना और प्रजा के सूत्र को मत तोड़ना। सत्य बोलने से प्रमाद मत करना। धर्माचरण से प्रमाद मत करना। जिस बात से तुम्हारा भला हो उससे प्रमाद मत करना। अपनी विभूति बढ़ाने में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना। संसार में जो 'देव' हैं, अर्थात् तुम से गुणों में बढ़े-चढ़े हैं, और जो 'पितर' हैं, तुम से आयु में बड़े हैं, उनके प्रति अपने कर्त्तव्य के पालन में प्रमाद मत करना। माता को देवी समझना, पिता, आचार्य, अतिथि—इन्हें देव मानना। हमारे जो अनिन्दित कार्य हैं उन्हीं का सेवन करना, दूसरों का नहीं, जो हमारे सुचरित हैं, उन्हीं को उपास्य समझना, दूसरों को नहीं। हमसे श्रेष्ठ विद्वान् जहाँ बैठे हों वहाँ उनके उपदेश को ध्यान से सुनना, वाद-विवाद में मत पड़ना। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से भी देना, अपनी बढ़ती श्री-सम्पत्ति में से देना, श्री न बढ़ रही हो, तो भी लोक-लाज से देना, भय से देना, प्रेम से भी देना। ऐसा करते हुए भी अगर किसी बात में सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पड़े कि 'धर्माचार' क्या है, अथवा किस स्थिति में कैसे वर्तना है, 'लोकाचार' क्या है, यह सन्देह खड़ा हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्य में स्वतः प्रवृत्त, प्रेरणावश प्रवृत्त, बिना रूखे स्वभाव के, सब पहलुओं पर विचार करने वाले ब्राह्मण जैसे बरतें वैसे बरतना। 'विवादास्पद' विषयों में भी युक्त, आयुक्त, अरुक्ष, धर्म-काम, संदर्शी ब्राह्मणों के पीछे ही चलना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना।'

'वेदारम्भ' तथा 'दीक्षान्त-संस्कार' के समय आचार्य के

जिन दो भाषणों का हमने उल्लेख किया उनसे उस समय के अध्यापन के विषयों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है।

अध्यापन की विधि—

तैत्तिरीय उपनिषद् (१-१, २) का प्रारंभ 'शिक्षा'-अध्याय से होता है। उसमें लिखा है कि शिक्षा 'शब्दों' द्वारा दी जाती है, शब्दों का निर्माण 'वर्णों' से होता है। अ-आ-इ-ई तथा क-ख-ग-घ आदि वर्ण हैं। वर्णों के ज्ञान के वाद 'स्वर' अर्थात् उच्चारण का ज्ञान आवश्यक है। कौन-सा वर्ण कैसे बोला जाता है—इसका ज्ञान स्वर-ज्ञान है। कई बालक 'स' को 'फ़' और 'त' को 'ट' बोलने लगते हैं। उनका स्वर ठीक नहीं होता। जैसे 'वर्ग' का ज्ञान कराना आवश्यक है, वैसे ही 'स्वर' का ज्ञान कराना भी उतना ही आवश्यक है। 'वर्ण' तथा 'स्वर' के ज्ञान के वाद 'मात्रा' का ज्ञान कराया जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—इन मात्राओं का ज्ञान शब्दोच्चारण में सहायक है। कई वालक ह्रस्व की जगह दीर्घ और दीर्घ की जगह ह्रस्व मात्रा का प्रयोग कर देते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा के वाद मात्राओं का 'बल' जानना आवश्यक है। संस्कृत के ज्ञान में मात्राओं का अपना-अपना बल है। 'आ' की मात्रा का बल शब्द को स्त्री-लिंगी बना देता है, 'औ' का बल एक वस्तु को दो बना देता है, 'आः' का वल एक को अनेक बना देता है। इसके बाद शब्द-ज्ञान में 'साम'—अर्थात् समता से उच्चारण करना आना चाहिए, बोलने का ढंग आना चाहिए। वर्ण, स्वर, मात्रा, वल और साम के ज्ञान के अनन्तर शब्दों का 'सन्तान' प्रारंभ हो जाता है, शब्दों से वाक्य, वाक्यों से ग्रन्थ बन जाते हैं, यही शब्दों का 'संतान'—फैलाव—है। इस प्रकार वर्णों से प्रारंभ करके वर्णों की सन्तान तक पहुँचने में ही सब 'शिक्षा' समा जाती है। यह तैत्तिरीय उपनिषद्

का शिक्षा अध्याय है।

'शब्द' और 'अर्थ' का आपस का सम्बन्ध कैसा है ? कई लोग कहते थे कि 'शब्द' और 'अर्थ' का नित्य-सम्बन्ध है, कई कहते थे कि इन दोनों का कल्पित सम्बन्ध है, माना हुआ सम्बन्ध है। नित्य-सम्बन्ध मानने वाले कहते थे कि 'घट' का अर्थ घड़ा ही हो सकता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं ; अनित्य-सम्बन्ध मानने वालों का कहना था कि 'घट' का हमने घड़े से सम्बन्ध जोड़ रखा है, इसलिए 'घट' कहने से घड़ा अर्थ लिया जाता है, अगर कोई दूसरा अर्थ जोड़ लिया जाय, तो वह अर्थ लिया जाय। वैय्याकरणी 'शब्द' और 'अर्थ' का नित्य सम्बन्ध मानते थे; नैय्यायिक इन दोनों का अनित्य, अर्थात् कल्पित सम्बन्ध मानते थे। आजकल जो 'प्रत्यय-सम्बन्ध-वादी' (Associationists) कहे जाते हैं वे प्राचीन-भारत के नैय्यायिकों की तरह 'शब्द' और 'अर्थ' के कल्पित सम्बन्ध को मानने वाले ही समझने चाहिएं।

तो फिर ज्ञान क्या है ? जैसा हमने देखा, ज्ञान तो 'शब्द' और 'अर्थ' का कल्पित सम्बन्ध है। 'ज्ञान' तक पहुँचने का तरीका क्या है ?

प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'ज्ञान' तक पहुँचने के पाँच क्रम बतलाते थे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन—इन्हें ज्ञान के 'पंचावयव' कहा जाता था। इन पाँचों का क्या अर्थ है ?

हमने पहाड़ पर धुंआ देखा और उसे देखते ही कह दिया—'पहाड़ पर आग लगी है'। इस प्रकार पहाड़ पर धुंआ देखकर झट-से कह देना कि वहाँ आग लगी है, 'प्रतिज्ञा' कहलाता है।

परन्तु प्रश्न होता है कि हम क्यों मानें कि पहाड़ पर आग

है, इस में 'हेतु' क्या है? पहाड़ पर धुंआ देखकर यह कह देना कि वहाँ आग लगी है, पर्याप्त नहीं है। हमें अपने कथन की पुष्टि में कहना होगा कि वहाँ आग है, क्योंकि 'वहाँ धुंआ दीख पड़ रहा है' ! यही क्योंकि का कहना 'हेतु' है।

परन्तु धुंआ दीख रहा है, तो क्या हुआ? इस 'हेतु' की पुष्टि में हमें कोई दृष्टान्त भी देना होगा। इसलिए हम कहते हैं कि 'जैसे रसोई में धुंआ होता है और धुंए के साथ आग होती है, इसी प्रकार क्योंकि पहाड़ पर धुंआ दिखाई दे रहा है, अतः वहाँ पर भी आग अवश्य है।' इसी को 'उदाहरण' कहते हैं।

उदाहरण देकर सिद्धान्त निकाल लेने के बाद यह सिद्धान्त सब जगह लागू हो सकता है—यह सिद्ध करना आवश्यक है। जहाँ-जहाँ धुंआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है—इस प्रकार अपने कथन की सत्यता सिद्ध करने को 'उपनय' कहते हैं।

'उपनय' के बाद, अर्थात् एक 'सिद्धान्त' निकाल लेने के बाद सामने की घटना पर उसे लागू करके दिखाने को 'निगमन' कहते हैं। जहाँ-जहाँ धुंआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है, सामने पहाड़ पर धुंआँ है अतः वहाँ भी आग अवश्य है—इस प्रकार अपने कथन को घटाकर दिखा देना 'निगमन' है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों की सिखाने की यही पद्धति थी। इस पद्धति के दो भाग किये जा सकते हैं। पहले को 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' (Deductive Method) कहा जा सकता है। दूसरे को 'दृष्टान्त-पूर्वक अनुमान' (Inductive Method) कहा जा सकता है। 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' (Deductive Method) में हम पहले एक सत्य का प्रतिपादन कर देते हैं, एक व्याप्ति को, एक नियम को, एक सिद्धान्त को कह देते हैं, और दृष्टान्त देकर उस की पुष्टि

करते हैं। 'दृष्टान्त-पूर्वक-अनुमान' में हम पहले अनेक दृष्टान्तों का संग्रह कर लेते हैं, और उसके बाद व्याप्ति को, नियम को, सिद्धान्त को निकालते हैं। प्राचीन शिक्षा-पद्धति में 'व्याप्ति-पूर्वक अनुमान' अथवा 'निगमन' (Deductive Mothod) और 'दृष्टान्त-पूर्वक-अनुमान' अथवा 'आगमन' (Inductive Method) दोनों का प्रयोग होता था। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण में 'व्याप्ति-पूर्वक-अनुमान' (Deduction) है, और, उदाहरण, उपनय, निगमन में 'दृष्टान्त-पूर्वक-अनुमान' (Induction) है। 'पंचावयव' की इसी पद्धति को आजकल हर्बर्ट के 'पंच-सोपान' (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। इनका वर्णन हम ७वें अध्याय में कर आये हैं।

शिक्षा में 'ध्यान' की कितनी आवश्यकता है, इसे पूरी तरह समझा जाता था। शिक्षा के तीन आवश्यक अंग थे—'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'। 'श्रवण' गुरु से सुनने का नाम था, परन्तु सुनना पर्याप्त न था। सुनने के वाद 'स्वाध्याय' की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती थी। 'स्वाध्याय' का अर्थ है, स्वयं अध्ययन करना। गुरु का काम तो शिष्य में क्रिया-शीलता उत्पन्न कर देना है। उस के वाद शिक्षा की सम्पूर्ण प्रक्रिया शिष्य को स्वयं करनी होती थी। वही 'स्वाध्याय' की प्रक्रिया 'मनन' तथा 'निदिध्यासन' के रूप में होती थी। शिष्य पढ़े हुए पर 'मनन' करता था, पढ़ने के बाद गुढ़ता था, और गुढ़ने के बाद पढ़े हुए में एक रूप हो जाता था, इसी को 'निदिध्यासन' कहते थे।

पढ़ाते हुए गुरु कथा-कथानकों का भरपूर प्रयोग करता था। अगर कहा जाय कि कथानकों द्वारा शिक्षा देना भारतीय प्रणाली थी, तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। कथानकों के साथ अलंकारों

का प्रयोग भी प्रचुरता से होता था। कठोपनिषद् में नचिकेता के कथानक द्वारा ब्रह्म-विद्या का अत्यन्त मनोहर उपदेश दिया गया है जो एक आलंकारिक वर्णन है।

प्रायः प्रश्नोत्तर द्वारा गुरु शिष्य को पढ़ाता था। शिष्य प्रश्न करता था, गुरु उत्तर देता था। गीता तो सम्पूर्ण ही अर्जुन के प्रश्नों के उत्तर में ही कही गई है। प्रश्नोपनिषद् में भी प्रश्न हैं, और उत्तर हैं। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में प्रश्नकर्त्ता को 'प्रश्निन्' कहा गया है, बीच में ही प्रश्न करने वाले को 'अभि-प्रश्निन्' कहा गया है, उत्तर देने वाले को 'प्रश्न-विवाक्' कहा गया है। प्रश्नोत्तरी द्वारा किसी बात को समझने के तरीक़े को 'वाकोवाक्य' कहा जाता था। प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की सुकरात के नाम से जो पद्धति प्रसिद्ध है वही प्राचीन भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों की पद्धति थी। कभी-कभी गुरु इशारा मात्र कर देते थे, और शिष्य से आशा रखते थे कि वह अपनी बुद्धि से तत्व तक पहुँच जाय। तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगु-वल्ली में वरुण अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म का उपदेश देते हुए कहता है कि अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी—जिससे ये उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद जिससे ये जीवित रहते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, वही 'ब्रह्म' है। फिर धीरे-धीरे अपने प्रयत्न से वह जानता गया कि अन्न ब्रह्म नहीं है, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि भी ब्रह्म नहीं हैं। ज्यों-ज्यों भृगु तप करता गया, भिन्न-भिन्न बातों पर विचार करता गया, त्यों-यों उसकी अपनी आँखें खुलती गयीं।

शिक्षा में परीक्षणात्मक पद्धति को विशेष स्थान था। छान्दोग्य में आचार्य अपने शिष्य श्वेतकेतु को कहते हैं कि वट वृक्ष का एक फल लाओ। इसे काट डालो, देखो, क्या देखते

हो ? बीज ! बीजों को फोड़ डालो, फिर क्या देखते हो ? कुछ नहीं ! आचार्य ने कहा, इसी 'कुछ नहीं' में इतना विशाल वट का वृक्ष छिपा हुआ है। तीन वार इसी प्रकार परीक्षण को दोहरा कर आचार्य ने शिष्य को ब्रह्म की महान् सत्ता की शिक्षा दी है।

छान्दोग्य (६) में श्वेतकेतु को उसके पिता ने यह बतलाना चाहा कि अन्न पर ही प्राण निर्भर है। श्वेतकेतु को १५ दिन तक निराहार रहने को कहा गया, सिर्फ़ पानी पीने की आज्ञा थी। १५ दिन के वाद उसे वेद मन्त्र दोहराने को कहा गया। श्वेतकेतु ने कहा कि मुझे कुछ स्मरण नहीं आता। फिर आचार्य ने उसे कुछ खा लेने को कहा। कुछ देर वाद उसे सब स्मरण होने लगा। इस प्रकार परीक्षण करके किसी तत्त्व तक पहुँचना उन आचार्यों की पद्धति थी।

सब से अधिक महत्व की बात यह है कि शिक्षा को एक उपयोगी कौशल (Craft) के साथ जोड़ दिया गया था। उस समय की परिस्थिति में गौ को जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी माना गया था। शिष्य का विद्याभ्यास करते हुए गौ की सेवा करना मुख्य कार्य था। आजकल के निकम्मे खेलों से विद्यार्थी को वह लाभ नहीं हो सकता जो उस समय के विद्यार्थी को गौ-सेवा से होता था। छान्दोग्य में सत्यकाम जाबाल की कहानी आती है। उसमें लिखा है कि गुरु ने उसे ४०० गौएँ दीं, और जंगल में भेज दिया। जब वे १००० हो गईं, तो वह लौटकर आया, और तव तक वह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका था। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य के विषय में लिखा है कि जनक की सभा से वह १००० गौओं को अपने शिष्य द्वारा हंकवा कर ले गया था। इस प्रकार भारत के प्राचीन शिक्षा-विज्ञ वर्तमान शिक्षा-शास्त्रियों की तरह

किसी कौशल (Craft) को शिक्षा के साथ जोड़ना आवश्यक समझते थे। गौ-सेवा का तो इतना महत्व है कि यदि आज भी इसे शिक्षा के साथ जोड़ दिया जाय तो विद्यार्थियों को हानि के स्थान में लाभ होने की ही संभावना है।

प्रश्न

१. भारत की प्राचीन-शिक्षा में बालक की उत्पत्ति से पूर्व तथा उसकी उत्पत्ति के बाद के संस्कार क्या-क्या थे? संस्कारों का शिक्षा में क्या महत्व समझा जाता था?

२. गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का क्या अभिप्राय था?

३. ब्राह्मण-काल में स्त्री को पढ़ने का अधिकार था—यह सिद्ध करने के लिए कुछ ऋषिकाओं के नामों का उल्लेख करो।

४. 'ब्रह्मचारी'-'आचार्य'-'उपनयन'-'अन्तेवासी'-'शिष्य'—इन शब्दों का मौलिक अर्थ क्या है और उससे तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली पर क्या प्रकाश पड़ता है?

५. ब्राह्मण-काल में गुरु तथा शिष्य का क्या संबंध था?

६. उस समय के दीक्षान्त-भाषण का नमूना दीजिये।

७. उस समय की पाठन-विधि की वर्तमान शिक्षा-शास्त्रियों के सिद्धान्त से तुलना कीजिये।

२६

बौद्ध-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN BUDHIST PERIOD)

बुद्ध श्रमणों में से एक था—

ब्राह्मण-काल के बाद भारतीय-शिक्षा के इतिहास में बौद्ध-काल आता है। उपनिषदों में जगह-जगह संसार की नश्वरता का वर्णन मिलता है। जगत् मिथ्या है, आत्मा ही सत्य है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में स्थान-स्थान पर संसार को मिथ्या घोषित करने वाली टोलियाँ फिरने लगीं। बुद्ध से पहले के भारत-समाज में संसार को मिथ्या घोषित करने वाले धर्म-प्रचारकों के मुख्य तौर पर दो भाग थे—'ब्राह्मण' तथा 'श्रमण'। 'ब्राह्मण' गृहस्थी होते थे, 'श्रमण' वानप्रस्थी, अथवा संन्यासी होते थे।

'ब्राह्मणों' में बुद्ध के समय ६ ब्राह्मण सबसे प्रसिद्ध थे—पूरण कस्सप, मक्खली गोशाल, अजित केशकम्बाली, पकुद्ध कच्छायन, संजय बेलत्त्थिपुत्त और नगत्थ नागपुत्त। इनमें से प्रत्येक अपने दार्शनिक विचारों के लिए प्रसिद्ध था। इनके सैकड़ों शिष्य थे। ये आचार्य अपनी शिष्य-मंडली के साथ भारतीय-सभ्यता के बड़े-बड़े केन्द्रों में भ्रमण करते फिरते थे, और अपने विचारों को जगह-जगह फैलाते फिरते थे। सिर पर जटाजूट, शरीर पर चर्म धारण किये ये तथा इनके शिष्य भारत के कोने-कोने में संसार के मिथ्या होने का डंका पीटते

जगह-जगह भ्रमण करते थे।

ब्राह्मणों के अतिरिक्त 'श्रमणों' के चार भेद थे—मग्गजिन (सत्य-मार्ग को जीतने वाले), मग्गदेशी (सत्य-मार्ग का उपदेश देने वाले), मग्गजीवी (सत्य-मार्ग के उपदेश से जीविका उपार्जन करने वाले) तथा मग्गदूषी (सत्य-मार्ग को दूषित करने वाले)। इन श्रमणों का आपस में वाद-विवाद होता था, उनके कई अवान्तर भेद बन गये थे, और बुद्ध के समय श्रमणों के ६३ भेद थे जिन्हें 'दृष्टि' (Point of view) का नाम दिया जाता था।

प्रतीत्य-समुत्पाद तथा अविद्या का नाश—

'ब्राह्मणों' तथा 'श्रमणों' एवं इनके अवान्तर सम्प्रदायों में समय-समय पर वाद-विवाद होता था। मल्लिका नाम की रानी ने इनके विवाद के लिए अपने यहाँ एक विशाल भवन बनवाया था जिसमें घूमते-फिरते 'ब्राह्मण' तथा 'श्रमण' आकर परस्पर शास्त्रार्थ करते थे। बुद्ध इन्हीं श्रमणों में से एक श्रमण था। उसने भी अन्य ब्राह्मणों तथा श्रमणों के समान शास्त्रार्थ किये थे, और अन्त में जिस सिद्धान्त को स्थिर किया, उसका नाम 'प्रतीत्य-समुत्पाद' रखा। 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का अर्थ है संसार में किस कारण से कौन 'कार्य' उत्पन्न होता है, इसे पता लगाते-लगाते अन्त में 'कार्य-कारण' के पूरे चक्र का पता लगा लेना, और उसमें से निकल कर मुक्त हो जाना। बुद्ध का कथन था कि संसार का प्रारम्भ 'अविद्या' से होता है। 'अविद्या' से 'कर्म', 'संस्कार', 'विज्ञान', 'नाम-रूप', 'षडायतन' (छः इन्द्रियाँ), 'स्पर्श', 'वेदना', 'तृष्णा', 'उपादान', 'भव', 'जाति', 'जरा', मरण', 'शोक', 'परिवेदना', 'दुःख' तथा 'दुर्मनसता'—ये क्रमशः उत्पन्न होते हैं। दुःख का नाश करना हो तो पहले

अविद्या का नाश करना आवश्यक है, अविद्या के नाश से क्रमशः दूसरी चीज़ों का नाश उत्तरोत्तर होता चला जायगा।

अगर अविद्या से ही सारा दुःख है, तो अविद्या का नाश करना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से बुद्ध ने 'संघ' की स्थापना की। संघ का उद्देश्य ही अविद्या का नाश कर व्यक्ति को 'निर्वाण' दिलाना था, इसलिए बौद्ध-काल का संघ का इतिहास ही उस समय की 'शिक्षा' का इतिहास है।

प्रवज्या—

जैसे ब्राह्मण-काल में 'उपनयन' संस्कार होता था, वैसे बौद्ध-काल में 'उपनयन' के स्थान में 'प्रवज्या'-संस्कार होता था। जो भी संघ में प्रविष्ट होना चाहे उसकी 'प्रवज्या' आवश्यक थी। प्रवज्या के द्वारा किसी भी दूसरे संघ का 'ब्राह्मण' अथवा 'श्रमण' संघ में प्रविष्ट हो सकता था। प्रवेश के समय कम-से-कम आयु आठ वर्ष की थी, अधिक-से-अधिक कितनी भी हो सकती थी। बड़ी आयु के लोग भी संघ में प्रविष्ट हो सकते थे, छोटी आयु के वालक ब्रह्मचारी के तौर प्रविष्ट होते थे। आधार-भूत विचार यह था कि जो 'प्रवज्या' ले रहा है वह घर को सदा के लिए छोड़ रहा है। ब्राह्मण-काल में जो ब्रह्मचारी वनता था वह घर को तो छोड़ता था, परन्तु विद्या ग्रहण करने के वाद घर में लौट आता था, सिर्फ़ जो व्यक्ति 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' होना चाहता था वही घर को सदा के लिए छोड़ता था। बौद्ध-काल में 'प्रवज्या' ग्रहण करना ही घर को सदा के लिए छोड़ देना था।

'प्रवज्या' का अधिकार सब को था। बुद्ध ने कहा है कि जैसे भिन्न-भिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न नामों से बहती हैं, परन्तु समद्र में जाकर सभी एक हो जाती हैं, वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र जब शाक्य-बुद्ध के संघ में प्रविष्ट होते हैं, तो सब एक हो जाते हैं। बौद्ध-संघ में जाति-पाँति का कोई भेद-भाव न था। उपाली नाई भी संघ में विना भेद-भाव के प्रविष्ट किया गया था।

प्रवज्या लेने के लिए जब कोई आता था तब उसे किसी भिक्षु से प्रवज्या लेनी होती थी। वह उसे पीले कपड़े पहनाकर उससे 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'—यह बुलवाता था। तीन शरणों में आने का अभि-प्राय यह था कि 'बुद्ध'-'धर्म' तथा 'संघ' की शरण में आता हूँ। इस प्रकार शरण में आने के बाद उसे 'दश शिक्षा-पदानि'—दस शिक्षाएँ दी जाती थीं। वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं किसी जीवधारी को नहीं मारूँगा, जो नहीं दिया जायगा उसे नहीं लूँगा, दुराचार नहीं करूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करूँगा, असमय भोजन नहीं करूँगा, नाचना-गाना आदि नहीं करूँगा, गन्ध-माला आदि का सेवन नहीं करूँगा, ऊँची शय्या का सेवन नहीं करूँगा, सोना-चाँदी आदि नहीं लूँगा। ब्राह्मण-काल में वेदारम्भ-संस्कार के समय शिष्य को आचार्य जो उपदेश देता था यह उपदेश लगभग उससे मिलता-जुलता है।

यद्यपि संघ में प्रवेश की सबको खुली छूट थी, तो भी कुछ नियन्त्रण भी था। माता-पिता की आज्ञा के बिना संघ में किसी को प्रविष्ट नहीं किया जाता था। बुद्ध ने इस नियम को रखकर बड़ी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, नहीं तो संघ तथा भारतीय-समाज के परिवारों में सदा संघर्ष बना रहता। तपेदिक, दमा, कुष्ठ, खुजली वालों को भी संघ में नहीं लिया जाता था, नहीं तो सभी में ये बीमारियाँ फैल जातीं। समाज द्वारा अपराधी

ठहराये गये व्यक्तियों के लिए भी संघ का द्वार बंद था, नहीं तो संघ तथा राज्य में संघर्ष उठ खड़ा होता। सेना में काम करने वालों के लिए आवश्यक था कि राज्य की आज्ञा लेकर ही संघ में प्रवेश पा सकें। ऋण से वचने वालों को संघ में नहीं लिया जाता था। इस वात का हर तरह से निश्चय कर लिया जाता था कि संघ द्वारा 'परिवार', 'समाज' तथा 'राज्य' की किसी व्यवस्था में खलवली न मच जाय।

उपसम्पदा—

'प्रवज्या' के बाद 'उपसम्पदा' की बारी थी। 'उपसम्पदा' ग्रहण करने पर व्यक्ति पूरा 'भिक्षु' वन जाता था। 'प्रवज्या' तथा 'उपसम्पदा' में १२ वर्ष का अन्तर होता था। जैसे ब्राह्मण-काल में १२ वर्ष तक गुरुकुल-वास आवश्यक था, वैसे बौद्ध-काल में १२ वर्ष तक 'प्रवज्या' में रहना आवश्यक था। हाँ, यह समय न्यून भी किया जा सकता था। जो व्यक्ति किसी अन्य संघ के सदस्य होते थे उन्हें चार मास में ही 'प्रवज्या' से 'उपसम्पदा' में ले लिया जाता था। ब्राह्मणों में से जटिल नाम के वानप्रस्थी एकदम 'प्रवज्या' से 'उपसम्पदा' में ले लिये जाते थे।

'प्रवज्या' तो किसी भी 'भिक्षु' से ली जा सकती थी, परन्तु 'उपसम्पदा' के लिए संघ के सम्मुख उपस्थित होना पड़ता था। 'उपसम्पदा' के लिए संघ की एक विशेष वैठक बुलाई जाती थी जिसमें कम-से-कम १० भिक्षुओं का होना आवश्यक था। इस बैठक में संघ का वोट लिया जाता था कि अमुक व्यक्ति को 'उपसम्पदा' दी जाय या नहीं। जब यह निश्चय हो जाता था कि उसे 'उपसम्पदा' दी जाय, तब एक भिक्षु उसे अलग ले जाकर उससे भिन्न-भिन्न प्रश्न करता था। उसका नाम क्या है, उसका 'उपाध्याय' अर्थात् गुरु कौन है, कोई

बीमारी तो नहीं, ऋण तो नहीं, सरकारी नौकरी छोड़कर तो नहीं आया, माता-पिता की आज्ञा ली है या नहीं ? ये-सब निश्चय कर चुकने के बाद वह भिक्षु उसे 'संघ' के सम्मुख उपस्थित करता था। इसके बाद कोई दूसरा भिक्षु 'संघ' के सम्मुख प्रस्ताव करता था कि उसे 'संघ' में ले लिया जाय। तीन बार प्रस्ताव दोहराया जाता था, और मौन द्वारा सब सहमति प्रकट करते थे। फिर प्रवेशार्थी को चार 'निश्चय' तथा चार 'अकरणीय' बातों का उपदेश दिया जाता था। चार 'निश्चय' ये थे—भिक्षा-पात्र में एकत्रित करके भोजन करना; फटे-पुराने माँगे हुए कपड़ों से बदन ढकना; वृक्ष के नीचे वास करना; गो-मूत्र का औषधि के रूप में प्रयोग करना। चार 'अकरणीय' ये थे—मैथुन; चोरी; प्राणिवध; चमत्कार करने की शक्ति दिखाना। इन चारों बुरी वस्तुओं का त्याग चार 'अकरणीय' कहाते थे।

यद्यपि 'प्रव्रज्या' तथा 'उपसम्पदा' ग्रहण करने के बाद यही समझा जाता था कि अब गृहस्थाश्रम में लौटकर नहीं जाना, तो भी, अगर कोई इन संस्कारों में से गुज़रने के बाद भी घर-गृहस्थी में लौट जाना चाहता था, तो उसे जबर्दस्ती रोका नहीं जाता था। किसी व्यक्ति के सम्मुख उसका इतना कह देना भर काफ़ी था कि वह अपने भीतर 'बुद्ध'-'धर्म' तथा 'संघ' के पीछे चलने की शक्ति नहीं देख रहा है।

'उपसम्पदा' ग्रहण करने के बाद विद्यार्थी को 'उपसम्पन्न' कहते थे। 'उपसम्पन्न' को 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' के आधीन, उनकी देख-रेख में जीवन बिताना होता था। १० वर्ष तक जो संघ में रह चुका हो वह 'उपाध्याय' कहाता था, ६ वर्ष तक संघ में रह चुकने वाला 'आचार्य' कहाता था। 'उपाध्याय'

का काम 'उपसम्पन्न' को धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा देना था, 'आचार्य' का काम उसके आचार-व्यवहार को देखना था। ब्राह्मण-काल में 'आचार्य' का स्थान 'उपाध्याय' से ऊंचा होता था, परन्तु बौद्ध-काल में 'उपाध्याय' का स्थान 'आचार्य' से ऊंचा था। १० वर्ष तक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' के आधीन शिक्षा ग्रहण करने के बाद 'उपसम्पन्न' स्वयं 'उपाध्याय' अथवा 'आचार्य' बन जाता था, और 'भिक्षु' बन कर अन्य भिक्षुओं को शिक्षा दे सकता था।

ब्राह्मण-काल की तरह बौद्ध-काल में भी शिष्य का काम गुरु की सेवा करना होता था। वह प्रातः उठता था, गुरु को दातुन देता था, मुख धोने के लिए गुरु के लिए पानी लाकर रखता था। फिर उसकी चौकी बिछाकर उसे खाने को देता था, सारे मकान में झाड़ू लगाता था। गुरु बोल रहा हो, तो बीच में नहीं बोलता था। गुरु जब भिक्षा लेने जाता हो, तो उसके बर्तन को साफ़ कर उसकी सारी तैय्यारी कर देता था। स्वयं साथ जाता तो उसके आने से पहले ही लौट आता था। उसके बैठने आदि की पूरी व्यवस्था करता था। गुरु के स्नान के लिए सब सामान जुटाता था, और गुरु-सेवा के सभी काम करता था, गुरु के रोगी पड़ जाने पर जान लड़ा कर उसकी सेवा करता था।

जिस प्रकार शिष्य के लिए गुरु को पिता समझकर उसकी सेवा करना आवश्यक था, इसी प्रकार गुरु के लिए शिष्य को पुत्र समझकर उसकी सब प्रकार की सहायता करना आवश्यक था। शिष्य को पढ़ाना-लिखाना, उसे कपड़े तथा भोजन देना, और रोगी पड़ जाने पर उसकी जी-जान से सेवा करना गुरु के लिए आवश्यक माना गया था। प्रत्येक 'उपाध्याय'

अथवा 'आचार्य' के नीचे कम-से-कम दो, और अधिक-से-अधिक इतने 'उपसम्पन्न' रह सकते थे जितनों की वे अच्छी तरह देख-भाल कर सकते थे।

विहार—

'उपाध्यायों' तथा 'आचार्यों' के आश्रम बिल्कुल बिखरे हुए और असम्बद्ध नहीं होते थे। एक स्थान पर अनेक आश्रमों के निर्माण से 'बिहार' बनते थे। एक-एक विहार में अनेक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' अपने भिक्षु-शिष्यों के साथ रहते थे। ब्राह्मण-काल तथा बौद्ध-काल की शिक्षा-प्रणाली में यह भेद है कि ब्राह्मण-काल में तो 'आचार्य' लोग अपने-अपने आश्रमों में रहते थे, शिष्यों को पढ़ा-लिखा देते थे, व्यक्ति रूप में जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु बौद्ध-काल में अनेक 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' मिलकर एक जगह रहते थे, और उस स्थान का नाम 'विहार' होता था। विहार'-प्रान्त में 'विहार' बहुत थे इसलिए उसे 'बिहार' कहते हैं। कभी-कभी तो एक ही स्थान पर इतने 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' रहते थे कि अपने भिक्षु-शिष्यों को मिलाकर उनकी संख्या हज़ारों तक पहुँच जाती थी। नालंदा के 'विहार' में १० हज़ार भिक्षु निवास करते थे! 'विहारों' में क्योंकि भिन्न-भिन्न 'उपाध्यायों' तथा 'आचार्यों' का निवास होता था अतः वहाँ अनेक प्रकार की नियन्त्रण-सम्बन्धी समस्याएँ भी उठ खड़ी होती थीं। कभी-कभी एक 'उपाध्याय' के शिष्यों को दूसरे 'उपाध्याय' 'विहार' में से निकाल देते थे, इस पर बुद्ध ने नियम बनाया कि जिस 'उपाध्याय' का कोई शिष्य हो उसकी बिना अनुमति के उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। कभी-कभी एक 'उपाध्याय' के शिष्य को दूसरे उपाध्याय के शिष्य बहका कर अपनी मंडली में सम्मिलित कर लेते थे। इस पर

बुद्ध ने नियम बनाया कि कोई 'उपाध्याय' दूसरे 'उपाध्यायों' के शिष्यों को अपने पास नहीं रखेगा। अगर कोई शिष्य प्राणी-वध, चोरी, व्यभिचार, झूठ, नशा-सेवन, 'बुद्ध'-'धर्म'-'संघ' की निन्दा तथा भिक्षुणियों के साथ दुर्व्यवहार करता हुआ पाया जाता था, तो बिना दूसरे 'उपाध्यायों' की सलाह के 'विहार' से निकाल दिया जाता था

भोजन, वस्त्र, तथा निवास के नियम—

भिक्षु का जीवन अत्यन्त सादा होता था। भिक्षा-पात्र, सुई, धागा, कैंची, औषध, चप्पल तथा जल छानने के कपड़े के सिवाय उसकी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। भोजन के लिए भिक्षा-वृत्ति का विधान था। भिक्षा के लिए विस्तृत नियम बने हुए थे। भिक्षा के लिए जाते समय कपड़ा पहन कर जाना चाहिए। हंसना, बोलना आदि नहीं चाहिए। किसी घर में जाते हुए बाहर आने का मार्ग पहले देख लेना चाहिए। घर से बहुत दूर, बहुत निकट या कहीं बहुत देर तक भिक्षा के लिए नहीं खड़ा रहना चाहिए। कोई देवी भिक्षा दे रही हो, उसकी तरफ़ आँख उठा कर नहीं देखना चाहिए। ब्राह्मण-काल में तो पुकार कर भिक्षा माँगी जाती थी, बौद्ध-काल में चुपके-से भिक्षा लेने का विधान था। एक प्रकार से भिक्षा देना गृहस्थी का ऊंचा अधिकार समझा जाता था, वह माँगी नहीं जाती। जो गृहस्थ 'बुद्ध', 'धर्म' या 'संघ' की निन्दा करें उनसे भिक्षा करने को मना किया गया है। लिछवी स्थान के 'वद्ध' व्यक्ति ने 'भल्ल' के 'दब्ब' पर कुछ अनुचित आरोप किये थे। परिणाम-स्वरूप संघ ने लिछवी के वद्ध का भिक्षा के लिए बहिष्कार कर दिया, और उसके प्रायश्चित्त करने पर बहिष्कार को उठाया। इसके लिए 'संघ' को विशेष प्रस्ताव करना पड़ा। कई भिक्षुओं को

इकट्ठा किसीके घर नही पहुँचना चाहिए, एक ही स्थान से तीन से अधिक भिक्षु भिक्षा नहीं ले सकते थे। दूसरे के पास की भिक्षा को लालच की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। खाते हुए सने हुए हाथों से जल-पात्र को नहीं उठाना चाहिए। जब तक सब भिक्ष भोजन न करलें तब तक मुख्य-भिक्षु को हाथ धोने के लिए जल नहीं लेना चाहिए। अगर कोई धनिक सदा के लिये भिक्षा का निमन्त्रण दे तब भी चार मास से अधिक एक ही 'उपासक' के यहाँ भिक्षा नहीं करनी चाहिए।

बुद्ध के समय में निगन्थ, अचेलक तथा आजीवक नाम के सम्प्रदाय थे, जो वस्त्र-धारण नहीं करते थे। बुद्ध ने तो हर दिशा में 'मध्य-मार्ग' का उपदेश दिया था, इसलिए वस्त्रों के सम्बन्ध में भी उसका यही उपदेश था कि उचित तथा पर्याप्त वस्त्रों को धारण करना चाहिए। एक भिक्षु नग्न होकर बुद्ध के पास आकर कहने लगा कि वस्त्रों का धारण निषिद्ध कर दिया जाय। बुद्ध ने उसे कहा, मूर्ख! तू वस्त्र धारण क्यों नहीं करता ? बुद्ध ने वस्त्र को तीन भागों में बाँटा था, अतः अङ्ग ढांपने के वस्त्र को 'त्रिचीवर' कहते थे। 'त्रि-चीवर' के तीन भाग थे—'अन्त-र्वासिक', 'उत्तरासंग' तथा 'संघाती'। 'अन्तर्वासिक' लंगोटे की तरह का था, 'उत्तरासंग' शरीर ढांपने का वस्त्र था, और 'संघाती' बाहर से कमर को बाँधने का वस्त्र था।

निवास के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों में यह लिखा है कि पहले-पहल भिक्षु लोग कहीं नहीं रहते थे, स्थान-से-स्थान में फिरा करते थे। राजगृह के सेठ ने यह देखकर बुद्ध से कहा कि मैं भिक्षुओं के रहने के लिए निवास-स्थान बनाना चाहता हूँ। बुद्ध ने उसे ५ प्रकार के निवास-स्थान बनाने की आज्ञा दी। 'विहार'-'अद्धयोग'-'प्रासाद'-'हर्म्य' तथा 'गुहा'। 'विहार' कई मञ्जिलों

के मकान को कहते थे। इसके चारों तरफ़ 'आराम' या एक सुन्दर बाग़ीचा होता था। 'अद्धयोग' गरुड़ के आकार के मकान को कहते हैं। 'प्रासाद' और 'हर्म्य' महल जैसे मकानों को कहते हैं। 'गुहा' कन्दरा को कहते हैं। बुद्ध की आज्ञा पाकर राजगृह के श्रेष्ठी ने एक ही दिन में ६० निवास स्थानों का निर्माण कर दिया, और उन्हें संघ को सौंप दिया। वर्षा ऋतु में इन निवास-स्थानों में भिक्षु लोग 'वर्षा-वास' करने लगे। इन निवास-स्थानों में 'जेतवन-विहार' अत्यन्त प्रसिद्ध था। कहते हैं कि जेत नामक राजा का एक 'आराम' था, जङ्गल था, जो 'विहार' के लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान था। बुद्ध के शिष्य अनाथ पिंडिक के हृदय में इच्छा हुई कि वहाँ पर एक 'विहार' बना कर संघ की भेंट कर दिया जाय। उसने जेत से उस स्थान का दाम पूछा। जेत ने कहा कि अगर इस स्थान में सुवर्ण की मोहरें बिछा दी जाँय तब भी इसका दाम नहीं चुकाया जा सकता। अनाथ पिंडिक सुवर्ण-मोहरों को बिछाकर उस स्थान को लेने के लिए तैयार हो गया। जेत बहुत चकराया, परन्तु उसने देने से फिर भी इन्कार किया। मामला अदालत में गया, और अनाथ पिंडिक की शर्त पर वह स्थान दिये जाने का फ़ैसला हुआ। सेठ ने उस स्थान को अशर्फ़ियों से पाट दिया। थोड़ा सा स्थान फिर भी बच रहा। जेत ने इस भक्ति को देख कर उस बचे हुए स्थान को अपनी तरफ़ से देने को कहा, और वहाँ 'जेतवन' नामक 'विहार' बना। 'जेतवन' की तरह अनेक विहार प्रसिद्ध थे। यष्टि-वन, वेणु-वन, शीत-वन, राज-गृह में थे; जेत-वन और पूर्वाराम श्रावस्ती में थे; महा-वन, कूटागार, आम्र-वन वैशाली में थे; न्यग्रोधाराम कपिलवस्तु में था। ये सब 'विहार' भिक्षुओं के शिक्षा-केन्द्र थे।

शिक्षा के विषय—

'विहारों' में बौद्ध-भिक्षुओं की शिक्षा का प्रबन्ध था, उन्हें बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों का ज्ञान कराया जाता था। बौद्ध धर्म-ग्रन्थ 'त्रिपिटिक' कहलाते थे। 'उपाध्याय' तथा 'आचार्य' विहारों में बैठकर 'त्रिपटिक' की शिक्षा देते थे। 'त्रिपिटक' के तीन हिस्से हैं : 'विनय-पिटक', 'सुत्त-पिटक' तथा 'अभिधम्म-पिटक'। 'विनय-पिटक' में भिक्षुओं के नियन्त्रण का वर्णन है। भिक्षु-भिक्षुणियों को कैसे रहना चाहिए—इस-सब का वर्णन 'विनय-पिटक' में किया गया है। 'विनय-पिटक' के पाँच हिस्से हैं—भिक्खु-विभंग, भिक्खुनी-विभंग, महावग्ग, चुल्लवग्ग तथा परिवार पाठ। 'सुत्त-पिटक' में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इसके भी पाँच भाग हैं—दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुक्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय, खुद्दक-निकाय। 'अभिधम्म पिटक' में आध्यात्मिक बातों का उल्लेख है। इसके ७ भाग हैं—धम्म-संगनी, विभंग, कथावत्थु, पुग्गल-पञ्ञति, धातु-कथा, यमक, पत्थान। बौद्ध-काल में संस्कृत में पढ़ाने के स्थान में देशी भाषाओं में शिक्षा देना ही सर्वोत्तम समझा जाता था।

इस प्रकार 'त्रिपिटकों' के ज्ञान के साथ-साथ व्याकरण आदि का ज्ञान भी भिक्षुओं को कराया जाता था।

प्रश्न

१. बौद्ध-काल में ब्राह्मणों तथा श्रमणों का पारस्परिक क्या संबंध था और इनमें बुद्ध का कहां स्थान था?
२. बुद्ध के 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का क्या अर्थ है?
३. 'उपनयन' तथा 'प्रवज्या' की तुलना करते हुए 'प्रवज्या' का वर्णन कीजिये।
४. 'उपसम्पदा' क्या थी? उसका वर्णन कीजिये?
५. 'विहारों' के विषय में आप क्या जानते हैं?
६. भिक्षु के लिए भोजन, वस्त्र तथा निवास के क्या नियम थे?
७. भिक्षुओं को क्या-कुछ पढ़ाया जाता था?

३०

तक्षशिला तथा नालन्दा विश्वविद्यालय

(EDUCATION IN TAXILA AND NALANDA UNIVERSITIES)

१——तक्ष-शिला

(६ठी से ४थी शताब्दी ई० पू०)

जो लोग बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लेते थे उनकी शिक्षा का काम तो बौद्ध-संघ के हाथ में चला जाता था, उन्हें धार्मिक शिक्षा ही दी जाती थी, जो बौद्ध-धर्म ग्रहण नहीं करते थे, उनकी शिक्षा भी प्राचीन ब्राह्मण-पद्धति का अनुसरण करते हुए भिन्न-भिन्न शिक्षा-केन्द्रों द्वारा चलती थी। एक-एक आचार्य के पास पाँच-पाँच सौ शिष्य रहते थे। इस प्रकार के आश्रम भारत के कोने-कोने में बिछे पड़े थे। उस समय ६ठी शताब्दी ई० पू० में उत्तर-भारत में गान्धार की राजधानी 'तक्ष-शिला' थी, जो शिक्षा का एक बड़ा भारी केन्द्र थी। यह वर्तमान रावलपिंडी के निकट थी। उस समय की शिक्षा को समझने के लिए 'तक्ष-शिला'-विश्वविद्यालय का वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा।

जातक-ग्रन्थ में एक कथा आती है कि काशी के राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र जब १६ वर्ष का हो गया, तो उसे १ चप्पल, १ छाता तथा एक हज़ार मुद्राएँ देकर राजा ने कहा, बेटा ! जाओ तक्ष-शिला में जाकर विद्याध्ययन करो। यद्यपि बनारस में अनेक पंडित थे, तो भी उन दिनों यह प्रथा थी कि बालक को

विद्याध्ययन के लिए दूर देश में भेजा जाता था ताकि वह संसार का ऊंच-नीच भी समझ सके। बालक माता-पिता को नमस्कार कर कुछ दिनों में तक्ष-शिला आ पहुँचा। वहाँ पर इस थके-माँदे विद्यार्थी को देखकर गुरु ने पूछा, तुम कौन हो, कहां से, और क्यों आए हो? विद्यार्थी ने कहा, मैं काशी के राजा का पुत्र हूं, विद्याध्ययन के लिए आया हूँ। गुरु ने पूछा कि क्या गुरु-दक्षिणा भी साथ में लाए हो, या गुरु-सेवा द्वारा ही दक्षिणा चुका देना चाहते हो? विद्यार्थी ने एक हज़ार मुद्राएँ गुरु के चरणों में रख दीं और विद्याभ्यास करने लगा।

तक्ष-शिला उन दिनों विद्या का केन्द्र था। बनारस, राज-गृह, मिथिला, उज्जयिनी, कोशल, मध्य-प्रदेश, शिवि, कुरु, तथा उत्तर-देश से विद्यार्थी वहाँ पढ़ने को आते थे। वहाँ के आचार्य जगत्-प्रसिद्ध थे। किसी एक ही प्रकार की शिक्षा वहाँ नहीं दी जाती थी, वेदों के साथ-साथ धनुर्विद्या, आयुर्वेद का ज्ञान, चित्रकारी, स्तूप-निर्माण तथा अन्य विद्याएं भी सिखाई जाती थीं। धनी-मानी लोग अपने पुत्रों को इसी जगह विद्याभ्यास के लिए भेजते थे। अगर उनका पुत्र विद्याभ्यास पूर्ण करके उनके जीवन-काल में ही लौट आता था, तो वे अपने को धन्य मानते थे। तक्ष-शिला उच्च-शिक्षा का केन्द्र था। छोटी आयु के बालक वहाँ नहीं जाते थे। शिक्षा-शुल्क एक हज़ार मुद्रा लिया जाता था। जो शुल्क नहीं दे सकते थे, वे गुरु-सेवा द्वारा शुल्क चुका देते थे। दिन को वे काम करते थे, रात को पढ़ते थे। जो शुल्क भी नहीं दे सकते थे, और रात को भी नहीं पढ़ना चाहते थे, वे विद्या समाप्त करने के बाद शुल्क चुकाते थे, परन्तु शुल्क न दे सकने के कारण किसी को विद्या से वंचित नहीं किया जाता था। जनता के धनी-मानी लोग विद्यार्थियों को

भोजन देते थे। तक्ष-शिला के ५०० विद्यार्थियों को आस-पास के गाँवों के लोगों द्वारा भोजन देने का वर्णन मिलता है। राज्य की तरफ़ से भी सहायता दी जाती थी। तक्ष-शिला में कई ब्राह्मणों को कई राजा लोग छात्र-वृत्ति देकर पढ़ाते थे। जो शुल्क लिया जाता था वह गुरु के लिए नहीं होता था, वह विद्यार्थियों के भरण-पोषण पर ही व्यय हो जाता था। यह आवश्यक नहीं था कि सब विद्यार्थी आश्रम में ही रहें। बनारस का एक राजकुमार शहर में अपने घर में रहता था, और तक्ष-शिला में पढ़ने आया करता था। कई विद्यार्थी विवाहित भी होते थे, वे घर पर रहते थे, और पढ़ने तक्ष-शिला जाया करते थे। सब विद्यार्थी एक समान रहते थे। काशी के राजा का पुत्र १ चप्पल लेकर ही आया था, और १ हज़ार मुद्राएं जो लाया था उन्हें गुरु के अर्पण कर चुका था, उसके पास अन्य धन नहीं था। एक अन्य राजकुमार का वर्णन आता है कि रात को चलते हुए एक ब्राह्मण विद्यार्थी का भिक्षा-पात्र उसकी ठोकर से टूट गया। उसे दंड दिया गया कि एक समय भोजन करके दाम चुकता करो। उसने कहा कि जब मैं घर लौट कर जाऊंगा, राज हाथ में लूंगा, तब सब दाम चुकता कर दूंगा! इससे भी यही प्रतीत होता है कि विद्यार्थी लोग ग़रीबी से जीवन व्यतीत करते थे। ५०० विद्यार्थियों को एक गुरु के लिए पढ़ा सकना कठिन था, इसलिए तीव्र-बुद्धि शिष्यों से भी गुरु लोग पढ़ाने में सहायता लेते थे। तक्ष-शिला का एक अध्यापक जब किसी काम से बनारस जाने लगा तब अपने शिष्य को अपने स्थान पर पढ़ाने के लिए नियुक्त कर गया, इसी को आजकल 'मॉनीटर' प्रणाली कहा जाता है। दिन में कई बार पाठ चलता था। ग़रीब विद्यार्थियों के लिए जो दिन को काम करते थे, रात को पाठ चलता था। तक्ष-शिला

में तीनों वेदों तथा १८ शिल्पों के अध्ययन के लिए विद्यार्थी आते थे। तक्ष-शिला के भिन्न-भिन्न विद्यालयों में हस्त-विद्या, जादूगरी, मुर्दों को जिलाना, शिकार, पशुओं की आवाज़ों को समझना, धनुर्विद्या, भविष्यवाणी करना, आयुर्वेद आदि विद्याएं पढ़ाईं जाती थीं और प्रत्येक विद्यालय उस विषय के धुरंधर विद्वान् के आधीन शिक्षा देता था।

पढ़े हुए का क्रियात्मक ज्ञान लेना तक्ष-शिला के विद्यार्थियों के लिए आवश्यक था। मगध का राजकुमार तक्ष-शिला में सब कलाओं का अध्ययन करने के अनन्तर गाँव-गाँव में, शहर-शहर में क्रियात्मक अनुभव लेने के लिए विचरण करता रहा। तक्ष-शिला के श्वेतकेतु नामक विद्यार्थी के विषय में लिखा है कि सब कलाओं का क्रियात्मक अध्ययन करने के लिए वह भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करता रहा। मगध के एक राजकुमार का वर्णन करते हुए लिखा है कि तक्ष-शिला में शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर वह क्रियात्मक अनुभव लेने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों के लिए चल पड़ा। तक्ष-शिला ने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किये। चाणक्य जो चन्द्रगुप्त का सलाहकार था, वहीं का पढ़ा हुआ था। भारत का सब से प्रसिद्ध व्याकरण का विद्वान् पाणिनी भी तक्ष-शिला का ही विद्यार्थी था। चीर-फाड़ के वैद्य जीवक ने यहीं विद्याध्ययन किया था। तक्ष-शिला से विद्याध्ययन कर चुकने पर यहाँ के विद्यार्थियों ने बनारस आदि में अनेक विद्या-केन्द्र खोले थे जहाँ तक्ष-शिला की तरह ही सैकड़ों शिष्यों को लेकर गुरु लोग बालकों को पढ़ाते थे।

जीवक—

तक्ष-शिला में शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर विद्यार्थी की कितनी उच्च योग्यता हो जाती थी, इसका दृष्टान्त जीवक की

जीवन-कथा से मिलता है। वह राजगृह की नगर-वधू शालवती का लड़का था जिसे कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया था। अभय नामक राजकुमार ने उसे जीवित उठा लिया और उसे पाला-पोसा। जीवक जब बड़ा हुआ तो उसने सोचा कि राज-घरानों में रह कर बिना किसी हुनर के जीवन-निर्वाह कठिन है, अतः तक्ष-शिला जाकर कुछ सीख आऊं। उसने तक्ष-शिला जा कर एक जगत्-विख्यात गुरु से चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। ७ वर्ष तक विद्याध्ययन करने के बाद उसने गुरु से पूछा कि मेरा विद्याध्ययन कब समाप्त होगा? गुरु ने जीवक को कहा कि तक्ष-शिला के चारों तरफ़ एक योजन तक जाकर देखो और जिस बूटी का तुम्हें ज्ञान न हो उसे उखाड़ कर ले आओ। जीवक ने चार दिन तक चारों तरफ़ घूम कर देखा, और गुरु से आकर कहा कि मुझे कोई भी बूटी ऐसी नहीं मिली जिस का औषधि के रूप में मैं प्रयोग नहीं जानता। गुरु ने कहा, जीवक! तुम्हारा अध्ययन समाप्त हो गया, अब तुम घर जा सकते हो, यह कहकर उसने जीवक को मार्ग-व्यय के लिए कुछ धन दिया। यह धन इतना ही था कि जीवक साकेत पहुँच सका। वहाँ जाकर उसे कुछ कमाने की आवश्यकता अनुभव हुई। साकेत में एक सेठ की पत्नी ७ साल से सिर की बीमारी से पीड़ित थी। सब वैद्यों का इलाज हो चुका था, कुछ लाभ नहीं हुआ था। जीवक ने प्रस्ताव किया कि उसे तभी कुछ दिया जाय अगर रोगिणी को वह ठीक करदे। उसने रोगिणी को नाक से औषध दी और वह एक ही मात्रा से ठीक हो गई। सेठ ने जीवक को १६,००० मुद्राएं दीं, गाड़ी-घोड़े दिये। जीवक ने राजगृह लौट कर इन उपहारों को उस राजकुमार की भेंट कर दिया जिसने उसे पाला-पोसा था। इसके वाद जीवक ने महाराज बिम्बसार

का नासूर ठीक किया और राजा ने उसे राज-वैद्य नियुक्त कर दिया, साथ ही 'बुद्ध' तथा 'संघ' का भी उसी को वैद्य नियुक्त किया। राजगृह में एक सेठ सात साल से सिर की बीमारी से पीड़ित था। जीवक ने उसे चारपाई से बाँध दिया, सिर का आपरेशन किया, सिर के व्रण में से दो कृमि निकाले, और सिर को सी-कर मरहम लगा दी। वह सेठ कुछ ही दिनों में ठीक हो गया। बनारस में किसी सेठ के लड़के की आँतें उलझ गईं थीं, वह खा-पी नहीं सकता था। जीवक ने उसका पेट चीरा, उलझी आँतें निकालीं, उन्हें सुलझाया, फिर ठीक स्थान में रख कर सी दिया। कुछ ही दिनों में लड़का ठीक हो गया। सेठ ने जीवक को १६ हज़ार मुद्राएं भेंट कीं। यह थी जीवक की विद्या।

२---नालन्दा

(७वीं शताब्दी ई० प०)

बौद्ध-संघ की स्थापना के समय भारतीय-शिक्षा का क्या रूप था, इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। पाँचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फ़ा-हियान (Fa-hien) भारत में आया था। वह ३९९ से ४१४ ई० प० तक १५ वर्ष भारतवर्ष में भ्रमण करता रहा। उसने उद्यान (स्वात) में ५०० संघाराम (बौद्ध-संघ के मठ) पाये जिनमें अनेक बौद्ध-भिक्षु हीनयान सम्प्रदाय के मानने वाले रहते थे। पंजाब में अनेक विहार थे, जिनमें हीनयान तथा महायान सम्प्रदायों के मानने वाले भिक्षु रहते थे। यमुना के किनारे-किनारे लगभग २० विहार थे जिनमें ३००० भिक्षु शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। फ़ा-हियान के वर्णन में तक्ष-शिला का उल्लेख नहीं है जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक यह विश्व-विद्यालय क्षीणप्राय हो चुका था। पुष्कर (पेशावर) में एक विहार था जिसमें ७०० भिक्षु रहते थे।

श्रावस्ती का जेतवन विहार फल-फूल रहा था। कुशी-नगर में जहाँ बुद्ध का देहान्त हुआ था, अनेक विहार थे। वैशाली में बुद्ध के समय अम्बपाली द्वारा निर्मित विहार वैसा ही मौजूद था। पाटलीपुत्र, राजगृह, गया, बनारस, कौशाम्बी, ताम्रलिप्ति आदि सभी स्थानों पर प्राचीन बौद्ध परम्परा के अनुसार विहार चल रहे थे जिनमें भिक्षु शिक्षा पाते थे।

फ़ा-हियान के दो शताब्दी बाद हुएन्त्सांग (Hiuen Tsang) भारत आया, और ६२९ से ६४५ ई० प० तक १६ वर्ष यहाँ रहा। यहाँ से जाते हुए ६५७ बौद्ध धर्म-पुस्तकें और २० खच्चरों पर बुद्ध के अन्य अवशेष लाद कर ले गया। उसने भिन्न-भिन्न स्थानों में फिर कर प्राचीन विहारों का निरीक्षण किया। कई ठीक तरह से चल रहे थे, कई खण्डहर हो चुके थे। उस समय भी ५००० के लगभग विहार थे जिनमें २१२१३० भिक्षु प्राचीन बौद्ध-प्रणाली के अनुसार विद्याभ्यास कर रहे थे। हुएन्त्साँग ने अनेक विहारों का वर्णन किया है जिसमें नालन्दा का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। हुएन्त्साँग ६४५ ईस्वी में भारत से वापस लौटा; इत्सिग (I-tsing) ६७२ ईस्वी में भारत आया और ६८७ ई० तक यहाँ रहा। इस बीच १० वर्ष उसने नालन्दा में व्यतीत किये। हम यहाँ हुएन्त्साँग तथा इत्सिग का दिया हुआ नालन्दा का वर्णन करेंगे जिससे ७वीं शताब्दी की भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर प्रकाश पड़े।

बिहार-प्रान्त के राजगिरी स्थान से ७ मील दूरी पर 'बरगाँव' नामक स्थान है। प्राचीन-काल में इसी का नाम 'नालन्दा' था। हुएन्त्साँग लिखता है कि 'नालन्दा' का अर्थ है, 'न—अलं—दा'—जो देता ही चला जाय, देते-देते जिसका

जी न भरे। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ विद्या भर पेट दी जाती थी, विद्या-दान में किसी का जी न अघाता था। प्राचीन-काल में ५०० व्यापारियों ने बुद्ध को १० कोटि सुवर्ण-मुद्रा से ख़रीद कर यह स्थान भेंट किया था और पीछे गुप्त-सम्राटों ने १०० गाँवों की आमदनी दान देकर 'नालन्दा' की निःशुल्क-शिक्षा को हरा-भरा रखा था। यद्यपि गुप्त-सम्राट् हिन्दू-धर्म के अनुयायी थे, तो भी उन्होंने बौद्ध-संस्था को दिल खोल कर सहायता दी थी—इससे उनके उदार विचारों का पता चलता है। विश्व-विद्यालय के चारों तरफ़ एक दीवार थी जिसे गुप्त राजा हर्ष ने बनवाया था। नालन्दा के भवन छः मंज़िले थे, ऊपर की मंज़िलें बादलों में सिर ऊंचा किये खड़ी थीं। आठवीं शताब्दी के राजा यशोवर्मन् का एक शिला-लेख मिला है जिससे हुएन्त्साँग के कथन की पुष्टि होती है। शिला-लेख में नालन्दा की 'विहारावली' का वर्णन करते हुए उसकी 'शिखर-श्रेणी' को 'अम्बुधरावलेही' —मेघों का चुम्बन करने वाली लिखा है। भूमि में चारों तरफ़ सरोवर बने हुए थे जिनमें भांति-भांति के कमल खिल रहे थे।

नालन्दा के चालू खर्च के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न राजा दान देते थे और भिक्षुओं के भोजन का भी प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार जो धन-राशि आती थी उससे भिक्षुओं को वस्त्र, भोजन, बिस्तर, औषध आदि सब-कुछ मुफ्त दिया जाता था। हुएन्त्साँग के समय वहाँ १० हज़ार विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। चीनी-यात्री के विवरणों से ज्ञात होता है कि किसी समय वहाँ १५१० अध्यापक तथा ८५०० विद्यार्थी थे। नालन्दा में ८ बड़े-बड़े हॉल थे, ३० छोटे-छोटे कमरे थे, इन में भिन्न-भिन्न विषयों पर १०० व्याख्यान प्रतिदिन होते थे। विश्वविद्यालय

में प्रवेश पाने के लिए जो विद्यार्थी आते थे उनकी प्रवेश-द्वार पर ही 'द्वार-पंडित' परीक्षा लेते थे। यह परीक्षा इतनी कठिन होती थी कि १० में से २-३ विद्यार्थी ही नालन्दा में प्रवेश पा सकते थे, शेष लौट जाते थे क्योंकि नालन्दा उच्च शिक्षा का ही केन्द्र था।

नालन्दा की पढ़ाई की चर्चा करते हुए इत्सिग ने लिखा है कि वहाँ 'पंच-विद्या' मुख्य तौर पर पढ़ाई जाती थीं। वे थीं—(१) 'शब्द-विद्या' अर्थात् व्याकरण, (२) 'शिल्प-स्थान-विद्या' अर्थात् कला, (३) 'चिकित्सा-विद्या', (४) 'हेतु-विद्या' अर्थात् न्याय-शास्त्र तथा (५) 'अध्यात्म-विद्या'। इससे यही प्रतीत होता है कि यद्यपि नालन्दा महायान-सम्प्रदाय का केन्द्र था, तो भी वहाँ सब प्रकार की विद्याएं पढ़ाई जाती थीं।

उन दिनों नालन्दा की चारों तरफ़ धूम थी। तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, बर्मा, सुमात्रा, जावा, तुर्किस्तान से विद्यार्थी यहाँ आते थे। प्रातः से सायं तक वाद-विवाद होते थे। प्रश्नोत्तर होते थे, और जैसे गुरु शिष्यों को पढ़ाने में सहायता देते थे वैसे शिष्य लोग एक-दूसरे को पाठ के समझने में सहायता देते थे। नालन्दा का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया था कि प्रतिष्ठा पाने के लिए यह कह देना पर्याप्त था कि मैंने नालन्दा में शिक्षा पाई है। कई झूठ-मूठ अपने को नालन्दा का विद्यार्थी कहने लगे थे। क्योंकि नालन्दा में हरेक प्रवेश नहीं पा सकता था इसलिए नालन्दा के पढ़े हुए को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

नालन्दा में एक विशाल पुस्तकालय था जिसका नाम 'धर्म-गंज' था। इस पुस्तकालय के तीन भवन थे—'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' तथा 'रत्न-रंजक'। इनमें 'रत्नसागर' नौ मंज़िल ऊंचा था, और इसमें 'प्रज्ञा-पारमिता-सूत्र' तथा अन्य अनक

दुष्प्राप्य-ग्रन्थों का संग्रह था ।

भारत के भिन्न-भिन्न कोनों से विद्वान् शिक्षा ग्रहण करने नालन्दा आते थे, उनमें से नागार्जुन तथा उसके शिष्य आर्यदेव के नाम विशेष उल्लेख के योग्य हैं । ये दोनों दक्षिण-भारत के थे। नागार्जुन तथा आर्यदेव चौथी शताब्दी में नालन्दा आये थे, जिससे प्रतीत होता है कि यह संस्था चौथी शताब्दी में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। इन दोनों ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। हुएन्त्साँग के समय नालन्दा का कुलपति शीलभद्र था। वह जन्म से ब्राह्मण था, संन्यास ले चुका था और न्याय-शास्त्र का महान् पंडित था। शीलभद्र से पूर्व नालन्दा का कुलपति धर्मपाल था, जो हुएन्त्साँग के आने के समय अवकाश ग्रहण कर चुका था। यह व्याकरण का पंडित था और दक्षिण भारत का रहने वाला था। ये सब विद्वान् दूर-दूर से आकर नालन्दा में टिक गये थे, इससे ज्ञात होता है कि नालन्दा की ख्याति सब जगह फैल चुकी थी।

भारतवर्ष की शिक्षा के इस विशाल केन्द्र को पुस्तकालय समेत बख्तियार ने मुहम्मद ग़ौरी के समय १२०० ईस्वी में जला कर राख कर दिया। इसी बख्तियार ने भारत के एक दूसरे विश्वविद्यालय विक्रमशिला को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

प्रश्न

१. तक्षशिला का वर्णन कीजिये।
२. नालन्दा का वर्णन कीजिये।

३१

मध्य-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN MEDIEVAL PERIOD)

१—'मुसलमान'-काल में शिक्षा

भारत का मध्य-काल का इतिहास 'मुसलमान' तथा 'मुग़ल' बादशाहों का इतिहास है। 'मुसलमान'-काल के छः भाग किये जाते हैं—'गौरी वंश', 'ग़ुलाम-वंश', 'ख़िलजी-वंश', 'तुग़लक-वंश', 'सैय्यद-वंश', तथा 'लोदी-वंश'। 'मुग़ल-काल' का प्रारम्भ बाबर से होता है, और यह अंग्रेज़ों के भारत में आने पर समाप्त होता है। 'मुसलमान'-काल ११७४ से १५२६ तक है। 'मुग़ल-काल' १५२६ से १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ—अंग्रेज़ों के यहाँ आने—तक है।

जिस प्रकार हम देख चुके हैं कि ब्राह्मण तथा बौद्ध-काल में धार्मिक-शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था, इसी प्रकार मुसलमानों तथा मुग़लों के काल में इस्लाम की शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। यहाँ के लोगों में तो एक-दूसरे के विचारों के लिए सहिष्णुता तथा सहानुभति थी भी, परन्तु मुसलमानों में मूर्तिपूजा के भंजन के प्रति ही विशेष उत्साह था। वे मूर्ति-पूजा के केन्द्र मन्दिरों को तोड़ते थे, मस्जिदें बनवाते थे, अन्य मतावलम्बियों को मुसलमान बनाते थे, यहाँ के प्रचलित शिक्षणालयों की जगह अपने तथा अन्य मतों से

मुसलमान बने हुए बालकों को शिक्षा देने के लिए 'मक़तब' तथा 'मदरसे' खोलते थे।

ग़ौरी वंश के मुहम्मद ग़ौरी (११७४-१२०६) ने अजमेर में मन्दिर तुड़वाकर उनकी जगह मस्जिदें बनवायीं और कुछ शिक्षणालय भी खोले। उसका कोई पुत्र न था, परन्तु उसके पास अनेक ग़ुलाम थे। इन ग़ुलामों की शिक्षा का उसने प्रबन्ध किया था। इन्हीं ग़ुलामों में से एक का नाम कुतुबुद्दीन था, जो मुहम्मद ग़ौरी के पीछे दिल्ली का बादशाह बना, और उसके नाम से ग़ुलाम-वंश (१२०६-१२९०) चला। कुतुबुद्दीन ने भी मन्दिर तोड़कर मस्जिदें बनवायीं, इसी के अफ़सर बख़्तियार ने नालन्दा तथा विक्रमशिला विश्वविद्यालयों को तहस-नहस किया। इसने मस्जिदों के साथ 'मक़तब' तथा 'मदरसे' खोले। ग़ुलाम-वंश के बाद ख़िलजी वंश (१२९०-१३२०) आया। इस वंश के अलाउद्दीन ने अपने पूर्वजों द्वारा मुल्लाओं को दी हुई जायदादें ज़ब्त करलीं, और शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं दिया। ख़िलजी-वंश के बाद तुग़लक-वंश (१३२०-१४१४) आया। इस वंश के मुहम्मद तुग़लक ने दिल्ली को उजाड़ कर दौलताबाद में नई दिल्ली बसाना चाहा जिससे सब बने-बनाये मदरसे उजड़ गये, दिल्ली जो विद्वानों का केन्द्र थी, उसमें कोई विद्वान् ढूंढने को न मिलता था। बाद को इस वंश के फ़िरोज तुग़लक के समय अवस्था कुछ सुधर गई। उसके पास १८ हज़ार ग़ुलाम थे। वह उनकी शिक्षा के विषय में विशेष चिंतित था। कहते हैं कि उसने ५० मदरसों की स्थापना की। जो शिक्षणालय ग़ुलामों के लिए खोले गये थे, उनमें उन्हें हाथ की कारीगरी, किताबत तथा दूसरे काम सिखाए जाते थे। १३९८ में तैमूर ने दिल्ली पर हमला किया जिससे जब सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गय

तब स्वभावतः शिक्षा की प्रगति भी रुक गई। तुग़लक-वंश के बाद सय्यद-वंश (१४१४-१४५१) आया। सय्यदों ने बदायूं को शिक्षा का केन्द्र बनाया। सय्यद लोग शक्तिहीन और निकम्मे, थे, ये कुछ न कर सकें, और दिल्ली राज्य का पतन होने लगा। इस समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों के शासक स्वतन्त्र होने लगे थे परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ-साथ उन्होंने शिक्षा का भी उत्तम प्रबन्ध किया। जौनपुर में इब्राहीन शर्की ने अनेक मदरसे स्थापित किये, इन्हें जागीरें लगा दी गईं, सफल विद्यार्थियों को इनाम, तमग़े, जागीरें दी जाने लगीं। उस समय जौनपुर भारत की मुसलमानी-शिक्षा का केन्द्र बन गया था। बीजापुर, गोलकुंडा आदि सभी स्थानों पर शिक्षा को प्रोत्साहन मिलने लगा। बीजापुर का पुस्तकालय एक विशाल रूप धारण कर गया। औरंगजेब जब बीजापुर गया तो वहाँ से गाड़ियाँ भर कर पुस्तकें लाया। सय्यद-वंश के बाद लोदी वंश (१४५१-१५२६) आया। सिकन्दर लोदी ने आगरा को शिक्षा का केन्द्र बनाया। उसने अपनी सेना के सिपाहियों को शिक्षा देने के लिए अनेक मदरसे खोले। उसकी साहित्यिक-गोष्ठी में १७ विद्वान् थे। वह स्वयं कवि तथा साहित्य-प्रेमी था। उसी के समय 'तिब्ब-ए-सिकन्दरी' का निर्माण हुआ, जो चिकित्सा का ग्रन्थ था। यद्यपि मुसलमानों की धर्म-पुस्तक कुरान होने से धार्मिक भाषा 'अरबी' थी, तो भी राजघरानों में फ़ारसी बोली जाती थी। सिकन्दर लोदी के समय में हिन्दुओं ने फ़ारसी पढ़ना शुरू किया। इस प्रकार हिन्दुओं तथा मुसलमानों के सम्पर्क से एक नवीन भाषा का निर्माण हुआ जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी, जिसमें अरबी, फ़ारसी के शब्द थे, परन्तु जो हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा के व्याकरण से प्रभावित होकर नवीन

रूप धारण कर गयी। इस भाषा का नाम 'उर्दू' रखा गया। 'उर्दू' का अर्थ है—'कैम्प'। क्योंकि 'कैम्प' में सर्व-साधारण जनता से टूटी-फूटी भाषा में बातचीत हो सकती थी, अतः इस भाषा को 'कैम्प की भाषा'—'उर्दू'—यह नाम दिया गया।

२—मुग़ल-काल में शिक्षा

लोदी-वंश के साथ मुसलमान-काल (११७४-१५२६) समाप्त हो गया, और बाबर ने 'मुग़ल'-काल (१५२६ से १८वीं शताब्दी तक) को प्रारम्भ किया। बाबर (१५२६-१५३०) अरबी, फ़ारसी तथा तुर्की का विद्वान् था, परन्तु वह देर तक न जिया। उसके पुत्र हुमायूं (१५३०–१५५६) ने दिल्ली में एक मदरसा खुलवाया। हुमायूं ने शाही-पुस्तकालय को खूब बढ़ाया, फ़ारस भागते समय उसे साथ ले गया, पुस्तकालय में ही मरा। हुमायूं के मरने के बाद उसके मकबरे के साथ एक मदरसा खोला गया। हुमायूं के बाद शेरशाह (१५४०–१५४५) दिल्ली का बादशाह हुआ। शेरशाह के बाद अकबर (१५५६-१६०६) गद्दी पर बैठा। अकबर का अर्थ-सचिव टोडरमल था। उसने नियम बना दिया था कि सब हिसाब फ़ारसी में रखे जांय। इस से हिन्दुओं को फ़ारसी पढ़ने के लिए वाधित होना पड़ा। इस समय 'उर्दू' को और ज्यादा प्रोत्साहन मिला। अकबर को शिक्षा से विशेष प्रेम था। उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को पृथक् लिखा जायगा। अकबर के बाद जहाँगीर (१६०५-१६२७), शाहजहाँ (१६२७-१६५८) हुए। शाहजहाँ के बड़े लड़के दारा को हिन्दू विचारधारा से विशेष प्रेम था। उस ने अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का फ़ारसी में अनुवाद किया जिनमें उपनिषदों का अनुवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शाहजहाँ के बाद औरङ्गज़ेब (१६५८–१७०७) गद्दी पर बैठा। उसने भी

मसलमानों की उसी कट्टर नीति का अनुकरण किया। मन्दिर तोड़े, मस्जिदें बनवायीं, मस्जिदों के साथ मक़तब तथा मदरसे खोले। अकबर की तरह ग्रौरङ्गज़ेब के भी शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार थे। उनका उल्लेख भी पृथक् किया जायगा। जैसे 'मुसलमान'-काल को तैमूर ने धक्का पहुँचाया था, वैसे 'मुग़ल'-काल को नादिरशाह ने हमले करके धक्का पहुँचाया ग्रौर उसके बाद यहाँ की सम्पूर्ण शासन-व्यवस्था के साथ-साथ शिक्षा की व्यवस्था के भी अञ्जर-पञ्जर ढीले पड़ गये।

३--अकबर के शिक्षा-सम्बन्धी विचार
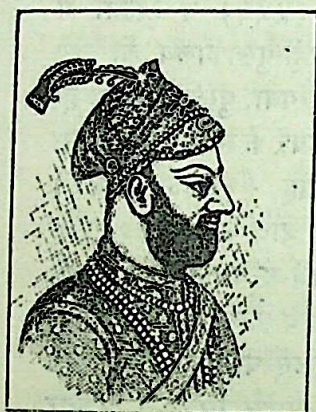
अकबर
(१५५६-१६०६)

अकबर अन्य राजाग्रों की भांति न कट्टर था, न धर्मान्ध था। उसने फ़तहपुर सीकरी में इबादत खाना नाम का एक हॉल बनवाया था जिसमें भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग अपने विचारों को प्रकट करते थे। वह सब धर्मों के मेल से एक नवीन धर्म की स्थापना करना चाहता था। हिन्दू-मुसल-मानों के पारस्परिक भेद को वह पसन्द नहीं करता था, इसलिए उसने प्रयत्न किया कि हिन्दू तथा मुसलमान एक ही मदरसे में पढ़ें। इन मदरसों में उसने संस्कृत को भी पाठ्य-क्रमों में रखा जिससे हिन्दू संस्कृत के साथ अरबी ग्रौर फ़ारसी पढ़ें, ग्रौर मुसलमान अरबी ग्रौर फ़ारसी के साथ संस्कृत पढ़ें। शिक्षणालयों में केवल कुरान पढ़ाने के स्थान में उसने उनका क्षेत्र विस्तत बनाया ग्रौर नीति-शास्त्र, गणित,

दर्शन, कृषि, चिकित्सा, ज्योतिष—सभी विषय पढ़ाये जाने लगे। सम्पूर्ण मध्य-काल में इतिहास के अकबर का युग ही वास्तव में शिक्षा का युग कहा जा सकता है, ऐसा युग जब कि धर्मान्धता ने शिक्षा के क्षेत्र पर से कुछ देर के लिए अपना पंजा हटा लिया था।

अकबर के मित्र तथा सचिव अबुल फ़जल ने 'आइन-ए-अकबरी' में उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए लिखा है—"सब देशों में बालकों को सालों तक पाठशाला में वर्णमाला का ही अभ्यास करना पड़ता है। बालकों की आयु का बड़ा भाग पुस्तकें पढ़ने में नष्ट हो जाता है। बादशाह अकबर का हुक्म है कि प्रत्येक बालक को पहले वर्णमाला के अक्षरों का लिखना सिखाना चाहिए। इस काम में दो दिन से अधिक नहीं लगने चाहिएं। इसके बाद अक्षरों को जोड़ कर लिखना सिखा देना चाहिए। इसके लिए एक सप्ताह काफ़ी है। लिखना आ जाने के बाद कुछ गद्य तथा पद्य स्मरण कराना चाहिए, परमेश्वर की कुछ प्रार्थनाएं तथा धार्मिक वाक्य भी स्मरण कराने चाहियें। यह देखना आवश्यक है कि बालक सब-कुछ स्वयं करें, अध्यापक केवल सहायता देता रहे। इस प्रकार पढ़ाया जायगा तो बालक एक महीने में या एक दिन में ही उतना पढ़ जायगा जितना आजकल वर्षों में वह नहीं पढ़ पाता। प्रत्येक बालक को नीति-शास्त्र, गणित, कृषि, ज्यामिति, राजनीति, चिकित्सा, न्याय आदि सब कुछ पढ़ाना चाहिए। संस्कृत पढ़ने वाले को व्याकरण, न्याय दर्शन, वेदान्त तथा पतंजलि का अध्ययन कराना चाहिए। वर्तमान युग में इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।"

हिन्दू तथा मुस्लिम पाठ्य-प्रणाली में यह भेद था कि हिन्दू लिखना पहले सिखाते थे, पढ़ना पीछे; मुसलमान पढ़ना पहले

सिखाते थे, लिखना पीछे। अकबर ने देखा कि हिन्दू प्रणाली के अनुसार बालक जल्दी सीख जाता है, इसलिए उसने इस प्रणाली को अपनाने की सिफ़ारिश की। साथ ही इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने समय की प्रचलित शिक्षा से संतुष्ट नहीं था, उसे संकुचित समझता था, उसमें सब विषयों का समावेश कर उसे विस्तृत बनाना चाहता था।

४—औरंगज़ेब के शिक्षा-सम्बन्धी विचार

अकबर के विपरीत औरङ्गज़ेब कट्टर था, उसने अनेक मन्दिर तोड़ कर मस्जिदें बनवाईं थीं, कुरान पढ़ाने के लिए मक़तब खोले थे, परन्तु वह भी अपने समय की प्रचलित शिक्षा से संतुष्ट नहीं था। औरङ्गज़ेब का शिक्षक मुल्लाशाह था। जब मुल्ला जी को पता चला कि औरङ्गज़ेब गद्दी पर अधिकार पाने में सफल हो गया है, तो वे उससे मिलने आये। तीन मास तक औरङ्गज़ेब उनसे नहीं मिला। जब मिला तब उसने कहा—

औरंगज़ेब
(१६५८–१७०७)

"मुल्ला जी ! आपने मुझे क्या पढ़ाया ? आप मुझे यही कहते रहे कि सारा युरुप एक छोटा-सा टापू है, जिसका पहले पुर्तगाल, फिर हालैंड और फिर इंग्लैंड के राजा शासन करते रहे। आपने भूगोल तथा इतिहास का भी मुझे अशुद्ध ज्ञान दिया। क्या आपका कर्त्तव्य नहीं था कि आप एक राजकुमार को शिक्षा देते हुए उसे पृथिवी की भिन्न-भिन्न जातियों से परिचित कराते, उनके बलाबल का परिचय देते, वे कैसे लड़ती हैं,

उनका धर्म क्या है, कैसा शासन है—सब-कुछ बताते ? साम्राज्यों का उदय-अस्त कैसे होता है, किन-किन घटनाओं से विश्व में क्रान्तियाँ होती हैं—इन सबका ज्ञान देते ? आपने तो मुझे अपने साम्राज्य के संस्थापकों तक से परिचित नहीं कराया। राजा के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है, परन्तु आपने मुझे अरबी के सिवा कुछ न सिखाया। आपको कुछ नहीं मालूम था कि राजकुमार को क्या-क्या पढ़ाना चाहिए, आपने मेरा समय व्याकरण और शब्दों के रटने में बरबाद कर दिया। मुल्ला जी ! आप मेरे सामने से चले जाइये, किसी को याद भी न रहे कि आप कौन हो, या आपका क्या हुआ ?"

मध्य-काल में जो शिक्षा प्रचलित थी, उस पर औरंगज़ेब की यह टिप्पणी पर्याप्त प्रकाश डालती है।

५—'मक़तब' और 'मदरसे'

हमने देखा कि मध्य-युग में मुसलमानी शिक्षा-प्रणाली ने दो प्रकार की संस्थाएं स्थापित कीं—'मक़तब' तथा 'मदरसे'। 'मक़तब' अरबी के 'कुतुब' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है, 'वह स्थान जहाँ किताबत अर्थात् लिखना सिखाया जाय'। 'मदरसा' शब्द 'दर्स' से बना है, जिसका अर्थ है, 'वह स्थान जहाँ दर्स अथवा पाठ पढ़ाया जाय'। 'मक़तब' प्रारंभिक-शिक्षा के विद्यालय थे, जहाँ छोटे बच्चे पढ़ने के लिए बैठाए जाते थे; 'मदरसे' उच्च-शिक्षा के विद्यालय थे, जहाँ भूगोल, गणित, व्याकरण आदि उच्च-विषयों की शिक्षा दी जाती थी। 'मक़तब' में कुरान याद कराई जाती थी, पढ़ना, लिखना तथा प्राथमिक गणित सिखाई जाती थी; 'मदरसे' का काम 'मक़तब' के बाद शुरू होता था। 'मक़तब' तथा 'मदरसे' प्रायः मस्जिदों के साथ जुड़े होते थे, और मौलवी ही धर्म तथा शिक्षा की देख-रेख

करता था। जिस प्रकार हिन्दू विद्याध्ययन से पूर्व 'उपनयन' संस्कार करते थे, इसी प्रकार मुसलमान 'बिसमिल्ला' करते थे। जब बालक ४ साल, ४ महीने और ४ दिन का हो जाता था, तब घर के लोग इकट्ठे होते थे, उसे उत्तम वस्त्र पहनाते थे, सब के सामने लाकर बैठाते थे, कुरान के कुछ स्थल उससे बुलवाते थे, और अगर वह कुछ करने को तैयार न होता, तो उसे 'बिसमिल्ला' बोलने को कहते थे। 'मक़तब' तथा 'मदरसों' को जागीरदार लोग सहायता देते थे, इन्हें राज्य से भी मदद मिलती थी, और जब सहायता बन्द हो जाती थी, तो ये संस्थाएं भी बन्द हो जाती थीं।

६—'पाठशाला' तथा 'टोल'

हमने देखा कि मुसलमान तथा मुग़ल-काल में हिन्दुओं की संस्कृति का कोई नाम-लेवा नहीं था। राज्य से संरक्षण न मिलने पर ऐसा होना ही था। जगह-जगह 'मक़तब' तथा 'मदरसे' खुल गए थे। हिन्दुओं की शिक्षा को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं रहा था। ऐसे समय में भी हिन्दुओं ने अपनी शिक्षा को जीवित रखा। हाँ, क्योंकि उस समय उन की सहायता करने वाला कोई नहीं रहा था, इसलिए वह शिक्षा अत्यन्त गिरी हुई अवस्था में पहुँच गई। जैसे 'मक़तब' मुसलमानों को प्राथमिक-शिक्षा देते थे, वैसे 'पाठशालाएं' हिन्दुओं को प्राथमिक-शिक्षा देती थीं; जैसे 'मदरसे' मुसलमानों की उच्च-शिक्षा के केन्द्र थे, वैसे बंगाल में संस्कृत की उच्च-शिक्षा देने के शिक्षणालय थे जिन्हें 'टोल' कहते थे। भिन्न-भिन्न तीर्थ-स्थानों पर संस्कृत के आचार्य अपने घरपर विद्यार्थियों को रखते थे, और उन्हें दर्शन, व्याकरण आदि की उच्च शिक्षा देते थे। जैसे 'मक़तब' मस्जिदों में होते थे, वैसे 'पाठशालाएं' कहीं-कहीं मन्दिरों के अहातों

में लगती थीं। इस प्रकार मुसलमानों के उत्तर-काल में 'मक़तब'-'मदरसे'-'पाठशालाएं'-'टोल'-'मस्जिद'-'मन्दिर' शिक्षा की जोत को जगा रहे थे।

७—मध्य-युग में प्राथमिक-शिक्षा

१८१३ में जब कम्पनी-सरकार के भारत में शासन करने के चार्टर को पुनः स्वीकृति दी गई तब साथ ही यह भी निर्देश दिया गया कि १ लाख रुपया भारत की शिक्षा पर व्यय किया जाय। इस सम्बन्ध में कम्पनी-सरकार ने पहले यह जानना चाहा कि शिक्षा के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति क्या है? इस सिलसिले में सर टामस मनरो ने मद्रास प्रान्त में, बम्बई के गवर्नर एलफिंस्टन ने बम्बई प्रान्त में, विलियम एडम्स ने बंगाल में जाँच-पड़ताल की जिससे अंग्रेज़ों से पहले यहाँ की शिक्षा कैसी थी इस सम्बन्ध में निम्न ज्ञात हुआ :—

(१) मद्रास प्रान्त में १८२२ में सर टासस मनरो ने जाँच शुरू की। मद्रास प्रान्त के कलेक्टरों ने अपने-अपने ज़िलों की १८२६ में रिपोर्टें भेजीं जिनसे पता चला कि प्रान्त में प्राथमिक-शिक्षा के १२,४९८ स्कूल हैं, उनमें १,८८,६५० बालक शिक्षा पा रहे हैं, प्रान्त की आबादी १२,८५०,९४१ है। इसका अभिप्राय यह था कि १००० व्यक्तियों की आबादी के लिए १ स्कूल अवश्य था। जो बालक घर पर ही शिक्षा पा रहे थे, वे इस संख्या में शामिल नहीं थे। घर पर शिक्षा पाने वालों की संख्या बहुत अधिक थी।

५ से १० वर्ष की अवस्था में बालक शिक्षा प्रारंभ करता था। शिक्षा प्रारम्भ करते हुए वह गणेश-पूजा करता था। चावलों के ढेर पर उंगली से लिखता था, और उसका अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था। जब पाठशाला लगती थी तब विद्यार्थी

इकट्ठे होकर सरस्वती का स्तुति-पाठ करते थे, और बाद को छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट जाते थे। छोटे बालकों को बड़े बालक पढ़ाते थे, जो बड़े होते थे, उन्हें अध्यापक पढ़ाते थे। इस प्रकार एक ही अध्यापक शिष्यों की सहायता से सब को पढ़ा लेता था। मद्रास प्रान्त की इस 'काक्षिक-पद्धति' को स्काटलैंड क डा० बेल ने 'मानीटर-पद्धति' का नाम दिया, और इस परीक्षण को अपने देश में जारी रखा। इस पद्धति के अनुसार सब बच्चों की पढ़ाई भी होती रहती थी, और बड़े विद्यार्थी 'ट्रेंड-टीचर' भी बनते जाते थे, एक प्रकार से यही स्कूल 'ट्रेनिंग-स्कूलों' का भी काम देते थे। अक्षराभ्यास के लिए ज़मीन पर रेता बिछा दिया जाता था, उस पर उंगली से लिखा जाता था, बाद को पत्तों पर कलम से सिखाते थे, इस प्रकार सस्ते में काम चल जाता था। 'माँन्टीसरी-पद्धति' में जिस प्रकार माँस-पेशियों को साधने पर बल दिया जाता है, उसी प्रकार लिखने में हाथ को साधने पर वल दिया जाता था। गिनतीं तथा पहाड़े एक बोलता जाता था, और रेता पर लिखता जाता था। बाकी बच्चे उसके पीछे-पीछे बोलते जाते थे, और रेता पर लिखते थे। पौने, सवैये, तथा गणित के गुरों पर बहुत बल दिया जाता था। इससे व्यापारी बालकों को व्यापार में बहुत सहायता मिलती थी। आजकल इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिससे बड़े-बड़े बाबू बाज़ार में सौदे का हिसाब करने के लिए कलम-कागज़ निकाल लेते हैं परन्तु दुकानदार सब ज़बानी बता देता है।

(२) बम्बई प्रान्त में १८२९ में वहाँ के गवर्नर एलफ़िंस्टन ने जाँच कराई जिससे पता चला कि उस समय बम्बई प्रान्त में १७०५ स्कूल थे, ३५,००० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे, ४७ लाख की आबादी थी। विद्यालय में भर्ती होकर विद्यार्थी गाजनी-

मट्टी से लकड़ी की तख़्ती पर लिखना सीखते थे, या अध्यापक के लिखे हुए अक्षरों पर सूखी कलम फेर कर पहले हाथ को साधते थे। मद्रास प्रान्त में जिस प्रकार की 'काक्षिक-पद्धति' (मानीटर-सिस्टम) थी, वैसी बम्बई में भी थी—विद्यार्थी विद्यार्थियों को सहायता देते थे।

(३) बङ्गाल में १८३५ में विलियम एडम्स ने जाँच की। उनकी रिपोर्ट से पता चलता है कि वहाँ ४ करोड़ की आबादी में १ लाख स्कूल थे—प्रत्येक गाँव में १ स्कूल मौजूद था। तीन प्रकार के स्कूल थे—फ़ारसी-स्कूल, बङ्गाली-स्कूल, महाजनी-स्कूल। फ़ारसी-स्कूल वे थे जिनका हम मक़तब और मदरसों के रूप में वर्णन करते आये हैं। इनमें फ़ारसी पढ़ाई जाती थी, ये कचहरी के लिए नौकर तैयार करते थे। बङ्गाली-स्कूल वे थे, जिनमें पैमाइश आदि करना सिखाया जाता था, ये पटवारी तैयार करते थे। महाजनी-स्कूल वे थे जिनमें व्यापारियों के बालकों को गणित, बही-खाते आदि का काम सिखाया जाता था, ये मुनीम तैयार करते थे।

हमने जिस शिक्षा का उल्लेख किया है यह बिना किसी राज्य की सहायता से आप-से-आप चल रही थी। शिक्षक लोग प्रायः ब्राह्मण, वैश्य और अधिकतर कायस्थ होते थे। ज़्यादा काम महाजनी काम सिखाने का होता था, कायस्थ लोग इस काम में निपुण होते थे। शिक्षक को कुछ विशेष न मिलता था। बालक घरों से सौदा ला देते थे, उसी पर उनका गुज़र होता था। त्यौहारों के समय कुछ भेंट आ जाती थी। यह आश्चर्य है कि जब किसी से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती थी तब भारत में प्राथमिक-शिक्षा पाये हुए व्यक्तियों की संख्या अंग्रेज़ों के शिक्षा को अपने हाथ में लेने के समय से ऊँची थी!

प्रश्न

१. मुसलमान-काल में शिक्षा के विषय में आप क्या जानते हैं ?
२. उर्दू भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ?
३. मुग़ल-काल में शिक्षा के विषय में आप क्या जानते हैं ?
४. अकबर के शिक्षा-सम्बन्धी क्या विचार थे ?
५. औरंगज़ेब के शिक्षा-सम्बन्धी क्या विचार थे ?
६. मक़तब, मदरसे, पाठशाला तथा टोल के विषय में आप क्या जानते हैं ?
७. सर टामस मनरो ने मद्रास में, एलफ़िन्स्टन ने बम्बई में तथा विलियम एडम्स ने बंगाल में १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राथमिक-शिक्षा की हालत की जो जांच कराई थी उससे इस देश की तत्कालीन प्राथमिक-शिक्षा पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

३२

ब्रिटिश-काल में शिक्षा

(EDUCATION IN BRITISH PERIOD)

[मैकाले का जन्म सन् १८०० में हुआ। वह बड़ा प्रतिभाशाली था। १८२५ में ही उसके लेख 'एडिनबर्ग रिव्यू' में छपने लगे थे। १८३० में वह ब्रिटिश पार्लियामेंट का सदस्य हो गया। १८३४ में वह 'सुप्रीम कौन्सिल ऑफ़ इन्डिया' का सदस्य बनकर भारत आया। १८१३ में ब्रिटिश पार्लियामेंट में एक एक्ट पास हुआ था जिसमें कहा गया था कि भारत में 'साहित्य के पुनरुज्जीवन' (Revival of literature) तथा 'विज्ञान की वृद्धि' (Promotion of Sciences) के लिये कुछ धन अलग रखा जाय और इसी मद्ध में खर्च किया जाय। इस एक्ट के पास हो जाने पर भी क्रियात्मक रूप से शिक्षा के लिये अंग्रेज़ों ने कुछ नहीं किया। 'सुप्रीम कौन्सिल ऑफ़ इन्डिया' का सदस्य होने के बाद २ फ़रवरी १८३५ को मैकाले ने "कमिटी ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' के सभापति की हैसियत से एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें पार्लियामेंट के पास किये हुए एक्ट में वर्णित 'साहित्य के पुनरुज्जीवन' तथा 'विज्ञान की वृद्धि'—इन शब्दों पर विस्तृत विवेचन किया। उस समय भारत में दो दल थे। एक का कहना था कि 'साहित्य के पुनरुज्जीवन' का अर्थ भारतीय-साहित्य के पुनरुज्जीवन से है। यह धन-राशि अरबी तथा संस्कृत-साहित्य के पुनरुज्जीवन पर ही व्यय की जा सकती है, अंग्रेज़ी-साहित्य पर नहीं। दूसरा पक्ष कहता था कि अरेबियन नाइट तथा पंचतंत्र की तोता-मैना की कथाओं को छाप-छापकर बाँटना 'साहित्य का पुनरुज्जीवन' नहीं है, साहित्य का पुनरुज्जीवन तो तभी हो सकता है जब उस देश के साहित्य से भारत को भर दिया जाय जिस देश में साहित्य कहाने लायक कोई वस्तु है। मैकाले का कथन था कि अरबी तथा संस्कृत की सारी पुस्तकें एक तरफ़ रख दी जायें, वे सब मिलकर भी एक

अच्छी युरोपियन पुस्तकों की अलमारी का मुकाविला नहीं कर सकतीं। उसका कथन था कि संस्कृत में छपे कागज़ से तो कोरे कागज़ का दाम ही कहीं ज्यादा है। मैकाले ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ज़बर्दस्त वकालत की कि अगर पार्लियामेंट के १८१३ के एक्ट के अनुसार किसी प्रकार के साहित्य को पुनरुज्जीवित किया जाना अभीष्ट हो, तो वह अंग्रेज़ी-साहित्य ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा कि इस समय हमें अपने राज्य को कायम रखने के लिये ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो हमारे और उन करोड़ों व्यक्तियों के बीच में जिन पर हम शासन कर रहे हैं दुभाषिये का काम कर सकें, जो रुधिर तथा रंग-रूप में हिन्दुस्तानी हों, परन्तु जो रुचि, विचार-शैली, रीति-नीति और विचार में अंग्रेज़ हों। इस पृष्ठ-भूमि से भारत में आंग्ल शिक्षा-प्रणाली का मैकाले ने सूत्रपात किया, और यही कारण है कि अंग्रेज़ी के चले जाने पर भी हम में से पढ़े-लिखों में अंग्रेज़ियत वनी हुई है। कई लोग इसी कारण उन लोगों को जो अंग्रेज़ियत को नहीं छोड़ सकते मैकाले का मानस-पुत्र कहा करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय भारत में जो शिक्षा-प्रणाली चली हुई है उसका श्रेय या अश्रेय मैकाले को है। मैकाले ने जो बीज १८३५ में बोया था वह सौ साल से अधिक समय बीत जाने पर आज महान् वट-वृक्ष बनकर भारत-भूमि में लहलहा रहा है। १८५७ में मैकाले युद्ध-मन्त्री बना और इसी समय लार्ड बना दिया गया। १८५९ में उसका ५८ वर्ष की अवस्था में देहान्त हो गया।]

ब्रिटिश-काल में शिक्षा को मुख्यतः चार कालों में बाँटा जा सकता है, जो निम्न लिखित हैं :—

१७८० से १८१३ तक का प्रथम-काल
१८१३ से १८५४ तक का द्वितीय-काल
१८५४ से १९०० तक का तृतीय-काल
१९०० से १९४७ तक का चतुर्थ-काल

प्रथम-काल (१७८०-१८१३)—

भारत में अंग्रेज़ी-राज्य की नींव 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने डाली। १७८० में पार्लियामेंट ने यह निश्चय किया कि भारत

में अंग्रेज़ी कानून के स्थान पर भारतीय कानून जारी किया जाय। भारतीय कानून केवल पंडित तथा मौलवी जानते थे, अतः यह आवश्यक हो गया कि पंडित तथा मौलवी तैयार किये जायँ। इसी उद्देश्य से १७८१ में वारेन हेस्टिंग्स ने मुसलमानों के लिए 'कलकत्ता मदरसा' और १७९१ में बनारस के रेज़िडेंट जोनाथन डंकन ने हिन्दुओं के लिए 'बनारस संस्कृत कालेज' की स्थापना की। इन दो कालेजों के अतिरिक्त कम्पनी सरकार ने इस काल में भारत की शिक्षा की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया।

द्वितीय-काल (१८१३-१८५४)—

१८१३ में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का भारत में व्यापार करने का 'चार्टर' (आज्ञा-पत्र) पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। सर चार्ल्स ग्रान्ट के, जो कम्पनी के डाइरेक्टरों में से थे, विशेष प्रयत्न से, आज्ञा-पत्र बदलते समय, यह धारा भी बढ़ा दी गई कि अन्य खर्चों के बाद बची हुई रक़म में से १ लाख रुपया प्रति वर्ष भारतीय-साहित्य के पुनरुद्धार, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा विज्ञानों की उन्नति के लिए लगाया जायगा। दस वर्ष तक इस रुपये का कोई उपयोग नहीं किया गया। १८२३ में एक 'कमेटी' बना दी गई, जिसने 'संस्कृत' तथा 'अरबी' में पुस्तकें छपवाना शुरू किया, और 'संस्कृत' तथा 'अरबी' को प्रोत्साहन देने के लिए 'कलकत्ता संस्कृत-कालेज', 'आगरा-कालेज' और 'दिल्ली-कालेज' की स्थापना की। इस कमेटी में यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि 'संस्कृत' तथा 'अरबी' की पुस्तकें छपवाना ठीक है या नहीं, इससे धन का दुरुपयोग तो नहीं हो रहा। साथ ही इस कमेटी में यह भी प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि 'प्राथमिक-शिक्षा' (Primary Education) का काम

किया जाय, या नहीं ? 'प्राथमिक-शिक्षा' के विषय में तो 'कमेटी' ने निश्चय किया कि इस काम में अभी हाथ डालने की आवश्यकता नहीं। ज्यों-ज्यों उच्च-शिक्षा का प्रचार होता जायगा, त्यों-त्यों उच्च-शिक्षा प्राप्त किए हुए व्यक्ति अन्यों को शिक्षा देने का कार्य स्वयं करते रहेंगे, उनसे यह नीचे को मानो छनती रहेगी। इसे 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration theory) कहा जाने लगा। अन्य देशों में तो 'प्राथमिक-शिक्षा' पहले दी जाती है, 'उच्च-शिक्षा' का प्रवन्ध बाद को होता है, भारत के विदेशी शासकों को कुछ थोड़े पढ़े-लिखे व्यक्तियों की आवश्यकता थी, जो उन्हें शासन में मदद दे सकें, इसलिए यहाँ उल्टी गङ्गा बही। 'उच्च-शिक्षा' का प्रवन्ध किया गया, 'प्राथमिक-शिक्षा' को हाथ ही नहीं लगाया गया। 'संस्कृत' तथा 'अरबी' के ग्रन्थ छपवाने के विषय में 'कमेटी' कुछ तय नहीं कर पायी। दो दल बने रहे, एक दल 'संस्कृत' तथा 'अरबी' का पक्षपाती था, दूसरा 'अंग्रेज़ी' शिक्षा देने का पक्षपाती था। यह झगड़ा चल ही रहा था कि १८३४ में लार्ड मैकाले गवर्नर जनरल लार्ड बैंटिक की कार्यकारिणी-समिति के सदस्य बन कर आये, और २ फरवरी १८३५ को उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिखकर इस झगड़े का निपटारा कर दिया। लार्ड मैकाले ने लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेष-भूषा, बोल-चाल, विचार आदि में अंग्रेज़
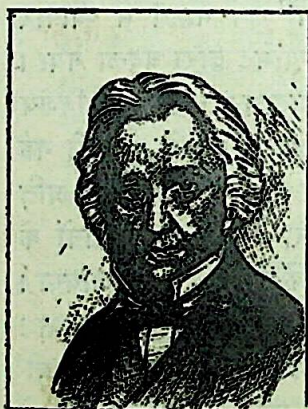
लार्ड मैकाले
(१८००—१८५९)

हों, तभी हमारा राज्य चल सकता है। उन्होंने यह भी लिखा कि भारतीय-साहित्य का संपूर्ण भंडार एक तरफ़ रख दिया जाय, उसका पाश्चात्य-ग्रन्थों की एक अलमारी में पड़ी पुस्तकों के समान भी मूल्य नहीं। इस प्रकार अंग्रेज़ी की नींव डाल दी गई, और आज शिक्षा के क्षेत्र में जो स्थिति दिखाई देती है उसका सूत्रपात हुआ। १८३७ में अंग्रेज़ी को न्यायालयों की भाषा बना दिया गया; १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने यह तय करा दिया कि उच्च नौकरियाँ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखों को मिलेंगी। इन दोनों बातों का प्रभाव भी अंग्रेज़ी को बढ़ावा देने में सहायक हुआ। इस सारे समय में 'प्राथमिक-शिक्षा'—'विश्व-विद्यालय-शिक्षा'—'स्त्री-शिक्षा' की तरफ़ किसी का भी ध्यान नहीं गया, भारतीयों को अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा अंग्रेज़ बनाने पर ही शिक्षा की सारी मशीनरी जुटी रही।

तृतीय-काल (१८५४-१९००)—

१८५३ में फिर 'ईस्ट-इंडिया कम्पनी' का 'चार्टर' (आज्ञा-पत्र) पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। इस समय कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कन्ट्रोल' के मुखिया सर चार्ल्स वुड थे। उन्होंने १८५४ में 'वुड-डिसपैच' (Wood-Dispatch) लिखा जो भारतीय शिक्षा का 'अधिकार-पत्र' (मैग्ना-चार्टा) कहलाता है। इस अधिकार-पत्र के अनुसार, (१) प्रत्येक प्रान्त में 'डिपार्टमेन्ट ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' की स्थापना की गई, (२) कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में 'यूनिवर्सिटियों' की स्थापना का प्रबन्ध किया गया, और (३) प्राथमिक तथा अन्य शिक्षा-संस्थाओं को सरकारी-सहायता (ग्रान्ट) देना स्वीकार किया गया।

१८८२ में 'हन्टर कमीशन' (Hunter Commission) की नियुक्ति हुई। इस कमीशन ने सिफ़ारिश की कि (१) प्राथ-

मिक-शिक्षा की तरफ़ सरकार को पहले की अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिए। अब तक प्राथमिक-शिक्षा की तरफ़ सरकार का काफ़ी ध्यान नहीं गया। (२) प्रत्येक म्युनिसिपैलिटी तथा ज़िला-बोर्ड में 'स्कूल-बोर्डों' की स्थापना करनी चाहिए जो अपने इलाके के प्राथमिक-स्कूलों की शिक्षा का संचालन करें। (३) माध्यमिक-शिक्षा के संचालन का काम अधिकतर जनता के सहयोग पर, स्थानिक प्रबन्धक-कमेटियों को सहायता पहुँचा कर करना चाहिए। इसका सारा बोझ सरकार को अपने ऊपर नहीं लेना चाहिए। (४) अब तक स्कूलों में सिर्फ़ किताबी शिक्षा दी जा रही है, व्यापारी शिक्षा देने का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

चतुर्थ-काल (१९००-१९४७)—

१९०० से १९वीं शताब्दी समाप्त होती है, और बीसवीं शताब्दी प्रारम्भ होती है। १९०० से १९४७ तक के समय को दो भागों में बाँटा जा सकता है। १९०१ से १९१९ तक का समय, तथा १९२० से १९४७ तक का समय। इस समय को दो भागों में बाँटने का कारण यह है कि १९१९ में भारत को मौन्ट-फ़ोर्ड सुधारों के अनुसार शासन में कुछ-कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी; १९४७ में तो भारत बिल्कुल ही स्वतन्त्र हो गया।

१९०१ से १९१९ तक का समय—

१९०१ में लार्ड कर्ज़न ने शिमला में वायसराय की हैसियत से 'शिक्षा-परिषद्' की अध्यक्षता की और १९०४ में 'भारतीय सरकार की शिक्षा-संबंधी नीति के प्रस्ताव' (Resolution on Indian Educational Policy) घोषित किये। इस नीति के अनुसार, (१) यह निश्चय किया गया कि प्राथमिक, माध्यमिक तथा कालेज की शिक्षा के निजी तौर पर विस्तार में

जनता को सहायता द्वारा प्रोत्साहित किया जाय, सरकार नमूने के तौर पर अपने कुछ सरकारी शिक्षणालय रखे, परन्तु शिक्षा का अधिक काम जनता के सहयोग से कराये, जनता द्वारा संचालित शिक्षणालयों पर अपना निरीक्षण रखे, (२) प्राथमिक शिक्षणालयों पर पहले की अपेक्षा अधिक व्यय किया जाय, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्राथमिक-शिक्षा पर जो व्यय करें वह प्रान्त की आमदनी में से सब से पहले दिया जाय, (३) माध्यमिक-शिक्षणालयों में जहाँ तक हो सके मातृ-भाषा को माध्यम बनाया जाय, (४) स्त्री-शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के लिए लड़कियों के प्राथमिक-स्कूल खोले जायं, उन्हें ट्रेंड किया जाय, और स्त्री-निरीक्षिकाएं नियत की जाएं।

१९ मार्च १९१० में श्रीयुत् गोखले ने शासिका-सभा में प्राथमिक-शिक्षा को 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' बनाने के लिए प्रस्ताव पेश किया जो १३ पक्ष तथा ३८ विपक्ष में होने के कारण गिर गया। इसके एक साल बाद जार्ज पंचम तथा क्वीन मेरी भारत में आयीं और उन्होंने प्रति वर्ष शिक्षा पर ५० लाख सरकारी सहायता की घोषणा की।

गोखले का प्रस्ताव तो गिर गया, परन्तु सरकार का ध्यान शिक्षा के प्रश्न की तरफ़ गये बिना न रहा। इधर जार्ज पंचम की ५० लाख की घोषणा से भी शिक्षा के प्रश्न ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया। परिणामस्वरूप २१ फ़र्वरी १९१३ को भारतीय सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकार कया जिसके अनुसार, (१) यह निश्चय किया गया कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को प्राथमिक-शिक्षा के विस्तार के लिए अपने स्कूल खोलने चाहिएं, प्राइवेट स्कूलों पर भरोसा रख कर नहीं बैठे रहना चाहिए, (२) यह स्वीकार किया गया कि स्त्री-शिक्षा का लगभग बिल्कुल प्रचार नहीं हो

रहा, लड़कियों के लिए लड़कों की-सी पाठ-विधि बना देना बेकार है, उनकी अलग पाठविधि होनी चाहिए, (३) यह भी स्वीकार किया गया कि अब तक माध्यमिक-शिक्षा का काम जनता के निजू परिश्रम पर ही छोड़ दिया गया है, परन्तु यह ठीक नहीं है। जनता को माध्यमिक-शिक्षा के विस्तार में सहायता देने के साथ-साथ सरकार को भी अपनी ज़िम्मेवारी पूरी करनी चाहिए, (४) यह भी कहा गया कि युनिवर्सिटियों की संख्या अब तक कुल पाँच है, जो इतने बड़े देश के लिए बहुत थोड़ी है, इन्हें बढ़ाया जाय।

१९१३ के उस प्रस्ताव के होने के बाद १९१४ में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया। १९१७ में 'सैडलर कमीशन' (Sadler Commission) की नियुक्ति हुई जिसने १९१९ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की।

१९२० से १९४७ तक का समय—

१९१९ में विश्व-व्यापी प्रथम युद्ध समाप्त हुआ परन्तु वातावरण एकदम विक्षुब्ध हो गया। १९१९ में मौन्ट-फ़ोर्ड सुधार प्रकाशित किये गये, परन्तु जनता में उनसे एकदम असंतोष उत्पन्न हो गया। असहयोग आन्दोलन ने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक हिला दिया, स्कूलों-कालेजों का बहिष्कार शुरू हो गया। १९२२ में वायुमंडल कुछ शान्त हुआ, लड़के फिर-से स्कूलों में जाने लगे। असहयोग आन्दोलन के फलस्वरूप मई १९२८ में 'साईमन कमीशन' की नियुक्ति हुई, जिसने शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करने के के लिए एक उप-समिति का निर्माण किया। इसका नाम 'हारटौग कमेटी' (Hartog Committee) था। 'हारटौग कमेटी' ने १९२९में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। इसने सिफ़ारिश की कि, (१) हमें प्राथमिक-

शिक्षा पर पहले से अधिक ध्यान देना चाहिए। अब तक उच्च-शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता रहा है, प्राथमिक-शिक्षा पर कम। परिणाम यह हुआ है कि देश की अधिकांश संख्या अभी तक अशिक्षित है। 'कमेटी' ने लिखा कि १९२२-२३ में जो बालक प्रथम श्रेणी में भर्ती हुएउनमें से १९२५-२६ में केवल १९ प्रतिशत चौथी श्रेणी में शिक्षा पा रहे थे। जो बालक पाठशाला में एक-दो बरस ही पढ़ते हैं उनका पढ़ना-न-पढ़ना बराबर है क्योंकि वे कुछ देर बाद सब-कुछ भूल कर फिर वैसे-के-वैसे कोरे हो जाते हैं। इस प्रकार बालकों के 'समय' तथा पाठशाला के 'धन' का अपव्यय होता है, इसलिए 'प्राथमिक-शिक्षा' का काल कम-से-कम ४ वर्ष अवश्य रखना चाहिए। कमेटी ने यह भी कहा कि, (२) माध्यमिक-शिक्षा का संचालन प्रायः इसलिए हो रहा है कि जो पढ़ते हैं सब को 'युनिवर्सिटी' में भर्ती होना है। इस भावना को हटाने की आवश्यकता हैं। इसका उपाय यही है कि स्कूल में भिन्न-भिन्न प्रकार की पाठविधि हो। जो बालक व्यापार अथवा यन्त्र-विद्या की तरफ़ जाना चाहें वे युनिवर्सिटी जाने से पहले ही अपने मार्ग को निश्चित्त कर सकें। शिक्षा को केन्द्रित करने के विषय में कमेटी ने कहा कि, (३) भिन्न-भिन्न प्रांतों की शिक्षा की गति-विधि को एक-सूत्र में बाँधने के लिए दिल्ली में एक कमेटी होनी चाहिए जो सबको एक दिशा में चला सके। यद्यपि १९२१ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' (Central Advisory Board of Education) बन चुका था, तो भी वह अब तक समाप्त कर दिया गया था। 'हारटौग कमेटी' की सिफ़ारिश के आधार पर १९३५ में इसे दिल्ली में फिर से जीवित किया गया। इस समय केन्द्रीय सरकार के आधीन यह बोर्ड काम कर रहा है।

'हारटौग कमेटी' के बाद १९३५ में 'एबट एण्ड वुड रिपोर्ट' (Abbot-Wood Report), १९३६-३८ में 'ज़ाकिर-हुसैन कमिटी रिपोर्ट' अथवा 'वर्धायोजना', १९३९ में यू० पी० में 'नरेन्द्रदेव कमिटी रिपोर्ट' तथा १९४४ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' की तरफ़ से 'साजेन्ट रिपोर्ट' (Seargent Report) निकल चुकी हैं। इनमें भी प्राथमिक, माध्यमिक तथा यूनिवर्सिटी की शिक्षा पर अपने-अपने विचार प्रकट किये गये हैं। शिक्षा पर विस्तृत दृष्टि रखने के लिए इन सबका विद्यार्थी को स्वयं अध्ययन करना चाहिए।

१९४७ के बाद—

१९४७ में तो स्वराज्य ही मिल गया, अतः तब से शिक्षा की दिशा का संचालन विदेशियों की तरफ़ से न होकर शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से होने लगा है। इस समय शिक्षा के साथ श्रम करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक समझा जा रहा है क्योंकि हमारी शिक्षा बहुत-कुछ किताबी शिक्षा ही हो गई है, श्रम करने, अर्थात् अपना काम अपने आप करने से हमारे युवक कतराते हैं। शिक्षा की इन समस्याओं पर विचार करने के लिए १९४८ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' ने श्री डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षतामें एक 'यूनिवर्सिटी एज्यूकेशन कमीशन' नियुक्त किया जिसने १९४९ में अपनी रिपोर्ट दी। इसी प्रकार उक्त बोर्ड ने १९५२ में मद्रास विश्व-विद्यालय के उपकुलपति श्री मुदालियर की अध्यक्षता में एक 'सेकेंडरी एज्यूकेशन कमीशन' (Secondary Education Commission) की नियुक्ति की जिसने १९५३ में अपनी पिपोर्ट दी। इन सब परिवर्तनों के लिए २० जनवरी १९५३ को भी लखनऊ में भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों के उप-कुलपतियों की राज्यपाल श्री

कन्हैय्यालाल मुन्शी के नेतृत्व में बैठक हुई। ये सब परिवर्तन हो रहे हैं, परन्तु अभी स्वतन्त्रता प्राप्त किये हमें बहुत कम समय हुआ है, इसलिए अभी बिल्कुल, आमूल-चूल परिवर्तन करने का शासन-सूत्र के संचालकों को समय नहीं मिला। आशा है कि नवीन-युग में, नवीन दृष्टिकोण से भारत शिक्षा के क्षेत्र में भी अपनी नवीन दिशा का निर्माण करेगा।

प्रश्न

१. ब्रिटिश-काल की भारतीय-शिक्षा पर मैकाले का क्या प्रभाव पड़ा ?
२. 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration Theory) क्या थी ?
३. 'वुड डिस्पैच' की मुख्य बातें क्या थीं ?
४. 'हन्टर कमीशन' की मुख्य बातें क्या थी ?
५. १९०४ का भारतीय सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति का प्रस्ताव क्या था ?
६. श्री गोखले ने प्राथमिक-शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य कराने के लिये क्या-कुछ किया ?
७. 'हारटौग कमेटी' की मुख्य-मुख्य सिफ़ारिशें क्या थीं ?
८. 'सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ़ एजूकेशन' क्या है ?

३३

भारत तथा उत्तर प्रदेश में शिक्षा का वर्तमान संगठन

(PRESENT MACHINERY AND ORGANISATION OF EDUCATION IN INDIA AND U.P.)

वर्तमान शिक्षा पर विचार करने के लिए हम उसे निम्न भागों में बाँट सकते हैं :—

१—प्राथमिक-शिक्षा (Primary Education)
२—मध्यमिक-शिक्षा (Secondary Education)
३—विश्व-विद्यालय की शिक्षा (University Education)
४—व्यावसायिक-शिक्षा (Professional Education)
५—औद्योगिक-शिक्षा (Technical Education)
६—प्रौढ़-शिक्षा अथवा सामाजिक-शिक्षा (Adult Education or Social-service Education)
७—स्त्री-शिक्षा (Women's Education)

१—प्राथमिक-शिक्षा (Primary Education)

मैक्स मूलर के अनुसार अंग्रेज़ों के आने से पूर्व केवल बंगाल में ही ८० हज़ार मक़तब, मदरसे और पाठशालाएं थीं, अर्थात् ४०० व्यक्तियों के पीछे एक स्कूल था। उस समय प्राय: प्रत्येक व्यक्ति पढ़ लिख सकता था। अंग्रेज़ों ने भारत आने पर शिक्षा की तरफ़ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया। पादरी लोग शिक्षा देने लगे थे, परन्तु अंग्रेज राजनीतिज्ञों का कथन था कि जैसे शिक्षा

देने से अमरीकन उपनिवेश अमरीका के हाथ से निकल गये, वैसे भारत भी हमारे हाथ से निकल जायगा। १८१३ में भारत में शिक्षा पर व्यय करने के लिए एक लाख की राशि निश्चित की गई, परन्तु 'प्राथमिक-शिक्षा' के सम्बन्ध में यही कहा गया कि उच्च-शिक्षा प्राप्त करने पर अपने-आप यह ऊपर से नीचे को छनेगी, इसे 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration Theory) कहा जाने लगा। मैकाले भी इसी विचार का पृष्ठ-पोषक था। १८५४ की 'वुड रिपोर्ट' में पहले-पहल यह स्वीकार किया गया कि प्राथमिक शिक्षा देना भी राज्य का काम है, और इसके लिए ग्रान्ट दी जानी चाहिए, परन्तु क्रियात्मक रूप में कुछ नहीं किया गया। १८८२ में 'हन्टर कमीशन' ने पहली वार स्पष्ट घोषणा की कि अब तक जिस गति से सरकार की तरफ़ से प्राथमिक-शिक्षा का कार्य किया जा रहा है वह असन्तोषजनक है, उसे अधिक वेग से करने की आवश्यकता है। म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को आदेश दिया गया कि स्कूलों के लिए एक विशेष निधि को अलग रखें जिसमें से एक निश्चित मात्रा 'प्राथमिक शिक्षा' पर सहायता के रूप में व्यय करें। साथ ही यह भी कहा गया कि सहायता उत्तीर्ण विद्यार्थियों की संख्या के आधार पर दी जानी चाहिए। इस आदेश का भी 'प्राथमिक-शिक्षा' के विस्तार पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब सम्पूर्ण मानव-समाज 'प्राथमिक-शिक्षा' के विस्तार में जुटा हुआ था, तब भारत की गाड़ी कछुए की चाल से ही चल रही थी। १९०४ में लार्ड कर्ज़न ने भारतीय-शिक्षा की नीति की घोषणा की जिसमें खुले तौर से स्वीकार किया गया कि 'प्राथमिक-शिक्षा' का संचालन सरकार के मुख्य कर्त्तव्यों में से एक है। १९१० में श्रीयुत् गोखले ने 'प्राथमिक-शिक्षा' को

'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' बनाने के लिए शासिका-सभा में प्रस्ताव रखा। १९११ में उन्होंने इसी आशय का एक बिल पेश किया जो १३ के विरुद्ध ३८ मत से गिर गया। सरकार 'प्राथमिक-शिक्षा' का बोझ अपने ऊपर लेने के स्थान में ज़िला बोर्डों के कन्धों पर ही यह बोझ डालती रही। इस बीच १९१४-१८ में प्रथम विश्व-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और १९१९ में मौंट-फ़ोर्ड सुधार जारी किये गये। १९१८-२० में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने 'प्राइमरी एज्यूकेशन एक्ट' पास किये जिनके द्वारा ६ से १० वर्ष की आयु तक 'प्राथमिक-शिक्षा' को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने का अधिकार म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को देकर जनता के हाथ में दे दिया गया।

'प्राथमिक-शिक्षा' के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हैं जिनका हल किया जाना आवश्यक है। सब से मुख्य प्रश्न तो यह है कि इस समय जो लड़के पढ़ना शुरू करते हैं, और एक-दो साल में ही स्कूल छोड़ देते हैं, वे इतना थोड़ा पढ़ पाते हैं कि कुछ ही दिनों में वे बे-पढ़े से हो जाते हैं। शिक्षा की मशीन का यह 'अपव्यय' कैसे रोका जाय? इस 'अपव्यय' को नहीं रोका जाता, तो नये विद्यालय खोलना-न-खोलना बराबर है। इसे रोकने के लिए 'प्राथमिक-शिक्षा' का अनिवार्य किया जाना आवश्यक है। हर बालक को ६ से १० वर्ष की अवस्था तक पढ़ना ही होगा। १९२९ में 'हारटौग कमेटी' ने यही विचार प्रकट किये। १९३८ में महात्मा गाँधी की प्रेरणा से 'ज़ाकिर हुसेन कमेटी' ने ७ से १४ वर्ष तक की अवस्था के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य 'प्राथमिक-शिक्षा' की योजना तय्यार की। 'ज़ाकिर हुसेन कमेटी' पर पुनः विचार करने के लिए बम्बई के तत्कालीन प्रधान-मंत्री श्रीयुत् खेर की अध्यक्षता में एक कमेटी बनी जिसने ७ से १४ वर्ष के स्थान

में ६ से १४ वर्ष तक 'निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक-शिक्षा' देने के विचार का समर्थन किया। १९४४ में 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' प्रकाशित हुई जिसमें ३ से ६, ६ से ११, ११ से १४ वर्ष—इस प्रकार शिक्षा को तीन भागोंमें बाँट कर 'प्राथमिक-शिक्षा' का नवीन संगठन करने का प्रयत्न किया गया। अब तक 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' का यह निश्चय था कि ४० वर्ष के भीतर-भीतर सारे देश में 'प्राथमिक-शिक्षा' सब जगह फैल जानी चाहिए। स्वराज्य प्राप्ति के बाद यह निश्चय किया गया कि ४० वर्ष का अर्सा बहुत बड़ा अर्सा है। अब यह समय ४० वर्ष से १६ वर्ष कर दिया गया है। इस अर्से में देश में सब जगह 'प्राथमिक-शिक्षा' फैल जानी चाहिए। अब शासन-सूत्र अपने हाथ में है। 'प्राथमिक-शिक्षा' का भारत की सम्पूर्ण जनता पर १०-१२ साल के बाद भारी प्रभाव पड़ने वाला है। १९४७ के बाद से इस दिशा में बड़ी भारी प्रगति हुई है। ३१ मार्च १९४८ में अ—राज्य के प्रान्तों में १४०१२१ प्राथमिक-शिक्षणालय थे जो बढ़ कर ३१ मार्च १९५३ में १७७२८५ हो गये। १९४८ में २२४ शहरों और १००१० गाँवों में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य थी, १९५३ में ५९८ शहरों और २१२६० गाँवों में प्राथमिक-शिक्षा अनिवार्य हो गई है। १९४८ की अपेक्षा १९५३ में अ—राज्यों में कुल मिलाकर ८७ प्रतिशत प्राथमिक-शिक्षा पर व्यय बढ़ा है।

२—माध्यमिक-शिक्षा (Secondary Education)

अंग्रेज़ों की भारत को शिक्षा के क्षेत्र में एक ही देन है, और वह है—'माध्यमिक-शिक्षा'। मैकाले के अपनी रिपोर्ट लिखने क पहले से यहाँ ईसाई पादरियों ने हाईस्कूल खोले थे। पादरी लोग जिस लगन से काम कर रहे थे, और उनके कार्य से भारतीयों

में जो परिवर्तन आ रहा था, उससे प्रभावित होकर सर चार्ल्स ग्रान्ट के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भारतीयों को शिक्षित करना आवश्यक है। वह पहले कम्पनी की नौकरी कर चुके थे, फिर पार्लियामेंट के सदस्य बने, और कम्पनी के डायरेक्टरों के बोर्ड के चेयरमैन बने। १८१३ में जब कम्पनी को दुबारा आज्ञा-पत्र दिया गया तब उन्होंने १ लाख रुपया प्रति वर्ष शिक्षा पर व्यय करने की शर्त भी स्वीकृत करा ली। उसमें लिखा गया कि 'विद्या के पुनरुज्जीवन' (Revival of Learning) तथा 'विज्ञान की वृद्धि' (Promotion of Scientific Knowledge) के लिए १ लाख रुपये का व्यय किया जाय। पहले तो यही झगड़ा चलता रहा कि 'किस' विद्या का पुनरुज्जीवन किया जाय—संस्कृत तथा अरबी का, या अंग्रेज़ी का? बहुत देर तक कुछ काम न हुआ। अनेक भारतीय यही चाहते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा ही दी जाय। राजा राममोहन राय ने तो इस आशय का गवर्नर-जनरल को एक आवेदन-पत्र भी दिया। १८१७ में राजा राममोहन राय ने डेविड हेयर नामक एक घड़ियों के व्यापारी के सहयोग से 'हिन्दू कालेज' की स्थापना की जिसमें अंग्रेज़ी पढ़ाई जाने लगी। १८३५ में मैकाले ने अपनी रिपोर्ट लिखकर अंग्रेज़ी शिक्षा की जड़ें पाताल तक पहुँचा दीं। मैकाले से पहले भी अंग्रेज़ी ढंग के स्कूलों की ही माँग थी, मैकाले ने उसी बात पर मोहर लगा दी। अंग्रेज़ी पढ़ कर ही जब नौकरी मिलनी थी, तो कोई और-कुछ क्यों पढ़ता। आज जैसे नौकरी के लिए हमारे बालक टाइप करना सीखते हैं, वैसे उस समय आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए वे स्कूल में भर्ती होते थे, अंग्रेज़ी सीखते थे। १८३७ में न्यायालयों की भाषा भी अंग्रेज़ी कर दी गई, १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने

घोषणा कर दी कि अंग्रेज़ी स्कूल में पढ़े-लिखों को नौकरियों में प्रधानता दी जायगी। इस सारी नीति का परिणाम यह हुआ कि 'माध्यमिक स्कूल' धड़ाधड़ खुलने लगे। शिक्षा के लिए जितना रुपया स्वीकृत होता था उससे 'प्राथमिक-शिक्षा' पर कुछ व्यय नहीं होता था, 'माध्यमिक' पर ही सब व्यय हो जाता था।

'हंटर-कमीशन' (१८८२) ने इस स्थिति को समझा। उन्होंने सिफ़ारिश की कि सरकार को अपनी शक्ति 'माध्यमिक-शिक्षा' से हटा लेनी चाहिए, यह काम प्राइवेट संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिए, उन्हें सहायता-मात्र दे देना चाहिए। इसका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि 'माध्यमिक-शिक्षा' से बचे रुपये को सरकार 'प्राथमिक-शिक्षा' पर खर्च करती। वैसा कुछ तो सरकार ने किया नहीं, इधर मैट्रिक की तैयारी कराने वाले स्कूलों की भरमार हो गई, स्कूल चलाना भी एक व्यापार-सा हो गया। मैट्रिक पास की, बी० ए० किया, और कोई-न-कोई नौकरी हाथ लगी, फिर क्यों न स्कूलों की संख्या बढ़ती। जब स्कूल ज़रूरत से ज़्यादा बढ़ गये, तब इतने मैट्रिक पास व्यक्तियों को नौकरियों की भी तंगी होने लगी। इसके अतिरिक्त मैट्रिक पास से बी० ए० का महत्व अधिक था, इसलिए कालेजों में बाढ़-सी आ गई। लड़का पढ़ सकता है या नहीं, इसकी पर्वाह नहीं थी, किसी तरह से इम्तिहान पास करके नौकरी का विचार बालकों को आगे-ही-आगे ले जाता था। युनिवर्सिटियों में ऐसे लड़कों की भरमार हो रही थी जो घोट-घाटकर मैट्रिक तो पास कर आते थे, परन्तु प्रोफ़ेसर का व्याख्यान नहीं समझ सकते थे। १९०४ और १९१३ में 'भारतीय शिक्षा की नीति' की घोषणा की गई जिसमें स्वीकार किया गया कि स्कूल की पढ़ाई निरुद्देश्य चल रही है, लड़कों के सम्मुख मैट्रिक

पास करके युनिवर्सिटी में भर्ती होने के सिवाय कोई उद्देश्य नहीं होता। इनके परिणामस्वरूप एस० एल० सी० की परीक्षा रखी गई जिसका उद्देश्य यह था कि बालक मैट्रिक का इम्तिहान दिये वग़ैर अगर किसी धन्धे में जाना चाहता है, तो इस परीक्षा को देकर जा सके। १९२९ में 'हारटौग कमेटी' और १९३७ में 'एबट तथा वुड' रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिनमें कहा गया कि स्कूल में ही विषयों का ऐसा विभाग हो जाना चाहिए जिससे बालक अपनी रुचि के अनुसार ऐसे विषयों को चुन सके जो उसे जीवन में सहायक हों। प्रत्येक बालक 'युनिवर्सिटी' की शिक्षा के योग्य नहीं होता। अब तक तो पढ़ाई का ऐसा रूप था कि स्कूल में विद्यार्थी अपने को यूनिवर्सिटी में भर्ती होने के लिए तैयार करता था। मैट्रिक पास हो गया, तो वह 'युनिवर्सिटी' में भर्ती हो गया, उसका भविष्य उज्ज्वल हो गया, नहीं तो सारी पढ़ाई पर पानी फिर गया। १९४६ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड' ने 'नरेन्द्र देव कमेटी' तथा 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' पर पुनः विचार कर यह निश्चय किया कि स्कूल की 'माध्यमिक-शिक्षा' अपने में पूर्ण होनी चाहिए, उसमें पढ़े हुए विद्यार्थी 'युनिवर्सिटी' में तो जाने ही चाहिएं, परन्तु पाठविधि ऐसी होनी चाहिए कि जिससे जो बीच में छोड़ना चाहें वे छोड़कर किसी उद्योग-धंधे में लग सकें। अब तक माध्यमिक-शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को विश्वविद्यालय के लिए तैयार करना था, विश्वविद्यालय में लड़का भर्ती न हो सका, तो उसकी सारी शिक्षा बेकार थी, अब माध्यमिक-शिक्षा का दृष्टिकोण बदल गया, यह कहा जाने लगा कि वह अपने में पूर्ण होनी चाहिए। इस विचार को सम्मुख रखकर १९४८ से युक्तप्रान्त में ८वीं श्रेणी के बाद ९वीं से १२वीं श्रेणी तक साहित्यिक, रचनात्मक, वैज्ञानिक

तथा कलात्मक पाठविधियों का चलन किया गया है। परन्तु अब भी हमारी पाठ्य-प्रणाली बहुत-कुछ किताबी ही चली आ रही है, इसमें किताबी-पन, परीक्षा, रटना आदि को कम करके क्रियात्मकता, रुचि-अनुकूलता आदि लाने की आवश्यकता है। इन्हीं दृष्टियों से मद्रास विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति श्री मुदालियर की अध्यक्षता में १९५२ में एक 'सेकेंडरी एज्यूकेशन कमीशन' नियुक्त किया गया जिसने १९५३ में अपनी रिपोर्ट पेश की। प्रत्येक शिक्षक को इस रिपोर्ट को पढ़ना चाहिए। सरकार ने एक कमिटी बना दी है जिसका काम इस रिपोर्ट की गहराई में जाकर माध्यमिक-शिक्षा के वाञ्छनीय आवश्यक सुधारों को करना होगा।

माध्यमिक-शिक्षा के आदर्श स्कूल का इस कमीशन ने जो चित्र खींचा है उसका सार निम्न है :—

(१) सुन्दर परिस्थिति (Proper Environment)— कमीशन का कहना है कि शिक्षणालय की चारों तरफ़ की परिस्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थी को खुद-ब-खुद पढ़ने और काम करने की प्रेरणा मिले। इस समय हमारे स्कूलों के चारों तरफ़ ऐसी भद्दी परिस्थिति होती है कि विद्यार्थियों को अपने शिक्षणालय के विषय में कोई अभिमान नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें आर्थिक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी शिक्षणालय के चारों तरफ़ की परिस्थिति को विद्यार्थियों, माता-पिताओं तथा जनता के सहयोग से उत्तम बनाया जा सकता है। विद्यार्थी ही बाग़-बग़ीचे, फुलवाड़ी लगा सकते हैं, छोटी-मोटी मरम्मत कर सकते हैं। पाठशाला के प्रत्येक कमरे को चार्ट, चित्र आदि से सजाने का काम भी विद्यार्थियों के सहयोग से हो सकता है। बनी-

बनाई सुन्दर परिस्थिति विद्यार्थियों को मिल जाय, इसकी अपेक्षा वे स्वयं अपने उद्योग से उसे सुन्दर बनायें—इसमें उनका अधिक विकास होगा।

(२) पाठविधि से अतिरिक्त-कार्य (Extra-curricular Activities)—शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ा देना ही नहीं है, इसका उद्देश्य विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। शिक्षक का काम भिन्न-भिन्न रुचि के विद्यार्थियों के लिए ऐसे 'स्वेच्छा-कार्य'. (हौबी), ऐसी 'योजनायें' (प्रोजेक्ट) तैयार कर देना है जिनसे प्रत्येक रुचि के विद्यार्थी के व्यक्तित्व का चौमुखा विकास हो सके। दूसरे शब्दों में शिक्षणालय किताबी शिक्षा का केन्द्र न होकर जीवन की कला सिखाने का केन्द्र हो जाना चाहिए। शिक्षणालय को सामुदायिक-जीवन से कटा हुआ न रखकर उसे सामुदायिक-जीवन का अंग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और जो कार्य विद्यार्थी अपने समाज में होता देखता है उन्हीं का छोटा रूप उसे शिक्षणालय में दीखना चाहिए। इस दृष्टि से भविष्य का माध्यमिक-शिक्षणालय 'पुस्तक-पाठी-शिक्षणालय' होने के स्थान में 'क्रियापाठी-शिक्षणालय' बनना चाहिए। इन शिक्षणालयों में चारों तरफ़ क्रिया-ही-क्रिया, गति-ही-गति, यह काम हो रहा है, वह काम हो रहा है—यह दृश्य दीखना चाहिए, सिर्फ़ अध्यापक कृष्ण-पट्ट पर कुछ लिख रहा है, या बोल रहा है—इतना ही नहीं। इनमें विद्यार्थी काम करते दीखने चाहिएं, ठोडी पर हाथ रखे, अध्यापक की तरफ़ टिमटिमाते नहीं। वाद-विवाद सभाएं, खेल के साम्मुख्य, समाज-सेवा के कार्य, पत्र-पत्रिकाएं, चित्रशाला, संग्रहालय—विद्यार्थी जितने काम करें थोड़े हैं।

(३) दस्तकारी तथा उत्पादक-कार्य (Craft and

Productive Work)—सालों से हमारे शिक्षणालयों में विचारात्मक तथा क्रियात्मक अध्ययन में एक खाई पड़ी हुई है। इसे पाटने का सर्वोत्तम साधन यही है कि दस्तकारी तथा किसी उत्पादक-कार्य पर अब अधिक ध्यान दिया जाय। प्रत्येक शिक्षणालय में ऐसे कारखाने (वर्कशाप) तथा दस्तकारी-गृह (क्रैफ्ट रूम) होने चाहिएँ जहाँ विद्यार्थी उपकरणों का प्रयोग कर सकें। दस्तकारी से अभिप्राय किसी हाथ के काम में समय बिताना ही नहीं होना चाहिए, इसका अभिप्राय होना चाहिए ऐसा काम जो ठोस हो, जो वास्तव में काम कहा जा सके। ऐसे काम सिर्फ़ सायन्स लेने वाले विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, आर्ट लेने वालों के लिए भी आवश्यक होने चाहियें। शिक्षणालय की प्रयोगशाला ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसमें अध्यापक के कहे अनुसार विद्यार्थी छोटे-मोटे परीक्षण कर लें, यह ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों में भावी-आविष्कर्त्ता की नींव पड़ सके।

(४) पुस्तकालय (School-Library)—इस समय माध्यमिक-शिक्षणालयों के पुस्तकालय एक बेकार-से पुस्तकालय हैं। उनका उपयोग छात्र ठीक-से नहीं कर पाते। इन पुस्तकालयों को जीवित-जागृत बनाने की आवश्यकता है। अस्ल में जो काम विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगशाला का है, वही काम अन्य विषयों के सम्बन्ध में पुस्तकालय का है। छात्रों में पुस्तकालय का ज़्यादा-से-ज़्यादा उपयोग करने की भावना पैदा करनी चाहिए। पाठविधि की पुस्तकों में सैकड़ों ऐसी समस्यायें आए-दिन उठती रहती हैं जिनका हल पुस्तकालय की दूसरी पुस्तकों से सिवाय अन्य कहीं मिल नहीं सकता। पाठविधि की कोई पुस्तक पूर्ण नहीं होती। शिक्षक तथा पुस्तकालया-

ध्यक्ष का काम विद्यार्थियों को ऐसी पुस्तकों की तरफ़ प्रेरित करते रहना होना चाहिए जिससे छात्र पाठ-विधि के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों का अधिक-से-अधिक उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से पुस्तकालयाध्यक्ष के काम में हर किसी को नहीं अपितु उस काम के दक्ष व्यक्ति को ही लगाना चाहिए और पुस्तकों में नोट आदि लेने की पूरी सुविधा का प्रबन्ध होना चाहिए।

(५) शिक्षणालय एक समुदाय है (School as a Community)—इस समय हमारे शिक्षणालय तथा हमारा समाज दोनों एक-दूसरे से कटे हुए हैं, इनका आपसी कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षणालय में छात्र भूल जाता है कि वह एक बड़े समाज का अंग है, घर में आकर वह भूल जाता है कि शिक्षणालय भी घर जैसी कोई संस्था है। इस अवस्था को बदलना होगा। हमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी जिससे घर से पाठशाला में आकर विद्यार्थी अनुभव करे कि उसके घर की और समाज की जो समस्यायें हैं उन्हीं को उसे पाठशाला में हल करना है, और पाठशाला से जब वह घर जाये तो अनुभव करे कि पाठशाला में जो नयी-नयी बातें उसने सीखी हैं उनसे उसके घर की, समुदाय की और समाज की समस्यायें हल होती हैं। पाठशाला जब विशाल समुदाय के अन्तर्गत एक छोटे समुदाय का रूप धारण कर लेगी तब यह सही मानों में व्यक्ति के विकास का साधन बनेगी। अगर पाठ-शाला के छात्र अपने आस-पास की गन्दगी को दूर करने में, वहाँ के मच्छरों को कम करने में, वहाँ की गन्दी नालियों को सफ़ा रखवाने में, वहाँ की जनता की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को हल करने में सहायक बनें और आस-पास के गाँवों के लोगों को समय-समय पर अपने यहाँ बुलाकर उन्हें अपनी समस्याओं का रूप

समझाने के लिए प्रेरित कर सकें, तो पाठशाला तथा समुदाय का एक-दूसरे से संपर्क स्थापित हो जाय, और वे एक-दूसरे से कटे रहने के बजाय एक-दूसरे से जुड़ जायं। छात्रों को जब इस प्रकार अपने चारों तरफ़ समुदाय की वास्तविक समस्याओं को हल करना होगा तब वे मिलकर काम करना, नियन्त्रण में रहना, एक-दूसरे की मदद करना, बड़ों के आधीन रहना, संगठन करना, दूसरों से काम लेना आदि सब-कुछ स्वयं सीख जायेंगे। इस समय साल में केवल एक बार पाठशाला के संचालकों तथा छात्रों के माता-पिता का संपर्क होता है, वह भी जब कभी वार्षिक उत्सव हो। इस अवस्था को बदल कर शिक्षकों तथा माता-पिता का, पाठशाला तथा समाज का लगातार का संबंध उत्पन्न करने की आवश्यकता है ताकि अपने को छात्र पाठशाला तथा घर में सदा समाज की समस्याओं को हल करता हुआ अनुभव करे।

(६) शिक्षकों का दृष्टिकोण बदलना (Reorientation of Teachers)—इस समय शिक्षकवर्ग यह समझता है कि और कोई धंधा नहीं तो आजीविका कमाने का यह निखिद धंधा ही सही। इस दृष्टिकोण को बदलना होगा। प्रत्येक शिक्षक को यह समझना होगा कि वह एक अद्वितीय समाज-सेवा का कार्य कर रहा है, इसी में उसका अपना विकास तथा उन्नति भी है। उन्हें मनोविज्ञान तथा शिक्षा-सम्बंधी साहित्य एवं शिक्षा-सम्बन्धी प्रगतिशील विचारों के सदा सम्पर्क में रहना होगा। विद्यार्थियों के साथ उनका प्रेममय, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक है। वे विद्यार्थियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को समझें और प्रत्येक विद्यार्थी भी अपनी भिन्न-भिन्न समस्याओं को समझे—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी।

जिस संस्था में अध्यापक रोब जमाने में लगे रहते हैं और विद्यार्थी सदा उनसे डरते रहते हैं वे संस्थायें प्रगति नहीं कर सकतीं। इस परिस्थिति में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की सदा टक्कर रहा करती है और दोनों अपना बुरे-से-बुरा रूप प्रकट किया करते हैं। अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच की दीवार टूट जानी चाहिए। अध्यापक का रोब उसके प्रेम, मेहनत और विद्यार्थियों के प्रति सदाशयता पर आश्रित होना चाहिए।

इस समय परीक्षा-प्रणाली को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रथा को बदलना होगा। विद्यार्थी पाठशाला तथा घर में जो काम करते हैं उसे अधिक महत्व देना होगा। विद्यार्थी के प्रतिदिन के कार्य का पूरा ब्यौरा रख कर उसके आधार पर उसे तरक्की देना ठीक होगा। यह भी देखना होगा कि पुस्तक-पाठ के स्थान में समाज-सेवा, नियन्त्रण, सहयोग, नेतृत्व आदि में वह कैसा है। पुस्तक-पाठ के साथ-साथ इन बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा और इनका भी वैसा ही ब्यौरा रखना होगा जैसा किताबों की पढ़ाई का। अध्यापकों में इस नवीन दृष्टिकोण के उत्पन्न हो जाने पर हमारी माध्यमिक-शिक्षा ठीक रास्ते पर चल पड़ेगी।

(७) पाठशाला की स्वतंत्रता (Freedom of School)—इस समय अध्यापक लोग यह शिकायत करते हैं कि मुख्याध्यापक उन्हें निश्चित नियमों में बाँधे रखते हैं, उन्हें अपने ढंग से किसी प्रकार का शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षण करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं है; मुख्याध्यापक लोग यह शिकायत करते हैं कि डिपार्टमेंट ने उन्हें लोहे की साँकल से बाँध रखा है, उन्हें ज़रा भी इधर-उधर होने की आज़ादी नहीं है। 'सेकेंडरी एज्यूकेशन कमीशन' का कहना है कि शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार

की कड़ाई की ज़रूरत नहीं है। शिक्षा-विभाग की तरफ़ से शिक्षा-संचालकों को अपने क्षेत्र में आज़ादी से चलने की छूट होनी चाहिए—इसमें कुछ ख़तरा अवश्य है, परन्तु इस ख़तरे को उठाना शिक्षा के हित में है। इसी से कई नवीन विचार उत्पन्न हो सकते हैं। जब तक शिक्षा-विभाग इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं देता तब तक भिन्न-भिन्न शिक्षणालय अपने-अपने क्षेत्र में कई स्वतन्त्र कार्य कर सकते हैं जिन पर किसी प्रकार का शिक्षा-विभाग प्रतिबन्ध नहीं लगाता। उदाहरणार्थ, ऊपर जो परामर्श दिए गए हैं उनमें से कई बिना किसी रोक-टोक के क्रिया में परिणत किये जा सकते हैं, उन्हें करने में क्या आपत्ति है ?

१९५४ में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने एक नवीन शिक्षा-योजना की घोषणा की। इसके अनुसार गाँव के प्रत्येक जूनियर हाईस्कूल के साथ १० एकड़ का एक फ़ार्म होगा जिसमें विद्यार्थियों को कृषि करना, पशु-पालन, ग्रामीण अर्थ-शास्त्र आदि की शिक्षा दी जायगी ताकि ८० प्रतिशत ग्रामीण आबादी तथा कृषि व्यवसाय के इस देश में बालक पढ़-लिखकर सीधा शहर का ही रास्ता न नापने लगें। इस नयी शिक्षा-योजना के आधीन १९५४ के आरम्भ में २,५०० स अधिक अध्यापक भर्ती किए गए। ट्रेनिंग पूरी कर लेने के बाद १ जुलाई १९५४ से उनकी नियुक्ति कर दी गयी।

प्रस्तावित-योजना के प्रारम्भिक खर्चों को पूरा करने के लिए राज्य सरकार का हाथ बंटाने के सम्बन्ध में मुख्य-मंत्री ने एक शिक्षा-सम्बन्धी कोष आरम्भ किया था जिसमें १२·२४ लाख रुपए से भी अधिक राशि जमा कर दी गई ताकि धनाभाव से परीक्षण असफल न हो।

ग्रामीण-क्षेत्र में लड़कों के जूनियर हाई स्कूलों की कुल संख्या

१९५४ में २,३३४ थी। इसके अलावा ४५२ हायर सेकेंडरी स्कूल भी ऐसे थे जिनमें जूनियर हाईस्कूल की परीक्षाएं थीं। इन सब स्कूलों में उक्त अध्यापकों की नियुक्ति की गई।

स्कूल से सम्बद्ध प्रत्येक फ़ार्म का प्रयोग एक प्रयोगशाला एवं कक्षा के रूप में किया जायगा। योजना के आधीन कृषि एक अनिवार्य पाठ्य-विषय रखा गया है और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को प्रतिदिन कम-से-कम २ घंटा खेती-वाड़ी के कार्य में देना होगा।

इन नये अध्यापकों में से ६०० से अधिक अध्यापक ग्रेजुएट थे और शेष अण्डर ग्रेजुएट। इनमें से जिनके पास पहले से ही कृषि-सम्बन्धी योग्यताएं थीं उन्हें शिक्षण-संबंधी ट्रेनिंग लेने के लिए नार्मल स्कूलों में भेज दिया गया और शेष को नैनीताल तराई क्षेत्र के रुद्रपुर, हल्दी तथा नागला के तीन शिविरों में कृषि तथा अन्य सहायक विषयों में ट्रेनिंग दी गयी थी।

ज़िला अधिकारियों को जारी किए गए एक पत्र में राज्य-सरकार ने शिक्षा की इस नयी योजना को सफल बनाने के महत्व पर ज़ोर दिया। इनके आधीन ये स्कूल एक सार्वजनिक केन्द्र के रूप में विकसित किए जायंगे। इसके लिए देहाती क्षेत्रों में लड़कों के जूनियर हाईस्कूलों के लिए भूमि प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। अपने बच्चों को शिक्षित बनाने की ग्रामीणों की उत्कट इच्छा को देखते हुए उत्तर प्रदेश की सरकार यह आशा करती है कि गाँवों में स्कूलों के फ़ार्मों के लिए ज़मीन प्राप्त करना सम्भव हो सकेगा। जहाँ एकजाई भू-खंड प्राप्त करने में कठिनाई प्रतीत हो वहाँ अलग-अलग टुकड़ों में भी जमीन लेकर उसकी चकवन्दी की जा सकेगी।

गाँव समाजों द्वारा ख़ाली भूमि को शिक्षा-संस्थाओं को

दे दिये जाने के सम्बन्ध में भी उत्तर प्रदेश की सरकार आवश्यक कार्यवाही करेगी। वनों के अलावा बेकार भूमि भी, जो वन-विभाग में निहित है, स्कूलों के फ़ार्मों के लिए पट्टे पर दी जा सकेगी।

शिकमी पर ज़मीन उठाने से सम्बन्धित नियम में भी संशोधन करने का एक प्रस्ताव है ताकि जो काश्तकार अपनी भूमि किसी शिक्षा-संस्था को शिकमी पर देना चाहे तो दे सके। वर्तमान अवस्था में भी ऐसी कोई रोक नहीं है जिससे कोई भूमिधर ऐसी संस्थाओं को अपनी भूमि भेंट न कर सके। उत्तर प्रदेश ज़मींदारी-विनाश और भूमि-व्यवस्था अधिनियम के आधीन इस प्रकार की जाने वाली भूमि के सम्बन्ध में जो ३० एकड़ की सीमा निर्धारित है वह उस भूमि के सम्बन्ध में लागू नहीं होती है जो किसी धर्मार्थ कार्य के लिए स्थापित किसी संस्था को भेंट की जाय।

नयी शिक्षा-योजना को कार्यान्वित करने के निमित्त उत्तर प्रदेश सरकार ने प्रत्येक ज़िले में एक ज़िला नियोजन उप-समिति स्थापित करने का आदेश दिया है। प्रस्तावित उप-समितियाँ ग्रामीण क्षेत्रों के जूनियर हाईस्कूलों के लिए भूमि प्राप्त करने और स्कूल फ़ार्मों को चलाने के बारे में आवश्यक सहायता तथा परामर्श प्रदान करने में सहयोग देंगी।

प्रत्येक नियोजन उपसमिति के सदस्य ज़िला मैजिस्ट्रैट (अध्यक्ष), ज़िला बोर्ड के अध्यक्ष (उपाध्यक्ष), ज़िला नियोजन समिति के तीन सरकारी सदस्य, जिनमें दो विधान मंडल के सदस्य होंगे, कृषि-अधिकारी, नियोजन-अधिकारी, स्कूलों के उप-निरीक्षक और स्कूलों के ज़िला निरीक्षक (सेक्रेटरी) होंगे।

३—विश्व-विद्यालय (University)

१८३५ में मैकाले ने लिखा था कि इस समय हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो शासकों तथा शासितों में दुभाषिये का काम कर सकें। ऐसे ही व्यक्ति पैदा करने में शिक्षा का सम्पूर्ण संगठन लगा हुआ था। १८५७ से पहले स्कूल और कालेज यह काम कर रहे थे, १८५७ में 'युनिवर्सिटी एक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई और उन्होंने मैकाले का कार्य शुरु कर दिया। पंजाब विश्व-विद्यालय १८८२ में, अलाहाबाद १८८७ में, बनारस तथा मैसूर १९१६ में, पटना १९१७ में, उस्मानिया १९१८ में, अलीगढ़ तथा तथा लखनऊ १९२१ में, ढाका १९२१ में, दिल्ली १९२२ में, नागपुर १९२३ में, आन्ध्र १९२६ में, आगरा १९२७ में, अनामल्ला १९२९ में, ट्रावनकोर १९३७ में, उत्कल १९४३ में, सागर १९४६ में, राजपूताना तथा पश्चिमी पंजाब १९४७ में, गोहाटी, जम्मू तथा काश्मीर एवं रुड़की तथा पूना १९४८ में, बड़ौदा १९४९ में, गुजरात तथा करनाटक १९५० में, विश्व-भारती तथा एस० एन० डी० टी० स्त्री-विश्व-विद्यालय १९५१ में एवं बिहार १९५२ में स्थापित हुईं। भारत के विभाजन के बाद ढाका और पंजाब पाकिस्तान में चले गये।

प्रारम्भ में विश्व विद्यालय का काम परीक्षा लेना तथा भिन्न-भिन्न कालेजों को अपने साथ सम्बन्धित करना था। धीरे-धीरे इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि केवल परीक्षा लेने वाली संस्था पढ़ाने-लिखाने के क्रियात्मक-क्षेत्र से सर्वथा कटी रहती है, अतः वास्तविकता से दूर रहती है। इस तथा अन्य दोषों को दूर करने के लिए १९०२ में 'यूनिवर्सिटी कमीशन'

नियुक्त किया गया जिसकी सिफ़ारिशों को क्रियान्वित करने के लिये १९०४ में 'इंडियन यूनिवर्सिटी एक्ट' पास किया गया जिसमें यह निश्चय किया गया कि विश्व-विद्यालयों का काम केवल परीक्षा लेना ही न होगा, वे पढ़ाने-लिखाने का भी काम करेंगे, अपने लेक्चरार, प्रोफ़ेसर रखेंगे, अपने पुस्तकालय तथा परीक्षण-शालाएं बनायेंगे। अब तक सीनेट के सदस्यों की संख्या निश्चित न थी, वे जन्म-भर सदस्य रह सकते थे, सब सरकारी आदमी होते थे। इस एक्ट के अनुसार संख्या निश्चित कर दी गई, और सदस्यता का समय ५ वर्ष कर दिया गया। सिन्डीकेट के सदस्यों को अब तक कोई वैधानिक अधिकार न था, उन्हें भी वैधानिक अधिकार दे दिया गया। अब तक विश्व-विद्यालय अपने आधीन कालेजों का निरीक्षण भी नहीं कर सकते थे, इस एक्ट के अनुसार उन्हें निरीक्षण का अधिकार भी दिया गया। यह सब-कुछ इसलिए किया गया क्योंकि अब तक यह समझा जाता था कि शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी का विश्व-विद्यालय में भर्ती हो जाना है इसीलिए तो विश्व-विद्यालयों के लिए शिक्षा के हर स्तर को देखना आवश्यक समझा गया। परन्तु अब दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। यह समझा जाने लगा है कि हर लड़के का विश्व-विद्यालय में आना ज़रूरी नहीं है, और इसी दृष्टि से माध्यमिक-शिक्षा पर विश्व-विद्यालय की देख-रेख रखने के बजाय उसे स्वतन्त्र बनाया जा रहा है।

१९१७ में भारत सरकार ने 'कलकत्ता युनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त किया, इसके अध्यक्ष के नाम पर इसका नाम 'सैडलर कमीशन' भी था। 'सैडलर कमीशन' ने अनेक सिफ़ारिशें कीं जिनमें से मुख्य यह थी कि इस समय यूनिवर्सिटी के ११-१२वीं के छात्रों की योग्यता स्कूल के विद्यार्थियों की-सी होती है,

अतः ये कक्षाएं कहने को तो युनिवर्सिटी की कक्षाएं हैं, परन्तु वास्तव में स्कूल की ही हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने सिफ़ारिश की कि इन दोनों को अलग-अलग करके 'इन्टरमीजियेट' कालेजों की युनिवर्सिटी से अलग स्थापना की जाय। 'युनिवर्सिटियों' पर जो अनावश्यक बोझ रहता है वह भी इससे कम हो जायगा, और वे अपना काम करने में स्वतन्त्र हो जायंगी। मैट्रिक तथा इन्टरमीजियेट की पाठविधि बनाने तथा परीक्षा लेने का कार्य 'यूनिवर्सिटी' को न करके 'बोर्ड ऑफ़ सैकन्डरी एण्ड इन्टरमीजियेट एज्यूकेशन' को करना चाहिए। यद्यपि यह कमीशन कलकत्ता यूनीवर्सिटी से संबंध रखता था तो भी 'सैडलर कमीशन' की इन सिफ़ारिशों को अनेक प्रान्तों ने अपना कर उसके अनुसार पृथक् बोर्डों का निर्माण कर 'यूनिवर्सिटियों' का बोझ हल्का कर दिया।

'यूनिवर्सिटियाँ' दो प्रकार की हैं। एक तो ऐसी जो एक ही जगह के विद्यार्थियों को पढ़ाने का प्रबन्ध करती हैं, इन्हें 'यूनीटरी' (Unitary) कहा जाता है; दूसरी वे जिनमें पढ़ाने का प्रबन्ध तो होता ही है परन्तु दूसरे कालेजों का भी उनके साथ सम्बन्ध होता है, इन्हें 'ऐफ़िलियेटिंग' (Affiliating) कहते हैं। अलीगढ़, अलाहाबाद, बनारस, ढाका, लखनऊ, दिल्ली, मैसूर, हैदराबाद, ट्रावनकोर के विश्व-विद्यालय 'यूनीटरी' हैं; आगरा, आन्ध्र, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, पटना, पंजाब, उत्कल तथा राजपूताना के विश्व विद्यालय 'एफ़िलियेटिंग' हैं।

विश्व-विद्यालयों में से स्नातक होने वालों की संख्या जिस-जिस विषय में जिस रफ्तार से बढ़ रही है उसका निम्न आँकड़ों से कुछ परिचय मिलेगा:—

विषय	१९४९--५०	१९५०--५१	१९५१--१९५२
आर्ट	१८,८००	२१,६००	२७,३००
सायन्स	९,५००	११,०००	११,२००
कृषि	१,२००	१,३००	१,२००
व्यापार	४,८००	५,६००	६,०००
शिक्षक	३,१००	४,०००	४,९००
टैक्नीकल	२,०००	२,४००	२,६००
कानून	२,९००	३,४००	४,०००
चिकित्सा	१,७००	१,६००	२,०००

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद से भारतीय सरकार 'विश्व-विद्यालयों' की समस्याओं को नवीन दृष्टिकोण से हल करने में लगी हुई है, और इसलिए १९४८ में सर राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक 'यूनिवर्सिटी कमीशन' बनाया गया। इसकी रिपोर्ट १९४९ में प्रकाशित हो गई थी परन्तु इसके अनुसार अभी अधिक कार्य नहीं हो पाया।

कमीशन की अनेक सिफ़ारिशों में से एक यह थी कि ब्रिटेन की 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमेटी' के अनुकरण में यहाँ भी एक 'यूनिवर्सिटी ग्रान्ट कमीशन' होना चाहिए जिसका काम विश्व-विद्यालयों की समस्याओं को देखते रहना तथा उनके अनुसार उन्हें सरकारी सहायता देते रहना चाहिए। ऐसा कमीशन बनाया जा चुका है जो अपना काम कर रहा है।

४---व्यावसायिक-शिक्षा (Professional Education)

१९०१ तक व्यावसायिक-शिक्षा का प्रायः अभाव-सा था। अंग्रेज़ों को अपना काम चलाने के लिए जो थोड़े-बहुत व्यक्ति चाहिए थे उन्हीं की व्यावसायिक-शिक्षा का प्रबन्ध था। लार्ड कर्ज़न द्वारा प्रस्तावित १९०४ की 'सरकार की शिक्षा-नीति' में

यह कहा गया था कि शिक्षा में क्रियात्मक विषयों का समावेश करने की आवश्यकता है। परिणाम यह हुआ कि कानून, चिकित्सा, व्यापार, कृषि आदि व्यवसायों की शिक्षा देने के कालेज खुलने लगे। प्रायः प्रत्येक विश्व-विद्यालय में कानून की शिक्षा दी जाने लगी, वकीलों की संख्या बढ़ने लगी। कई कालेजों में दिन को कालेज की पाठ-विधि चलती थी, सायंकाल कानून की श्रेणियाँ लगती थीं, विद्यार्थी बी० ए० की पढ़ाई करते-करते एल० एल० बी० की पढ़ाई भी कर लेते थे। चिकित्सा के भी नये-नये कालेज खुले। स्त्रियों ने भी डाक्टरी पढ़नी शुरू की, उनके लिए दिल्ली में लेडी हार्डिञ्ज कालेज खोला गया। विश्व-विद्यालयों ने व्यापार पढ़ाने के विभाग भी खोल दिये, माध्यमिक-शिक्षा में व्यापार को भी एक वैकल्पिक-विषय के रूप में रख दिया गया। पूना, कानपुर, शिवपुर, कलकत्ता, नागपुर तथा सैदापेट में कृषि की शिक्षा का प्रवन्ध १९ वीं शताब्दी में किया गया था। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पूसा (बिहार) में रिसर्च इन्स्टीट्यूट खोला गया जो बिहार के भूचाल के वाद दिल्ली में आ गया।

इस समय देश को सब से अधिक आवश्यकता शिक्षकों की है। अगर प्राथमिक-शिक्षा को अनिवार्य किया जाता है तो शिक्षकों की एक सेना-की-सेना तय्यार होना आवश्यक है। १९४७ में हिसाव लगाया गया था कि प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए २.८ मिलियन अध्यापकों की आवश्यकता थी जव कि हमारे पास प्राथमिक-शिक्षा का कार्य करने वाले कुल ५,६१,००० अध्यापक थे और इनमें से भी कुल ५८·२ ही ट्रेंड शिक्षक थे। १९४७-४८ में ट्रेनिंग स्कूलों में ३८,८९५ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, १९५२-५३ में इनकी संख्या वढ़कर

७१,४७७ हो गयी। इसी प्रकार ट्रेनिंग कालेजों में १९४७-४८ में ३२६२ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, १९५२-५३ में इनकी संख्या ७९३१ हो गई। परन्तु अभी देश को जितने ट्रेंड शिक्षकों की आवश्यकता है उसके लिहाज़ से यह संख्या बहुत कम है।

अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि 'व्यावसायिक शिक्षा' (Professional Education) की अपेक्षा भी 'औद्योगिक-शिक्षा' (Technical Education) की अधिक आवश्यकता है। देश की उन्नति कल-कारख़ानों से होनी है, उनके चलाने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को उत्पन्न करने से ही काम चलेगा, अतः शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान अब 'औद्योगिक-शिक्षा' (Technical or Industrial Education) की तरफ़ जाने लगा है।

५—औद्योगिक-शिक्षा (Technical Education)

अब तक हमारी शिक्षा बिल्कुल किताबी रही है, किताबी में भी अंग्रेज़ी पढ़ने-लिखने तक ही सीमित रही है। उद्योग की तरफ़ हमारा ध्यान बहुत कम गया है। सरकारी कामों के लिए जितने इंजीनियरों की आवश्यकता है उतनों को ही शिक्षा दी जाती रही। १८५६-१८५८ के बीच रुड़की पूना, मद्रास, तथा कलकत्ता में चार इंजीनियरिंग कालेज खुले। बहुत पीछे जाकर बनारस, लाहौर , कराची, पटना, बंगलौर, हैदराबाद तथा त्रिवेन्द्रम् में इंजीनीयरिंग कालेज खोले गये। १९११ में बैंगलोर में जे० एन० टाटा के दान से 'इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ सायन्स' खुला। अनेक विश्व-विद्यालयों में 'औद्योगिक रसायन-शाला' (Industrial Chemistry) की शिक्षा दी जाने लगी। रंग, साबुन, तेल, भिन्न-भिन्न खाद्य-पदार्थ तथा औषध-

निर्माण की शिक्षा के लिए अनेक विश्व-विद्यालयों ने प्रबन्ध किया। कानपुर में 'हार्टकोर्ट बटलर टैकनोलोजीकल इन्स्टीट्यूट' तथा 'इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट ऑफ़ शूगर टैकनोलोजी' खोले गये जिनमें तेल तथा शक्कर पर अन्वेषण का प्रबन्ध किया गया। १९५१ में खरगपुर में 'इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ़ टैकनोलोजी' की स्थापना हुई जो भारत का सब से बड़ा औद्योगिक विद्यालय कहा जा सकता है।

'उद्योग' (Industry) के सम्बन्ध में हमें तीन प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता है—(१) उद्योग को चलाने वाले प्रबन्धक, मैनेजर आदि (२) निरीक्षक—फ़ोरमैन आदि तथा (३) चतुर कारीगर—लेबरर आदि। इस समय जो कालेज आदि खुले हुए हैं वे 'प्रबन्धकों' को तो पर्याप्त संख्या में उत्पन्न कर रहे हैं, ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न कर रहे हैं जिन्हें 'उद्योग' के सम्बन्ध में बहुत ऊंची शिक्षा मिल रही है, परन्तु इतनी ऊंची शिक्षा का लाभ तो तभी है जब उद्योगों को चलाने वाले 'निरीक्षक' तथा 'चतुर कारीगर' भी हमारे पास हों। अतः बहुत ऊंची से कुछ नीची शिक्षा देने वाली, फ़ोरमैन आदि उत्पन्न करने वाली संस्थाओं की आवश्यकता है। ऐसी संस्थाएं भी देश में कई उत्पन्न हो गई हैं। बम्बई का 'विक्टोरिया जुबिली टैकनीकल इन्स्टीट्यूट', बड़ौदे का 'कला-भवन', कानपुर का 'गवर्नमेण्ट सेंन्ट्रल टैक्सटाइल इन्स्टीट्यूट एण्ड लेदर वर्किङ्ग स्कूल', बरेली का 'सेन्ट्रल वुड वर्किङ्ग इन्स्टीट्यूट', बैंगलौर का 'टैक्सटाइल इन्स्टीट्यूट'—इस प्रकार की शिक्षा दे रहे हैं। १९३७ में 'एबट-वुड-रिपोर्ट' में जिस प्रकार की संस्था खोलने का निर्देश किया गया है उन आदर्शों को लेकर दिल्ली में 'पोलीटेकनीक इन्स्टीट्यूट' खोला गया है जिसमें अनेक उद्योगों की एक-साथ

शिक्षा दी जाती है। देश को सबसे अधिक आवश्यकता चतुर श्रमियों की है। 'प्रबन्धक' और 'निरीक्षक' भी बेकार रहेंगे, अगर उन्हें उद्योगों को चलाने वाले 'चतुर-कारीगर' नहीं मिलेंगे। 'एबट-वुड रिपोर्ट' का मत है कि प्रायः समझा जाता है कि कारीगर अशिक्षित ही होने चाहिएं, परन्तु यह बात ग़लत है। अशिक्षित की अपेक्षा शिक्षित कारीगर अधिक अच्छा काम करता है। शिक्षित, चतुर कारीगरों को तैयार करने के लिए 'जुनियर वोकशनल स्कूल' तथा 'सीनियर वोकेशनल स्कूल' खोले जाने चाहिएं। जो बालक मिडिल पास कर आवें, वे 'जूनियर वोकेशनल स्कूल' में, और जो हाईस्कूल पास कर आवें, वे 'सीनियर वोकेशनल स्कूल' में भर्ती किये जायें। ये स्कूल उद्योगों के केन्द्रों में स्थापित होने चाहियें। इन स्कूलों का काम 'निरीक्षक' (फ़ोरमैन आदि) तथा 'चतुर-श्रमी' 'कुशल कारीगर' तय्यार करना होना चाहिए।

औद्योगिक-शिक्षा के विस्तार के लिए भारत की केन्द्रीय-सरकार की तरफ़ से शिक्षा-मंत्रालय के आधीन दो संगठन काम कर रहे हैं। एक का नाम 'कौन्सिल आॅफ़ साइन्टिफ़िक एण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च' (Council of Scientific and Industrial Research) है, दूसरे का नाम 'आॅल इण्डिया कौन्सिल फ़ौर टैकनीकल एजूकेशन' (All-India Council for Technical Education) है। इन दोनों की सिफ़ारिशों के अनुसार शिक्षा-विभाग ने दो बड़े-बड़े काम किये। एक तो 'कौन्सिल आॅफ़ साइन्टिफ़िक एण्ड रिसर्च' के आधीन ११ 'प्रयोगशालाओं' तथा 'गवेषण-संस्थाओं' (National Laboratories and Central Research Institutes) की देश में स्थापना की जिनमें वैज्ञानिकों को खुले तौर पर गवेषणाएं करने का अवसर प्राप्त होगा। दूसरा कम यह किया

कि औद्योगिक-शिक्षा देने वाली १५ संस्थाओं को १६.२ मिलियन अनावर्तनीय तथा २.५५ मिलियन आवर्तनीय सहायता दी जिससे इन संस्थाओं को उपकरण बढ़ाने में अवसर मिला। इन संस्थाओं को पुष्कल सहायता देने को परिणाम यह हुआ कि जहाँ १९४७ में इन शिक्षणालयों में ६,६०० विद्यार्थी शिक्षा पा रहे थे, वहाँ १९५३ में उनकी संख्या १२,७०० हो गई, और जहाँ १९४७ में इन संस्थाओं में से शिक्षा पाकर निकलने वाले विद्यार्थियों की संख्या २७०० थी वहाँ १९५३ में वह बढ़कर ६००० तक पहुँच गई।

'ऑल इन्डिया कौन्सिल फ़ौर टैक्नीकल एजूकेशन' ने पिछले दिनों एक 'टैक्नीकल मैन-पावर कमिटी' (Technical Man-Power Committee) का निर्माण किया जिसका उद्देश्य यह आँकना था कि भारत को औद्योगिक शिक्षा के कितने व्यक्तियों की १९४७-१९५७ तक आवश्यकता होगी? इस कमेटी की सिफ़ारिशों के आधार पर केन्द्रीय-शिक्षा-मन्त्रालय ने तीन कार्य किये। पहला तो यह था कि औद्योगिक-शिक्षा के लिए अधिक-से-अधिक विद्यार्थियों को अनुदान देकर उन्हें भिन्न-भिन्न कारखानों में ट्रेनिंग दी गई। १९४९ से १९५४ तक १५० रुपया प्रतिमास की ९२५ तथा ७५ रुपया प्रतिमास का ४४५ छात्रों को अनुदान दिया गया। दूसरा कार्य यह था कि विश्व-विद्यालयों में गवेषणा की भावना उत्पन्न करने के लिए १९४९ से १९५२ तक २०० रुपया प्रतिमास की १५० तथा १०० रुपया प्रतिमास की १९५ छात्रवृत्तियाँ दी गईं। १९५३-५४ में २०० रुपये प्रतिमास की ३१५ तथा १००रुपया प्रतिमास की २३८ छात्रवृत्तियाँ दी गईं। तीसरा कार्य यह था कि १९४९-५२ में २६ विश्व-विद्यालयों को ५.१ मिलियन की सहायता दी

गई जिससे उन्होंने अपने औद्योगिक उपकरणों को बढ़ाया।

अब तक हमारा किताबी शिक्षा की तरफ़ जितना ध्यान रहा है उतना ही अब औद्योगिक-शिक्षा की तरफ़ ध्यान देने की आवश्यकता है। यह आवश्यक नहीं कि औद्योगिक-शिक्षा बड़े पैमाने पर उद्योग चलाने की ही शिक्षा दे, अगर भारत की परिस्थिति को देखकर महात्मा गाँधी के दृष्टिकोण से छोटे पैमाने पर ही औद्योगिक-शिक्षा देने की आवश्यकता हो, तो वही दे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान अब किताबी-शिक्षा से हटकर क्रियात्मक-शिक्षा की तरफ़ जा रहा है।

प्रश्न

१. प्राथमिक-शिक्षा को अंग्रेजों के समय से अब तक किन-किन हालतों में से गुज़रना पड़ा है और अब यह किस हालत में है ?
२. माध्यमिक-शिक्षा के सम्बन्ध में श्री मुदालियार की अध्यक्षता में जो कमीशन बना था उसने माध्यमिक-शिक्षणालय की जो कल्पना की है उसकी कुछ मुख्य-मुख्य बातें लिखिये।
३. व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के विस्तार के लिये भारत सरकार क्या कर रही है ?

३४

प्रौढ़-शिक्षा

(ADULT EDUCATION)

पिछले अध्याय में हमने 'प्रौढ़-शिक्षा' अर्थात् 'सामाजिक-शिक्षा' तथा 'स्त्री-शिक्षा' पर कुछ नहीं लिखा। इन दोनों विषयों पर इस अध्याय में लिख कर हम इस पुस्तक को समाप्त करेंगे।

१——प्रौढ़ अथवा सामाजिक-शिक्षा (Adult or Social Education)

छोटे बच्चों को शिक्षा देना प्रारम्भ करके उन्हें 'माध्यमिक' तथा 'उच्च-शिक्षा' देने के अतिरिक्त कई देशों ने निरक्षरता को दूर करने के लिए प्रौढ़ व्यक्तियों की शिक्षा देने के परीक्षण शुरु किये हैं। १८वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में, १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अमरीका में 'प्रौढ़-शिक्षा' के प्रयत्न शुरु हुए। डेनमार्क तथा स्विटज़रलैंड ने भी इन परीक्षणों को किया। रूस में तो यह परीक्षण बड़े उत्साह से किया गया। चीन, ईरान तथा टर्की ने भी प्रौढ़ व्यक्तियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के सराहनीय प्रयत्न किये। भारत में जब चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में राज-सत्ता चली गई तब अनेक प्रान्तों ने 'प्रौढ़-शिक्षा' का आन्दोलन खड़ा किया। १९३७ में मोगा में 'प्रौढ़-शिक्षा-सम्मेलन' बुलाया गया जिसमें अमरीका के डा० लाबेक ने अपने फ़िलीपाइन के परीक्षण के आधार पर यहां भी आन्दोलन खड़ा करने का प्रतिनिधियों को उत्साह दिया।

इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप 'इंडियन एडल्ट एज्यूकेशन एसोसियेशन' की स्थापना हुई जिसने १९३९ में 'इंडियन जनरल ऑफ़ एडल्ट एज्यूकेशन'-नामक द्विमासिक पत्र दिल्ली से प्रकाशित करना आरम्भ किया। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'हर पढ़ा एक और पढ़ाये' (Each one teach one) का आन्दोलन ज़ोर-शोर से जारी किया गया। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि पढ़े-लिखों की संख्या जो ८ प्रतिशत थी, बढ़कर १२ प्रतिशत हो गई। १९३८-३९ में सब प्रान्तों में मिलकर ४७३३ 'प्रौढ़-स्कूल' खुल गये जिनमें १,४४,९८३ प्रौढ़ शिक्षा पा रहे थे। भारत जैसे देश में जहाँ निरक्षरों की संख्या बहुत अधिक है, 'प्रौढ़-शिक्षा' के आन्दोलन से ही शीघ्र-से-शीघ्र निरक्षरता को साक्षरता में परिणत किया जा सकता है। इस कार्य में जहाँ निःस्वार्थ सेवा करने वाली संस्थायें सरकार का हाथ बटा सकती हैं वहाँ 'विश्व-विद्यालयों' के छात्र अपने दीर्घावकाश में गाँव-गाँव में साक्षरता का प्रचार कर बहुत बड़ा काम कर सकते हैं। इस आन्दोलन से प्राप्त अनुभव के आधार पर अब 'प्रौढ़-शिक्षा' (Adult Education) के आन्दोलन को 'सामाजिक-शिक्षा' (Social Education) का रूप दिया जा रहा है क्योंकि प्रौढ़-व्यक्तियों को केवल अक्षर सिखा देना काफ़ी नहीं है, अक्षराभ्यास के साथ-साथ उन्हें नागरिकता की अन्य बातें भी सिखाई जा सकती हैं, जिनसे प्रत्येक निरक्षर प्रौढ़-व्यक्ति अक्षर सीखने के साथ ही समाज का एक उत्तम अङ्ग भी बन सके।

भारत में जब पहले-पहल शासनाधिकार अपने लोगों के हाथ में आया था, तब १९३७ में साक्षरता आन्दोलन बड़े ज़ोर-शोर से चला था। इस बीच में द्वितीय विश्व-युद्ध के आ पड़ने के कारण

इस आन्दोलन की प्रगति रुक गई। इसके बाद १९४६-४७ में यह आन्दोलन फिर से शुरू हुआ, परन्तु इतने अर्से में इस आन्दोलन का रूप वदल चुका था। देहातियों की अक्षर पढ़ने तक में रुचि देर तक नहीं बनी रहती अतः यह माँग पैदा हुई कि उन्हें सिर्फ़ अक्षराभ्यास ही न सिखाया जाय, इसके साथ-साथ उनकी अन्य आवश्यकताओं को भी पूरा किया जाय। १९४८ में इस आन्दोलन में ५ बातों का समावेश किया गया। पहली बात तो अक्षराभ्यास थी ही, दूसरी थी स्वास्थ्य के नियमों की जानकारी, तीसरी थी प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक-स्थिति के सुधार का प्रयत्न, चौथी थी प्रत्येक व्यक्ति को नागरिकता के अधिकारों की जानकारी देना, और पाँचवीं थी उनके लिए मनोरंजन के साधनों का उपस्थित करना। इस प्रकार के पंच-सूत्री प्रोग्राम के कारण 'प्रौढ़-शिक्षा' ने 'सामाजिक शिक्षा' का रूप धारण कर लिया है।

'प्रौढ़-शिक्षा' अथवा 'सामाजिक-शिक्षा' का कार्य-क्रम भारत सरकार की देख-रेख में दिल्ली राज्य में वहुत अच्छी तरह चल रहा है। दिल्ली राज्य में ३०५ गाँव हैं, ४८४ वर्गमील क्षेत्र है, और अशिक्षित व्यक्तियों की संख्या काफ़ी है। पहले-पहल चार जीप गाड़ियों का काफ़िला गाँव में जाता है। एक गाड़ी पर स्टेज होती है, दूसरी में लाइब्रेरी होती है, तीसरी में कुछ प्रदर्शनी की वस्तुएं होती हैं, चौथी में शिक्षा-फ़िल्म होती है। ये किसी केन्द्रीय गाँव में जाकर वहाँ एक मेला-सा लगा देते हैं। खेल-तमाशे होने लगते हैं, लोग यह-सब देखने के लिए दूर-दूर से आने लगते हैं। इन लोगों का काम स्थानीय व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना तथा शिक्षा-सम्बन्धी बातों के लिए गाँव वालों में दिलचस्पी पैदा कर देना है। लोगों में स्थानीय

समस्याओं के सम्बन्ध में काफ़ी दिलचस्पी पैदा हो जाने के बाद ये काफ़िला आगे निकल जाता है, और २०-३० शिक्षक आकर ४ या ६ सप्ताह तक यहाँ आकर 'प्रौढ़-शिक्षा' का कार्य शुरु कर देते हैं। ये २०-३० शिक्षक जब अपना काम समाप्त कर देते हैं, तो स्थानीय शिक्षक उनका काम जारी रखते हैं और जीप गाड़ियों का काफ़िला और प्रौढ़-शिक्षा के लिए नियुक्त २०-३० शिक्षक आगे-आगे भिन्न-भिन्न गाँवों में अपना कार्य करते जाते हैं। इस प्रकार दिल्ली राज्य में १९५६ तक ४० वर्ष की आयु के ५० प्रतिशत व्यक्तियों को शिक्षित कर देने का प्रोग्राम बनाया गया है। केन्द्र की तरफ़ से दिल्ली राज्य में जो कार्य हो रहा है वैसा ही कार्य अन्य प्रान्तों की सरकारें अपने कुछ-कुछ क्षेत्र चुन कर कर सकती हैं।

केन्द्रीय सरकार की तरफ़ से इन नव-शिक्षितों में बाँटने के लिए, इनकी योग्यता को सामने रखते हुए कुछ साहित्य का भी निर्माण हो रहा है। पिछले दिनों इस प्रकार की छोटी-छोटी २० पुस्तिकाओं पर पारितोषिक भी केन्द्रीय सरकार की तरफ़ से दिये गये थे।

२—स्त्री-शिक्षा (Women's Education)

लार्ड कर्ज़न ने १९०४ में 'भारतीय-शिक्षा-नीति' का प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें कहा गया कि भारत में स्त्री-शिक्षा की प्रगति सन्तोष-जनक नहीं है। यह भी कहा गया कि सरकार कई आदर्श कन्या-पाठशालाएं खोलेगी, कन्याओं की शिक्षा पर पहले से अधिक खर्च करेगी, अध्यापिकाएं ट्रेन करेंगी और स्त्री-शिक्षा को बढ़ाने के लिए निरीक्षिकाओं की संख्या बढ़ा देगी। १९१३ में भारत सरकार ने शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ और प्रस्ताव स्वीकृत किये जिनमें फिर कहा गया कि स्त्री-

शिक्षा की गति बहुत धीमी है। यह भी कहा गया कि कन्याओं की पाठविधि बालकों से पृथक् उनकी आवश्यकता को देखकर बनाई जानी चाहिए, यह बालकों की पाठविधि की नकल नहीं होनी चाहिए, न परीक्षा पर ही इतना अधिक बल देना चाहिए। १९२९ में 'हारटौग कमेटी' ने लिखा कि यद्यपि इस बीच में स्त्री-शिक्षा का काफ़ी प्रचार हुआ है, फिर भी लड़कों तथा लड़कियों में अभी तक प्रतिशत की दृष्टि से शिक्षा में बहुत अन्तर है। इस कमेटी ने यह भी सिफ़ारिश की कि धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा को 'अनिवार्य' बना देना ठीक होगा।

वैसे तो अत्यन्त प्राचीन काल में भारत में स्त्री-पुरुष की शिक्षा में कोई भेद न था, तो भी देर से यहाँ स्त्रियों की शिक्षा की तरफ़ बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जा रहा था। सरकार की तरफ़ से जो थोड़ा-बहुत प्रयत्न हो रहा था उसमें माता-पिता का सहयोग नहीं था। हाँ, महात्मा गाँधी ने जब से भारत की राजनीति को अपने हाथ में लिया तब से स्त्री-शिक्षा के प्रति जनता का दृष्टिकोण बदल गया। महात्मा ने भारत की स्त्री-जाति को चुनौती दी, और देश की स्वतन्त्रता में हाथ बंटाने को ललकारा। परिणाम यह हुआ कि स्त्रियाँ पर्दा फेंक कर मैदान में आ गईं, एक सिरे से दूसरे सिरे तक स्त्रियों में जागृति-ही-जागृति दिखाई देने लगी। इस जागृति का स्त्री-शिक्षा पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। जहाँ १९१७ में ६०५ लड़कियों ने मैट्रिक पास किया, ५६ ग्रेजुएट बनीं, वहाँ १९३७ में ५०८३ ने मैट्रिक पास की, और ९८२ ग्रेजुएट बनीं। फिर भी पिछली जन-गणना के अनुसार २·६१ प्रतिशत स्त्रियाँ ही शिक्षिता थीं। इसका पहला कारण तो यह है कि स्त्री-शिक्षा पर अभी उतना व्यय नहीं किया जा रहा है जितना करना

चाहिए। १९४५ में शिक्षा पर हम जितना व्यय कर रहे थे उसका कुल १६.५ प्रतिशत कन्याओं की शिक्षा पर व्यय हो रहा था। दूसरा कारण यह है कि लड़कों तथा लड़कियों की एक ही ढंग की शिक्षा चल रही है। यह आवश्यक है कि लड़कियों की शिक्षा लड़कों की नकल ही न हो, अपितु लड़कियों की विशेष आवश्यकता को देखते हुए उनके लिए नवीन पाठविधि का निर्माण किया जाय।

१९४७ से १९५४ तक स्वराज्य प्राप्ति के सात वर्षों में भारतीय सरकार ने स्त्री-शिक्षा पर पर्याप्त ध्यान दिया है। १९४७-४८ में स्त्रियों के शिक्षणालय १६९५१ थे जो १९५२-५३ में २१६१७ हो गये। १९४७-४८ में ३५५०५०३ कन्याएं शिक्षा ग्रहण कर रही थीं, जिनकी संख्या १९५२-५३ में बढ़कर ६६३३२३४ हो गईं। स्त्रियों की शिक्षा पर ४७-४८ में ७६५६६३०० रुपया खर्च हो रहा था जो ५२-५३ में १४४०४५०३४ हो गया, अर्थात् लगभग दुगुना हो गया।

प्रश्न

१. प्रौढ़-शिक्षा आन्दोलन क्या है ?
२. स्त्री-शिक्षा की भारत में क्या प्रगति रही और अब इसकी क्या रफ्तार है ?

अशुद्धि-पत्र

पुस्तक में निम्न अशुद्धियों को पाठक ठीक करके पुस्तक को पढ़ें:--

पृष्ठ-संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११३	५	सरक्षित	सुरक्षित
१९५	१९	मानसिक-स्थिरता	भाव-स्थिरता
२२५	१०, ११, १४, १५	इनमैल	इनैमल
२३२	३	वै ने	बैठने
२३२	२५	चाक के	चाक से
२३६	१६	Astigmatism Ratina	Astigmatism
२७२	१७	ककय	कैकेय